तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति

डा० धर्मपाल

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति

डा० धर्मपाल

पुस्तक परिचय

'तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति' ग्रंथ की योजना सुव्यवस्थित और प्रतिपाद्य विषय वस्तु के अनुकूल है। तुलसीदास मध्ययुग के कीर्तिपुरुष हैं। वे काव्यसृष्टा और जीवन दृष्टा हैं। उनकी प्रतिभा समग्र भारतीय ऋषिचेतना और जन व्यापिनी रागात्मक प्रकृति के प्रभाव को आत्मसात किए हैं। उनके गौरव-ग्रंथ हिन्दी साहित्य के महार्ह रत्न हैं। उनके काव्य में सौंदर्य और मंगल का, प्रेय और श्रेय का, कवित्व और दर्शन का असाधरण सामंजस्य प्राप्य है। उन्होंने अपने काव्य का विषय उदात्त रामभक्ति चुना। राम हमारे जीवन के कण-कण में व्याप्त हैं। इस उदात्त विषय का उदात्त एवं प्रभावोत्पादक वर्णन तुलसी ने किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में डा० धर्मपाल आर्य ने तुलसी के ब्रजभाषा साहित्य को आधार बनाकर उनके काव्य का शास्त्रीय अनुशीलन किया है। यह ग्रंथ उनके रचनात्मक अध्यवसाय, उनकी मौलिक अनुसंधान दृष्टि तथा कार्यशीलता का सफल परिचय देता है।

भारतीय साहित्य और साधना के इतिहास में तुलसीदास के प्रासंगिक एवं शाश्वत योगदान का मूल्यांकन इस ग्रंथ में उपलब्ध है।

लेखक परिचय

नाम	डा० धर्मपाल आर्य
जन्म	19 मार्च 1942
शिक्षा	एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (अंग्रेजी) पी. एच. डी. (दिल्ली विश्वविद्यालय)
रुचि	साहित्यिक लेखन, पठन-पाठन के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों में अभिरुचि।
लेखन	प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख, समीक्षाएं। आकाशवाणी और दूरदर्शन पर अनेक वार्ता, परिचर्चा आदि प्रसारित
प्रकाशन	दिनकर का वीरकाव्य, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली
सम्प्रति	जाकिर हुसैन स्नातकोत्तर सांध्य कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में चयनित वेतनमान में वरिष्ठ प्राध्यापक। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट तथा विद्या परिषद के सदस्य।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति

डॉ० धर्मपाल
एम० ए० पी० एच० डी०
प्राध्यापक-हिन्दी विभाग
जाकिर हुसैन कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निर्माण प्रकाशन
19/ए, रामनगर, लोनी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32
(के. एल. राठी मिल के सामने)

ISBN 81-85184-14-3

प्रकाशक :
विनोद कुमार शर्मा
निर्माण प्रकाशन
19/ए, रामनगर, लोनी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32
शाखा : डी-5 इन्द्रापुरी एक्स० लोनी, 132 डी० एल० रोड, देहरादून.
प्रथम संस्करण : 1989
मूल्य : 200.00
मुद्रक : रायल प्रिंटर्स
बलबीर नगर, शाहदरा दिल्ली-32

माता-पिता को सादर

—डॉ० धर्मपाल

प्रावकथन

गोस्वामी तुलसीदास भक्तिकाल की रामभक्ति शाखा के प्रवर्तक कवि के रूप में स्थान हैं। वे मध्ययुग के कीर्ति पुरुष हैं। निर्बिवाद रूप से भारतीय ही नहीं, अपितु विश्वसाहित्य के एक अनुपम कवि हैं। उनके महत्व के कारण शताधिक हैं, परन्तु प्रमुखतः उनके काव्य द्वारा प्रक्षेपित विचार, भाव एवं रमणीयता का वह माधुर्य सर्वोपम है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य-रसिकों के लिए भी वे उतने ही महत्त्ववान हैं, जितने कि किसी रामभक्त के लिए। स्पष्ट है कि तुलसी ने अपने काव्य में वर्णित भाषा के बहुआयामी गुण द्वारा जहां एक ओर भक्तों को विमोहित किया है एवं उनके विश्वासों के अनुरूप काव्योचित को मात्रिक क्षमता से परिपुष्ट किया है, वहीं काव्य-रसिकों के लिए अनन्त काव्यगुण सम्पन्न संरचना प्रस्तुत की है।

तुलसी का काव्य भारतीय लोक-भाषाओं का समृद्धत काव्य है। उन्होंने समान रूप से ब्रज एवं अपनी भाषाओं में काव्य-रचनाएं प्रस्तुत की है एवं विलण-क्षमता यह है कि दोनों भाषाओं में उनकी रचनाएं आज मानक के रूप में स्थापित हैं। उनकी रचनाओं की मात्रात्मकता और सृजन की गुणात्मकता की आपस में तुलना नहीं की जा सकती है। निर्विवाद रूप से तुलसी की ख्याति का आधार स्तम्भ रामचरित मानस है। इसके विश्वभाषाओं में हुए असंख्य अनुवाद आज भी विदेशी विद्वानों के शोध का आधार बने हुए हैं। तुलसी का ब्रजभाषा काव्य भी काव्य सौंदर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। तुलसी और उनके काव्य पर अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया गया है पर उनके ब्रजभाषा काव्य पर उक्ति-वैचित्र्य की

दृष्टि से कोई कार्य नहीं हुआ है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तुलसी के ब्रजभाषा काव्य के वाग्वेदग्ध्य पर विचार किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध दो खण्डों में विभक्त है । पहले खण्ड में तीन अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में वक्रोक्ति के स्वरूप और विकास को स्पष्ट किया गया है । वक्रोक्ति से अभिप्राय है, वक्र उक्ति, बांका कथन, टेढ़ी उक्ति । उक्ति की वक्रता किसी बात का अलौकिक रूप से कथन करने में निहित है । विभिन्न आचार्यों द्वारा वक्रोक्ति के विषय में दिए गये विचारों की समीक्षा करते हुए कुन्तक के वक्रोक्ति संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया गया है । इसके साथ ही भारतीय संस्कृत एवं हिन्दी काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति के विकास पर विचार किया गया है ।

दूसरे अध्याय में काव्य में वक्रोक्ति के महत्त्व पर विचार करते हुए, 'काव्य का प्रयोजन,' 'काव्य का स्वरूप,' 'काव्यहेतु,' 'काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली,' 'काव्य में कवि का कर्तृत्व,' 'प्रतिभा' तथा वक्रोक्ति की परिभाषा आदि का विवेचन किया गया है । यहीं पर वक्रोक्ति के भेदों-प्रभेदों को भी वर्गीकृत किया गया है ।

तीसरे अध्याय में भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों के साथ वक्रोक्ति का तुलनात्मक अध्याय प्रस्तुत किया है और साथ में कुछ पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों का भी इसी काव्यतत्व में निरूपण किया गया हैं । निष्कर्ष रूप में काव्य के अन्तर्गत वक्रोक्ति का महत्त्व किया गया है ।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति के उपजीव्य तत्वों को खोज निकालने का प्रयास किया गया है । प्रथम अध्याय में तुलसी के ब्रजभाषा काव्य का परिचय दिया गया है । दूसरा अध्याय वर्ण-विन्यास वक्रता के सभी प्रभेदों की खोज की गई है । तुलसीदास वर्ण सौंदर्य की विच्छित्ति से पूर्णतया परिचित थे वर्णसौंदर्य की समस्त संभावनाओं को निचोड़ कर उन्होंने अपने काव्य की श्री वृद्धि की ।

तीसरे अध्याय में पद पूर्वार्ध वक्रता के दस भेदों—रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, पर्यायवक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति वक्रता, और क्रिया वैचित्र्य वक्रता के शब्दगत एवं अर्थगत सौंदर्य को तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में उद्घाटित किया गया है ।

चौथे अध्याय में काल, कारक, वचन, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय, उपसर्ग और निपात आदि वक्रताओं का तुलसी के काव्य में अनुसंधान किया गया है । वस्तुतः

व्याकरणिक कोटियां हैं परन्तु कुन्तक की सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि ने इन्हें काव्यत्मक कोटियों में रूपान्तरित करके पदपरार्ध वक्रता नाम से अभिहित किया है। तुलसी की नेसर्गिक प्रतिभा पदपरार्ध का विशिष्ट अर्थव्यंजक प्रयोग करने में सफल हुई है।

पांचवें अध्याय में तुलसी के ब्रजभाषा काव्य का वस्तुवक्रतागत अध्ययन किया गया है। इसमें वस्तु के दो प्रमुख रूपों सहजा और आहार्या के साथ-साथ वस्तु के अन्य चेतन और अचेतन, प्रधान और प्रधान एवं नैतिक रूपों का विवेचन किया गया है। तुलसी की कवि-दृष्टि का विस्तार मानव जगत और मानवेतर जीवजगत् को एक सूत्र में आवद्ध देखता है।

छठे अध्याय में तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में प्रकरण वक्रता का अनुसंधान किया गया है। प्रकरण-वक्रता के सभी प्रभेद-भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, उत्पाद्य लावण्य, प्रकरणों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव, विशिष्ट प्रकरणों की अतिरंजना, रोचक प्रसंगों की अवतारणा, अंगिरस विष्यन्द निकष अवान्तर वस्तु-योजना, प्रकरणान्तर की योजना तथा संधि विनिवेश की तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में सम्यक स्थान प्राप्त है। प्रकरण विशेष का सौंदर्य सम्पुर्ण प्रबंध को संगठन, शक्ति और दीप्ति प्रदान करता है।

सातवें अध्याय में तुलसी के ब्रजभाषाकाव्य में प्राप्य प्रबन्धतत्व की समीक्षा की गई है। यहां पर भी कुन्तक प्रणीत प्रबन्ध वक्रता के विभिन्न प्रभेदों-प्रबन्ध-वक्रता, समापन वक्रता, कथाविच्छेदवक्रता, आनुषगिक-वक्रता, नामकरण वक्रता, रस-परिवर्तन तुल्य कथा वक्रता आदि का अनुंसधान किया गया है।

अन्त में उपसंहार रूप में तुलसी के काव्य के उदाहरण देकर वक्रोक्ति संबंधी अवधारणाओं पर समीक्षात्मक दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है तथा इस शोध-प्रबंध का सारांश दिया गया है।

प्रस्तुत शोध की मुख्य प्रेरणा तुलसी काव्य को नये आयाम से विवेचित करने का लक्ष्य रहा है। यद्यपि तुलसी का काव्य अनेक अध्ययनों का विषय बना है, भिन्न रूपों में उसका विवेचन एवं आकलन किया गया है तथापि अभी तक कहीं संयोजित रूप से वक्रोक्ति की दृष्टि से उसका अध्ययन नहीं हुआ है। शोधार्थी के रूप में तुलसी के ब्रजभाषा काव्य के 'वक्र-अर्थ' का विवेचन करने का यह मेरा विनम्र प्रयास है आशा है सुधीजनों का साधवाद इसे प्राप्त होगा।

सर्वप्रथम में तत्तकालीन विभागाध्यक्ष डा० विजयेन्द्र स्नातक का धन्यवाद करता हूं जिन्होंने मुझे मेरी रुचि के अनुकूल यह विषय देकर, तुलसी पर कार्य करने की प्रेरणा दी थी यह शोधग्रथ डा० निर्मला जैन के अध्यक्षताकाल में प्रस्तुत किया गया। उनका समय-समय पर सहयोग, सद्भाव, प्रेरणा एवं निर्देशन मिलता रहा है—मैं उनके प्रति आभारी हूं। वक्रोक्ति के सैद्धान्तिक विवेचन में डा० नगेन्द्र का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा है। मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता हूं। मैं उन सभी विद्वानों का भी आभारी हूं जिनके ग्रंथों के अध्ययन का लाभ मैंने इस शोध-प्रबन्ध को लिखने में उठाया है। अपने निर्देशक डा० महेन्द्र कुमार का मैं बहुत धन्यवाद करता हूं जिन्होंने समय समय पर सत्परामर्श देकर इस कार्य को पूरा करने में मेरी सहायता की।

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन 11

प्रथम अध्याय : वक्रोक्ति : मूल प्रपत्ति एवं ऐतिहासिक परिदृष्टि 17-37
वक्रोक्ति से अभिप्राय 17
वक्रोक्ति का विकास—भारतीय काव्वशास्त्र (संस्कृत) 19
भारतीय काव्यशास्त्र (हिन्दी), पाचाश्त्य काव्यशास्त्र 34

द्वितीय अध्याय : वक्रोक्ति सिद्धान्त में काव्य का स्वरूप 38-84
काव्य का प्रयोचन 41, काव्यहेतु 46, काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली 48, काव्य में कबि का कर्तृत्व 49, प्रतिभा 50, वक्रोक्ति वर्गीकरण, 54

तृतीय अध्याय : वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-सिद्धान्त 85-126
वक्रोक्ति और रस 85, वक्रोक्ति और अलंकार 88, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति 91, और रीति 95, वक्रोक्ति और ध्वनि 98, वक्रोक्ति और लक्षणा 104, वक्रोक्ति और औचित्य 108।
पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त 111, वक्रता और औदात्य 113, वक्रोक्ति और अभिव्यंजना 119, वक्रोक्ति और आधुनिक अंग्रेजी आलोचना 121।
वक्रोक्ति सिद्धान्त का मूल्यांकन, 123

चतुर्थ अध्याय : तुलसी का ब्रजभाषा-काव्य 127-131

पंचम अध्याय : वर्णविन्यास-वक्रता 132-156

पद-पूर्वार्ध-वक्रता 157-197
रूढ़िवैचित्र्य वक्रता 157, पर्याय वक्रता, 150, विशेषण-वक्रता 157, आगम-वक्रता 176, वृति

वक्रता 179, भाव-वैचित्र्य, 184, लिंग वक्रता 186, क्रिया-वैचित्र्य वक्रता 191।

षष्ठ अध्याय : पद परार्ध वक्रता 198-233
काल वैचित्र्य बक्रता 198, कारक वक्रता 203, वचन वक्रता 206, पुरुष वक्रता 209, उपग्रह वक्रता 213, प्रयत्न वक्रता 216, उपसर्ग वक्रता 220, निपात वक्रता।

सप्तम अध्याय : वस्तु वक्रता 234-280
सहजा वस्तु वक्रता, आहार्या वस्तुत वक्रता, प्रधान चेतन पात्र—देव, मनुष्यादि, अप्रधान चेतन पात्र—पशुपक्षीं, अचेतन पदार्थ—आलंबन एवं उद्दीपन रूप में प्रवृत्ति, नैतिक व्यापार

अष्ठम अध्याय : प्रकरण वक्रता 297-360
भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, उत्पाद्य लावण्य, प्रकरणों का अनुग्राह्य—अनुग्राहक भाव, विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना रोचक प्रकरणों की अवतारणा अंगिरस निष्पन्द निकष; अवान्तर वस्तु योजना, प्रकरणान्तर की योजना, संधि-विनिवेश।

नवम अध्याय : प्रबन्ध वक्रता 361-371
प्रबंध रस परिवर्तन वक्रता, समापन वक्रता, क्या-विच्छेद वक्रता, आनुषंगिक फल-वक्रता, नामकरण वक्रता, तुल्य कथा वक्रता।

उपसंहार 473-273

परिशिष्ट : सहायक ग्रन्थ तालिका 375

1

वक्रोक्ति : मूल प्रपत्ति एवं ऐतिहासिक परिदृष्टि

1. वक्रोक्ति से अभिप्राय

वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ 'कथन की वक्रता' से संबंधित है—वक्र उक्ति अर्थात् बांका कथन या टेढ़ी उक्ति। उक्ति की वक्रता से तात्पर्य है कथन में 'असाधारण' की उपस्थिति प्रस्तुत करना। किसी बात को अलौकिक रूप से प्रस्तुत करना, इसी के अन्तर्गत आता है। सामान्य रूप से किसी भी बात या वार्ता या कथन को प्रस्तुत करने की दो पद्धतियां हैं—एक है सामान्य दृश्यार्थ प्रस्तुत करना, जैसे 'तालाब में सुन्दर कमल खिले हैं तथा दूसरी पद्धति है, 'उक्ति को अभिनव रूप में प्रस्तुत करना यथा 'किसी अनन्य सुन्दरी के मुख की समता पाने के लिए कमल जल में एक पैर पर खड़ा होकर तपस्या कर रहा है।" यहां पहला कथन सामान्य स्वभाव कथन है और दूसरा वक्रोक्ति। वामन शिवराम आप्टे ने वक्रोक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है :

वक्रोक्ति (अ) एक अलंकार का नाम जिसमें टालमटोल करने वाली बात या तो श्लेषपूर्ण ढंग से कही जाती है या स्वर बदल कर। मम्मट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते, श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा' (का० प्र० : 9.78) (ब) वाक्छल, कटाक्ष, व्यंग्य। (स) कटूक्ति, ताना।[1]

वक्रोक्ति की आधुनिक व्याख्याओं में सर्वप्रथम उसके अर्थ प्रारूपण पर विचार किया गया है। हिन्दी साहित्य कोश में वक्रोक्ति का अर्थ इस प्रकार दिया है:

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे (द्वि० सं० 1969) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना

वक्रोक्ति (शब्दालंकार)—यह वक्रोक्ति की संकुचित सीमा है। भामह ने कहा है कि नितान्त आदि शब्दों से शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी सौष्ठव नहीं हो जाती, वक्र, शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी का काव्य अलंकार है। रुद्रट और मम्मट ने भी इसे शब्दालंकार ही माना है (मम्मट की परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है)। वक्रोक्ति के दो भेद किये गये हैं—श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति।

वक्रोक्ति (अर्थालंकार)—अर्थ है वक्र उक्ति, वाणी के विलक्षण व्यापार को वक्रोक्ति माना गया है। भामह ने समस्त अलंकारों को वक्रोक्ति मूलक माना है। कुन्तक ने इसे विशिष्ट अर्थ में ग्रहण किया है। परन्तु वामन ने 'वक्रोक्ति' को उपमाप्रपंच के अन्तर्गत अलंकार माना है—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (काव्या० सू० वृ० 4 : 3 : 8) इनके अनुसार जैसे रूपक आदि में गौण अर्थ का अलंकारत्व होता है, उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थ का अलंकारत्व हो सकता है और उसी सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति होती है। जयदेव ने वक्रोक्ति को लगभग उसी रूप में माना है, जिस रूप में रुद्रट और मम्मट ने माना था।

वक्रोक्ति की व्यापक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती हैं—अर्थश्लेष तथा काकु के बल से अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य के दूसरे के द्वारा भिन्न अर्थ की कल्पना। रीतिकाल में इस अलंकार का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। नायिकाओं के रूप तथा प्रेम की विभिन्न स्थितियों के चित्रण में इसका प्रयोग चमत्कृत ढंग से किया गया है।[1]

प्रचलित शब्द की अर्थ छटाओं को भिन्न-भिन्न कोश अपने लक्ष्यानुरूप स्पष्ट करते हैं। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर'[2] में इस अर्थ की परिव्याप्ति इस प्रकार स्पष्ट हुई है—वक्रोक्ति—(1) एक प्रकार का काव्यालंकार जिसमें काकु या श्लेष से वाक्य का और अर्थ किया जाता है। (2) काकूक्ति। (3) बढ़िया उक्ति।

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा अपने पूर्व के अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के स्थान पर एकदम नवीन काव्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है और इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य सिद्धान्तों का समाहार किया है। साथ ही समस्त काव्यांगों—वर्णचमत्कार शब्दसौन्दर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि

---

1. हिन्दी साहित्य कोश : भाग 1 (पारिभाषिक शब्दावली), पृ० 757
2. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर : नागरी प्रचारिणी सभा (छठा संस्करण : 2014 वि०), पृ० 881

को उचित स्थान दिया है।

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति केवल वाक् चातुर्य अथवा उक्ति चमत्कार नहीं है, वह कवि व्यापार अथवा कवि कौशल है।

कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त बहुत सीमा तक व्यापक ही नहीं अपितु समन्वय शील सिद्धान्त है। आधुनिक भाषाविद् इसे विशिष्ट सैद्धान्तिक विषय स्वीकार करते हैं। इसीलिए यह भी स्वीकार करते हैं कि यह सिद्धान्त भाषा विज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति पर परखा जा सकता है। स्पष्ट है इससे 'वक्रोक्ति' की महत्ता, सार्वजनीनता और इसके संगत होने के अनेक कारण विद्यमान हैं जिन, पर आगे चलकर विचार किया जायेगा।

2. वक्रोक्ति का विकास

भारतीय काव्यशास्त्र

संसार का सर्वाधिक समृद्ध काव्यशास्त्र संस्कृत का काव्यशास्त्र है। इसके अन्तर्गत भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, क्षेमेन्द्र, कुन्तक प्रभृति अनेक विद्वानों ने अपनी मौलिक प्रतिभा एवं सारग्राहिणी मनीषा के द्वारा इस शास्त्र की विभिन्न अज्ञात दिशाओं का रहस्योद्घाटन किया है।

कुन्तक से पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलंकार, रीति एवं ध्वनि सम्प्रदाय गौरवान्वित एवं प्रतिष्ठित हो चुके थे। उस युग में अन्तिम रूप से 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा मान लिया गया था। उस समय के नवीन साहित्य समीक्षकों ने ऐसा अनुभव किया कि या तो वे ध्वनि के दोषादि का सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करके अपनी मान्यताओं को सुसंगत एवं प्रौढ़ प्रमाणित करें अथवा किसी ऐसी चमत्कारिक आलोचना पद्धति को जन्म दें जो अपनी साहित्यिक विदग्धता एवं प्रभाव में ध्वनि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो। कुन्तक ने दूसरे मार्ग का अनुसरण किया और वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की। कुन्तक मूलतः कलावादी विचारक थे। उन्होंने ध्वनि का विरोध करके प्रकारान्तर से रस सिद्धान्त का ही विरोध किया था। उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा एवं प्रखर मेधा के द्वारा काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीन रूप से पुनराख्यान किया और ध्वनि सिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा।

अर्थात् भाव और अभाव के समान उन दोनों (कामी तथा शराग्नि के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखाने का प्रयत्न

व्यर्थ है ।[1]

इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रह कर सम्प्रदाय बन गया है ।[2] इस मतवाद की दीर्घ परम्परा 'काव्य' के 'श्रेय' एवं 'सर्जना' के लक्ष्य पर निरन्तर विचारणा करती है तथा भाषा के विभिन्न अर्थमय आयामों का दिग्दर्शन भी करती है ।

पूर्ववृत्त

वक्रोक्ति सिद्धान्त की काव्य के जीवित रूप में स्थापना राजानक कुन्तक ने दसवीं शताब्दी में की । इससे पहले भी 'वक्रोक्ति' का प्रयोग व्यापक या संकुचित अर्थ में हो चुका था । 'वासवदता' में सुबन्धु ने कई स्थानों पर काव्यशास्त्रीय विषयों की चर्चा की है । वैदग्ध्य शब्द का प्रयोग वक्रोक्ति की ही महत्ता प्रतिपादित करता है ।[3] अमरु ने वक्रोक्ति का प्रयोग 'क्रीड़ालाप या परिहास जल्पित' के अर्थ में किया है ।[4] वाणभट्ट ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है : 'वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण' ।[5] वक्रोक्ति का यह प्रयोग वाक्छल रूप शब्दालंकार के अर्थ में नहीं किया गया है । वक्रोक्ति का ग्रहण, बाण ने वाग्वैदग्ध्य के ही अर्थ में किया है :

> नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लैषोऽक्लिष्ट: स्फुटोरस:
> विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।।[6]

अर्थात् नवीन अर्थ जिसे अब तक किसी कवि ने नहीं लिखा हो, अग्राम्य जाति अर्थात् स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, सुबोध रस एवं आकर्षक शब्दों का संचयन—इन सब गुणों का एकत्र किसी काव्य में होना कठिन है । इस प्रकार बाण की

---

1. निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न (कथंचिदपि) साम्योपपत्तिरित्यलमनुचित विषयचर्वणा चातुर्यचापल्येन । हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : तृतीय उन्मेष, पृ० 360
2. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, पृ० 139
3. सरस्वतीदत्तवर प्रसादश्चक्रे सुबन्धु: सुजनकबन्धु: ।
   प्रत्यक्षर-श्लेषमय प्रबन्ध विन्यास वैदग्ध्य निधिर्निबन्धम् ।
   वासवदत्ता : टीकाकार श्री शंकरदेव शास्त्री (चौखम्वा) 1.13
4. सा पत्यु: प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना ।
   नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलना वक्रोक्ति संसूचनम् ।।
   अमरुशतकम् (मित्र प्रकाशन), पृ० 29
5. कादम्वरी, पूर्वभाग (चौखम्बा), पृ० 158
6. हिन्दी हर्ष चरित (चौखम्बा), 1.5

वक्रोक्ति, शब्द और अर्थ, दोनों के चमत्कार से निर्मित है। कविराज ने भी बाणभट्ट को वक्रोक्ति मार्ग में निपुण कवि माना है।[1]

काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथमसुनिश्चित विवेचन भामह ने 'काव्यालंकार' में किया। वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना का मूल उद्‌गम भी भामह का विवेचन ही है। उन्होंने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का अन्तर्भाव माना है।[2] शब्द और अर्थ की वक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति ही इष्ट (अर्थ) और वाणी (शब्द) का मूल अलंकार है। आगे चलकर भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप वर्णन द्वारा भी वक्रता का ही आशय स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अतिशयोक्ति उस उक्ति को कहते हैं जिसमें गुणों के अतिशय का योग हो और अतिशय का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचरता—लोक का अतिक्रमण अर्थात् सामान्य से वैचित्र्य। अतिशयोक्ति का अर्थ हुआ लोक-सामान्य से विचित्र उक्ति अर्थात् ऐसी उक्ति जिसमें शब्द और अर्थ का लोकोत्तर अर्थात् असाधारण या चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया गया हो।[3] इस अतिशयोक्ति को ही उन्होंने वक्रोक्ति माना है।[4] सभी अलंकारों को इसी में अन्तर्निहित माना है।[5] वक्रोक्ति का सार्वभौम साम्राज्य है। सभी अलंकारों में यह सामान्य रूप से विद्यमान है। अलंकारों में ही नहीं, काव्य के सभी व्यापक रूपों में—"महाकाव्य" रूपकादि में भी इसी वक्रोक्ति का चमत्कार है :

---

1. सुबन्धुबाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
   वक्रोक्ति मार्ग निपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥
   हिन्दी राघवपाण्डवीयम् (चौखम्बा), पृ० 20
2. न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
   वक्राभिधेयः शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥
   काव्यालंकार : देवेन्द्रनाथ शर्मा, 1.36
3. निमित्ततो वचो यतु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
   मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकार तया यथा ॥
   इत्येवमादिरुदिता गुणातिशय योगतः।
   सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥
   काव्यालंकार : आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, 2.81, 2.84
4. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः : वही, 2.85
5. कोऽलंकारोऽनया विना : वही, 2.85

अनिबद्धं पुनर्गाथा श्लोकमात्रादितत्पुनः ।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतेदिष्यते ।।[1]

जहां वक्रता नहीं होती, वहां अलंकार ही नहीं होता । इसीलिए हेतु, सूक्ष्म और लेश को उन्होंने अलंकार ही नहीं माना :

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशो च नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।।[2]

वक्रोक्ति रहित कथन को उन्होंने काव्य नहीं माना । इसे वे वार्ता मानते हैं ।

गतो स्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामनां प्रचक्षते ।।[3]

इसे ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'इतिवृत्तकथन' कहा है। इस प्रकार भामह अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय और स्वाभावोक्ति को वक्रोक्ति में ही समाविष्ट मानते हैं। वक्रोक्ति का मूल गुण शब्द और अर्थ का वैचित्र्य तथा वक्रोक्ति का प्रयोजन, अर्थ का विचित्र रूप से भावन तथा वक्रोक्ति का महत्व सर्वव्यापी मानते हैं।

दण्डी में आकर स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति का स्पष्ट पार्थक्य मिलता है। उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है :

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायोवक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चैतिवाङ्मयम् ।।[4]

स्वभावोक्ति में पदार्थों का साक्षात् स्वरूप वर्णन होता है और वक्रोक्ति में वक्र अर्थात् चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है। उपमादि अन्य अलंकार सभी इसी के प्रकार हैं।[5]

अतिशयोक्ति के प्रसंग में दण्डी ने अतिशयोक्ति को ही सभी अलंकारों का आधार माना है।[6] इस प्रकार वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का आधार मानकर भामह की की भांति दण्डी भी दोनों की पर्यायता सिद्ध कर देते

1. काव्यालंकार-आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा 1.30
2. वही, 2.86
3. वही, 2.87
4. हिन्दी काव्यादर्श : आचार्य रामचन्द्र मिश्र, 2.363, पृ० 219
5. स्वभावोक्तिः वस्तुस्वरूप वर्णनम्, वक्रोक्तिश्च सालङ्कारमुक्तिवैचित्र्यमिति वाङ्मयम्···वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः सकीर्णपर्यन्ता अलंकाराः उच्यन्ते ।
हिन्दी काव्यादर्श, पृ० 219
6. वही, 2.220

हैं। पर्याय हो जाने पर दोनों की परिभाषा भी एक ही हो जाती है :

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमार्वातिनी।
असावतिशयोक्ति स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ।।[1]

वक्रोक्ति को उन्होंने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया। वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अभिन्न माना। वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से भिन्न माना। स्वभावोक्ति शास्त्र का माध्यम है।[2] काव्य में भी वह वांछनीय है।[3] पर वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है।

आचार्य वामन ने ही सर्वप्रथम वक्रोक्ति की विशिष्ट अलंकार के रूप में स्थापना की। उन्होंने परवर्ती आचार्यों की मान्यता से भिन्न इसे शब्दालंकार न मानकर अर्थालंकार माना और उसका लक्षण है :

बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्।
तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति ।।[4]

इसी जगह वृत्ति में उन्होंने लिखा है कि असादृश्य निबन्धना लक्षणा वक्रोक्ति नहीं कहलाती।[5] लेकिन जैसा कि डॉ० राघवन ने कहा है, वे लोग जो वक्रोक्ति में सभी प्रकार की व्यंजनाओं का समावेश करते हैं, केवल सादृश्य निबंधना लक्षणा ही नहीं बल्कि सभी प्रकार की लक्षणाओं को वक्रोक्ति में समाविष्ट करना चाहेंगे। यदि अभिधामूला ध्वनि भी किसी न किसी वक्रता में समाविष्ट की जाती है तो फिर असादृश्य निबन्धना लक्षणाएं भी वक्रोक्ति ही होंगी।[6] डॉ० नगेन्द्र कहते हैं कि सामान्य अर्थ में भी वक्रोक्ति की वामन ने सर्वथा उपेक्षा की है, यह नहीं कहा जा सकता। वामन की 'विशिष्टा पद रचना रीतिः' में विशिष्टता वक्रता से एकान्त भिन्न नहीं है।···वक्रता के व्यापक रूप की कल्पना उन्होंने प्रकारान्तर से अपने सिद्धान्त के अनुसार निश्चय ही की है। उसका लोकोत्तर चमत्कार उन्हें निश्चय

---

1. हिन्दी काव्यादर्श : आचार्य रामचंद्रमिश्र 2.214
2. वही, 2.13
3. वही, 2.13
4. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र 4.3.8 की वृत्ति
5. असादृश्य निबन्धनातु लक्षणा न वक्रोक्तिः।

वही, 4.3.8 की वृत्ति

6. भोज का शृंगार प्रकाश, पृ० 129

ही ग्राह्य है—केवल शब्दावली भिन्न है।[1] वामन ने काव्यकौशल के अनेक प्रकारों का वर्णन किया था जिन्हें कुन्तक ने अपने व्यापक सिद्धान्त में अंतर्भुक्त किया। वामन वक्रोक्ति को स्वयं इतने व्यापक रूप में नहीं देख रहे थे।

रुद्रट ने वक्रोक्ति का 'वक्रीकृता उक्ति' अर्थ करते हुए इसे वाक्छल पर आश्रित शब्दालंकार मात्र माना। वक्रोक्ति के दो भेद किये—काकु वक्रोक्ति और सभंग श्लेष वक्रोक्ति।[2] इस प्रकार के वक्रोक्ति चिन्तन ने ही वक्रोक्ति के व्यापकत्व को दुर्घटनाग्रस्त किया। रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि परवर्ती आलंकारिक इसी भावना से ग्रस्त हुए। आनन्द वर्धन ने वक्रोक्ति का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया। 'ध्वन्यालोक' के दूसरे उद्योत की 21 वीं कारिका में वक्रोक्ति का उल्लेख मिलता है :

तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकार व्यवहार एव।

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने इसे विशिष्ट अलंकार के रूप में ग्रहण किया। वे वक्रोक्ति को वाच्य और ध्वनि को व्यंग्य मानते हैं, किन्तु तृतीय उद्योत में वक्रोक्ति के सामान्य रूप की भी स्पष्ट स्वीकृति मिलती है जहां उन्होंने भामह के वक्रोक्ति विषयक निम्न कथन की पुष्टि की है :

सैषासर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविनाकार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना।[3]

अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति की पर्यायता स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है :

'सबसे पहले तो सभी अलंकार अतिशयोक्ति गर्भ हो सकते हैं। अपने विषय के अनुसार उचित रूप में किया गया अतिशयोक्ति का संबंध काव्य में उत्कर्ष क्यों नहीं लायेगा···उसमें कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलंकार को प्रभावित करती है उसको ही शोभातिशय प्राप्त होता है। अन्य तो (चमत्कारातिशयरहित) अलंकार ही रह जाते हैं। इसी से सभी अलंकारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के अभेदोपचार से वही सर्वालंकार रूप है, यही अर्थ समझना चाहिए।'[4]

उन्होंने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति की पर्याय एवं सर्वालंकार रूपा माना तथा

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (द्वि० संस्करण), पृ० 143
2. वक्त्रा तदन्ययोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
   वचनं यत्पदभंगैर्ज्ञेया सा श्लेष वक्रोक्तिः॥
   काव्यालंकार, डॉ० सत्यदेव चौधरी, 2.14
3. हिन्दी ध्वन्यालोकः आचार्य विश्वेश्वर, पृ० 394
4. वही, पृ० 394-5

उसके चमत्कार को कविप्रतिभा जन्य। वक्रता अथवा अतिशय का प्रयोग विषयानुकूल होना चाहिए अर्थात् विषय का औचित्य ही उसका नियामक है। इसी आधार पर उन्होंने वक्रोक्ति को अपने ध्वनि सिद्धान्त में आत्मसात कर लिया है।

प्रत्यक्ष रूप में उनके ग्रन्थ में अतिशयोक्ति के द्वारा वक्रोक्ति की इतनी ही चर्चा प्राप्य है। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनिनिरूपण का कुन्तक के वक्रोक्ति विवेचन पर गहरा और व्यापक प्रभाव है। वक्रोक्ति जीवितम् की रूपरेखा का विधान ही ध्वन्यालोक के आधार पर किया गया है। वक्रोक्ति का विस्तार भी ध्वनि की भांति वर्ग, प्रत्यय, विभक्ति आदि से लेकर सम्पूर्ण प्रवंध काव्य तक माना गया है। अनेक चमत्कार भेद तो ऐसे भी मिलते हैं जिनमें केवल ध्वनि और वक्रोक्ति का नाम-भेद मात्र है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के नवम अध्याय में अर्थव्याप्ति प्रकरण में अपनी विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरी के—विदग्धभणिति भङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्—मत को उद्धृत किया है।[1] इस पर टिप्पणी करते हुए काणे महोदय ने कहा है कि कुन्तक की वक्रोक्ति की परिभाषा—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगीभणितिरुच्यते' पर अवन्तिसुन्दरी की सूक्ति का प्रभाव है।[2] राजशेखर ने सप्तम अध्याय में 'काकु' पर विचार किया है और कहा है कि यह पढ़ने या बोलने का एक प्रकार है। यह अलंकार नहीं हो सकता। इस प्रकार उन्होंने रुद्रट सम्मत काकु वक्रोक्ति का तिरस्कार किया। राजशेखर ने काव्यविधा के अठारह अंग और उनके प्रवर्तक आचार्यों के नाम गिनाये हैं। इनमें दूसरा अंग 'औक्तिक' है। इस विषय में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं—'पर एक और भी संभावना है, शायद वक्रोक्ति नामक अलंकार को राजशेखर ने औक्तिक कहा हो।'[3] इस बात की बहुत संभावना है कि हजारी प्रसाद का यह कथन सही हो। औक्तिक की व्युत्पत्ति पर विचार करने से भी द्विवेदी जी के अनुमान की पुष्टि होती है। औक्तिक शब्द उक्ति से निष्पन्न है। वक्रोक्ति में भी सुन्दर उक्ति (वक्र उक्ति) की ही प्रधानता है। अतएव वक्रोक्ति, औक्तिक भी कही जा सकती है।

अग्निपुराण राजशेखर के बाद की रचना है। इसमें वक्रोक्ति का बहुत थोड़ा वर्णन आया है। अग्निपुराणकार ने वाक्य के दो भेद किये हैं—ऋजु और वक्रोक्ति। वक्रोक्ति के भी दो भेद बताये हैं—प्रथम भंगिमा के द्वारा, द्वितीय काकु के द्वारा।[4]

---

1. काव्यमीमांसा (परिषद प्रकाशन), पृ० 114
2. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, पृ० 385
3. हमारी साहित्यिक समस्याएं (द्वि० सं०), पृ० 147
4. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (रामलाल वर्मा शास्त्री), पृ० 60-61

अभिनवगुप्त, कुन्तक और भोज समकालीन हैं। अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति का सामान्य रूप ग्रहण किया है—शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम्···लोकोत्तरेण चैवातिशयः।[1] तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकार सामान्यम् : अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थान। लोकोत्तर का अर्थ है अतिशय। इस प्रकार अतिशयोक्ति सामान्य अलंकार है। उन्होंने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत 'वक्रोक्ति शून्यं च यत्'[2] पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—वक्रोक्ति शून्येन शब्देन सर्वालंकाराभावश्च उक्तः। अतएव यहां भी वे वक्रोक्ति की अलंकार सामान्यता की पुष्टि करते हैं।

भोज ने वक्रोक्ति का यथेष्ट मनोनिवेश पूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की वक्रोक्ति विषयक धारणाओं का समन्वय प्रस्तुत किया। भामह के अनुसार वक्रोक्ति काव्यसौंदर्य का पर्याय है और उसके अंतर्गत रस, अलंकार और स्वभाव कथन आदि सभी आ जाते हैं। इस पर भोज ने लिखा :

शास्त्र और लोक में जो अवक्र वचन है, उसका नाम वचन है, और अर्थवाद आदि में (निन्दा-स्तुति विषयक अतिशयोक्ति में) जो वक्रता है उसका नाम काव्य है।[3] श्रृंगार प्रकाश के द्वितीय खण्ड में और भी अधिक स्पष्ट किया गया है : वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः। दण्डी ने वक्रोक्ति को समस्त काव्य का पर्याय न मानते हुए, स्वभावोक्ति को इसकी परिधि से निकाल दिया था। भोज ने दण्डी का यह मत ग्रहण किया और साथ ही रस सिद्धान्त को मान्यता स्वीकार करते हुए, रस को भी स्वतंत्र कर दिया :

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।[4]

वामन की 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' बहुत कुछ मनमानी कल्पना थी—परवर्ती आचार्यों में वह मान्य नहीं हुई। भोज की सारग्राहिणी दृष्टि ने इसको भी स्वीकार किया।

लक्षणा वक्रोक्ति का प्राण है। किन्तु वामन और भोज के विवेचन में अन्तर है। वामन केवल सादृश्य गर्भालक्षणा में ही वक्रोक्ति की स्थिति मानते हैं पर भोज ने सभी प्रकार की लक्षणा को इसका मूलाधार माना है। वामन की अपेक्षा भोज का मत अधिक ग्राह्य है।

---

1. लोचन, पृ० 208
2. हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० 11
3. श्रृंगारप्रकाश 9.6, पृ० 427
4. सरस्वती कंठाभरण, 5.8

भोज ने रुद्रट के विशिष्ट तथा छुद्र रूप कि 'वक्रोक्ति वाक्छल पर अश्रित शब्दालंकार मात्र है', को भी स्वीकार किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है, पर उन्होंने रुद्रट की परिभाषा में कुछ परिवर्तन कर दिया है। वक्रोक्ति का वाक्छल रूप चमत्कार सर्वत्र कथोपकथन में ही प्रकट होता है। अतएव उन्होंने वाकोवाक्य (कथोपकथन) नाम से एक नवीन शब्दालंकार की कल्पना की। वाकोवाक्य के छः भेद हैं जिनमें एक है वक्रोक्ति। वक्रोक्ति में भोज ने केवल श्लेष वक्रोक्ति को ही स्वीकारा है। काकु वक्रोक्ति को 'पठिति' नामक अलग शब्दालंकार माना।

कुन्तक

कुन्तक में वक्रोक्ति परम्परा एक नये चिन्तन की ओर उन्मुख विचारधारा का रूप ग्रहण करती है। भामह के वक्रोक्ति विषयक चिन्तन की चरम परिणति कुन्तक में ही हुई। अलंकार सम्प्रदाय की छोटी बड़ी विचार सरणियों को कुन्तक ने स्थापत्य प्रदान किया और उसकी शनैः शनैः परिक्षीण होती हुई शक्ति को नयी तेजस्विता और गरिमा से भर दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यभंगीभणिति'[1] कहा। यह प्रसिद्ध अभिधान का अतिक्रमण करने वाली विचित्र अभिधा ही है।[2] कुन्तक अपने वैचित्र्य की व्याख्या भामह की अतिशयोक्ति के पर्याय के रूप में करते है।[3] कुन्तक काव्य की परिभाषा भी भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम' से आरम्भ करते हैं तथा उसमें अपनी वक्रोक्ति जोड़ देते हैं।[4] उनके लिए काव्य अलंकृत शब्द और अर्थ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[5] इस प्रकार कुन्तक का वक्रोक्ति परम्परा में योगदान विशेष कोटि का है। वे सम्पूर्ण वक्रोक्ति विचारणा को एक नई विभा से परिपुष्ट करते हैं।

परवर्ती आचार्य

वक्रोक्ति चिन्तन को परिशुद्ध दृष्टि देने का कार्य परवर्ती आचार्यों ने किया। उन्होंने वक्रोक्ति की क्रमशः खण्डित होती परम्परा को नये अर्थ देने की चेष्टा भी की है।

---

1. हि० वक्रोक्ति-1.10
2. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। वही, पृ० 5।
3. वही, पृ० 144
4. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ वही, 1.7
5. उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृतिः। वही, 1.10

कुन्तक, अभिनवगुप्त और भोज के पश्चात् वक्रोक्ति सिद्धान्त की महत्ता क्षीण होने लगती है। ध्वनि सिद्धान्त के अन्यतम विरोधी महिमभट्ट ने भी वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा है—'सहृदयता का अभिनय करने वाले कुछ लोग शास्त्र आदि में प्रचलित शब्दों और अर्थों की योजना से भिन्न जो वैचित्र्य है उतने ही तक सीमित वक्रता नामक तत्व काव्य की आत्मा है, कहते हैं—वह समीचीन नहीं है।[1] मम्मट ने वक्रोक्ति को संकुचित अर्थ में ग्रहण किया— 'अन्य प्रकार से कहा हुआ वाक्य दूसरे के द्वारा श्लेष अथवा काकु से अन्य प्रकार से लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है। वह श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति दो प्रकार का होता है।''[2] क्षेमेन्द्र ने काव्य में चमत्कार की महिमा को स्वीकार किया है। चमत्कारहीन काव्य से न कवि को कवित्व प्राप्त होता है और न वैसे काव्य को काव्यत्व की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो सकती है।[3] रुय्यक ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में मम्मट के विचारों को ही माना है। विश्वनाथ ने वक्रोक्ति के सामान्य रूप की सर्वथा उपेक्षा की और उन्होंने कुन्तक के सिद्धान्त को एक ही वाक्य में उड़ा दिया :

वक्रोक्तेरलंकार विशेषरूपत्वात् ।[4]

इस प्रकार यह देखने में आता है कि वक्रोक्ति के विकास का स्वरूप अत्यन्त मनोरंजक है। भामह से लेकर विश्वनाथ तक आते-आते उसमें बहुत अधिक अन्तर हो गया। सामान्य धर्म से हटकर इसे विशिष्ट अर्थ के लिए प्रयुक्त किया गया। काव्य सौन्दर्य के मूल आधार से हटकर वक्रोक्ति वाक्छल मात्र रह गई।

तथापि यह बात बिलकुल मान्य नहीं है कि कुन्तक का यह सिद्धान्त निर्मूल और निराधार था। कुन्तक ने इसका मौलिक व्याख्यान किया और इसे काव्य के आधारभूत एवं सर्वग्राही रूप में प्रस्तुत किया। काव्य के सभी अंग उसमें अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार कुन्तक के विवेचन में वक्रोक्ति ने सर्वव्यापक एवं व्यवस्थित सिद्धान्त तथा काव्य सम्प्रदाय का स्थान प्राप्त किया।

भारतीय काव्यशास्त्र : विकास के नये रेखांक

वक्रोक्ति सिद्धान्त को कुन्तक की देन अन्यतम है किन्तु यह सैद्धान्तिक आधार कुन्तक के साथ ही विलुप्त हो जाता है। 'वक्रोक्तिजीवितम्' के लुप्त हो जाने के कारण इसके स्वतन्त्र अस्तित्व का भी लोप हो गया। परन्तु कुन्तक की वक्रता तो

1. हिन्दी व्यक्तिविवेक-पृ० 142
2. काव्य प्रकाश : आचार्य विश्वेश्वर, 9.78
3. काव्यमाला: चौथा भाग, कविकण्ठाभरण, निर्णय सागर प्रेस, पृ० 118
4. हिन्दी साहित्य दर्पण : पृ० 23.24

काव्य का कोई अंग विशेष न होकर वस्तुतः कवि व्यापार का पर्याय हैं। उसकी स्थापना साहित्य में वैदग्ध्य अथवा कवि कौशल अर्थात् साहित्य के कला पक्ष की प्रतिष्ठा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में कुन्तक की वक्रता का भले ही उल्लेख न हुआ हो, पर वक्रता-वैभव प्राचीन काल से लेकर आज तक के साहित्य में प्राप्य है।

स्वयं भू और विद्यापति के काव्य में मनोहर अक्षर विन्यास तथा अलंकार विधान वक्रता के ही रूप हैं। भक्ति युग के पूर्वार्द्ध में सन्तों की वाणी को भी वक्रता का बल प्राप्त था। कबीर की कविता में व्युत्पत्तिजन्य चारुता तो विशेष नहीं है पर प्रतिभाजन्य विदग्धता इतनी अधिक है कि आचार्य शुक्ल जैसे अनुकूल आलोचक को भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ी।[1]

सगुण भक्ति काव्य में यद्यपि रसवाद की प्रधानता रही, फिर भी भाव की समृद्धि के साथ-साथ कला-वैचित्र्य का भी सम्यक् विकास हुआ। लीला पुरुषोत्तम की क्रीड़ाओं ने कृष्ण भक्त कवियों के लिए वक्रता विलास का अपार क्षेत्र उद्घाटित कर दिया। सूर के काव्य में वक्रता के दोनों पक्षों का—सौन्दर्य रूपों और विदग्ध उक्तियों का अक्षय वैभव है। तुलसी की प्रकृति गम्भीर थी। उनकी दृष्टि में राम नाम के परम रस के अभाव में वैचित्र्य भंगीभणिति का कोई मूल्य नहीं था :

भनिति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ। राम बिनु सोह न सोऊ।।

परन्तु व्यवहार में वक्रता की उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की। अपने काव्य में जिन गुणों की वे अपेक्षा करते हैं, उनमें एक वक्रोक्ति भी है :

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा।
धुनि अवरेब कवितगुन जाती। मीन मनोहर से बहुभांती।।

यहां 'अनूप अरथ' कुन्तक की वस्तु वक्रता का पर्याय है और 'अवरेब' का स्पष्ट अर्थ वक्रता है।

रीतिकाल में काव्य शास्त्र का विधिवत् विवेचन होना प्रारम्भ हो गया था। अधिकतर आचार्यों ने इसे शब्दालंकार माना। केशव ने वक्रोक्ति को 'वक्रीकृता उक्ति' रूप शब्दालंकार न मानकर 'वक्र' अर्थात् 'विदग्ध उक्ति रूप' अर्थालंकार ही माना है। 'कविप्रिया' के बारहवें प्रभाव में उक्ति अलंकार के पांच भेदों का

1. यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुंह से चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था। हि० सा० का इतिहास, पृ० 79

का वर्णन करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति को प्रथम भेद स्वीकार किया है।[1] केशव के अनुसार जहां सीधी और सरल उक्ति में वक्रभाव व्यक्त किया जाये, वहां वक्रोक्ति होती है। केशव के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने इसे शब्दालंकार ही माना है और रुद्रट के आधार पर उसके काकु और श्लेष दो भेद किये हैं :

चिन्तामणि : और भांति को वचन जो और लगावै कोई।
कै सलेष कै काकु सों वक्रोकति सोई।।[2]

जसवंत सिंह : वक्रोक्ती स्वर श्लेष सों अर्थ फेर जो होइ।
रसिक अपूरब हो पिया, बुरो कहत नहिं कोई।।[3]

भूषण : जहां श्लेष सों काकु सों, अरथ लगावे और।
वक्र उकति वाको कहत, भूषन कवि-सिरमौर।।[4]

दास : व्यर्थ काकु ते अर्थ को, फेरि लगावे तर्क।
वक्र उक्ति तासों कहै जै बुध-अम्बुज अर्क।।[5]

देव : काकु वचन अश्लेष करि, और अरथ है जाई।
सो वक्रोक्ति सुबरनिये, उत्तम काव्य सुभाई।।

रीतियुग के अधिकांश समर्थ कवियों की रचनाओं में वर्णवक्रता, पदवक्रता तथा वाक्य वक्रता की छटा दर्शनीय है। खण्डिता तथा वचन-विदग्धा एवं क्रियाविदग्धा नायिकाओं की उक्ति में वैदग्ध्य का अपूर्व चमत्कार प्राप्य है।

रीतिकाव्य के लक्ष्य काव्य में वक्रता का चरम विकास घनानन्द के कवित्तों में मिलता है। उनके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही वक्रता की प्रतिष्ठा है।

1. 'घन आनन्द बूझनि अंक बसै, विलसै रिझवार सुजान धनी। (प्रीति अर्थात् रस बुझनि अथवा वक्रता वैदग्ध्य के अंक में आसीन होकर ही शोभा को प्राप्त करती है।'
2. "उर-भौन में मौन को घूंघट के दुरि बैठी विराजती बात बनी।" (उक्ति हृदय के भवन में अपने सौन्दर्य को छिपाये बैठी रहती है—अर्थात् उक्ति का सौन्दर्य भाव प्रेरित व्यंजना में ही है।)

---

1. वक्र अन्य व्यधिकरण कहि और विशेष समान।
सहित सहोकति में कही, उक्ति सुपंच प्रमान।।
केशव सूधी बात में बरणत टेढ़ो भाव।
वक्रोकति तासों कहत, सदा सबै कविराव।। कविप्रिया, प्रभाव 12
2. कविकल्पतरु 2.5
3. भाषाभूषण, अलंकार संख्या, 189
4. शिवराजभूषण, पृ० 127
5. काव्यनिर्णय, पृ० 208

3. सूछम उसास गुन बुन्यो ताहि लखै कौन ?
पौन तट रंग्यो पेखियत रंग राग में।
(वाणी तो सूक्ष्म श्वासों से बुना हुआ अदृश्य वितान है, यह वायवी पट भाव के रंग में रंग कर ही दृश्य रूप धारण करता है। अर्थात् अल्प वाणी भाव की प्रेरणा से चित्रमय बन जाती है।)

4. "अचिरज यहै औरे होत रंग राग में"। (यह सामान्य वाणी भाव के रंग में एक विचित्र ही रूप धारण कर लेती है।)
घनानन्द के व्यवहार में भी वक्रोक्ति का प्रयोग द्रष्टव्य है :
बदरा बरसे रितु में घिरि के नित ही अंखियां उघरी बरसें।।

इस पंक्ति की शब्दावली में वक्रता का चमत्कार स्वतः स्पष्ट है।

रीतिकाल के उपरान्त जो रीति परम्परा चलती रही है, उसमें वक्रोक्ति सम्बन्धी कोई भी नवीन उद्भावना उपलब्ध नहीं होती। कविराज मुरारि दान, सेठ कन्हैयालाल पौद्दार, सेठ अर्जुनदास केडिया, मिश्रबन्धु आदि सभी रीतिकारों ने वक्रोक्ति को उसी रूप में ग्रहण किया जिस रूप में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया था। सभी की परिभाषाएं भी उसी प्रकार हैं।

सेठ कन्हैयालाल पौद्दार—"किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा श्लेष से अथवा उक्ति से—अन्य अर्थ कल्पना किये जाने को वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं।"[1]

मिश्रबन्धु[2]···वक्रोक्ति में दूसरे की उक्ति का अर्थ काकु या श्लेष से बदला जाता है। वक्रोक्ति शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो प्रकार की—वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है, एक शब्द वक्रोक्ति, दूसरी अर्थ वक्रोक्ति। जहां शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे, वहां शब्द वक्रोक्ति समझी जायेगी, जो कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है।[3] यहां इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति विषयक मूल धारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। केवल अन्तर यह हुआ कि मिश्रबन्धु ने इसे अर्थालंकार भी माना है। इस प्रकार वक्रोक्ति विषयक विचारणा हिन्दी में अपने परिसंकुचित रूप में दिखाई देती है।

आधुनिक युग के आलोचकों ने वक्रोक्ति पर विचार किया है। द्विवेदी युग में संस्कृत हिन्दी की रीति परम्परा से भिन्न पाश्चात्य पद्धति पर आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म हुआ। द्विवेदी जी ने कला चमत्कार का समर्थन किया :

---

1. अलंकार मंजरी, पृ० 4
2. शुकदेव विहारी मिश्र और पं० प्रतापनारायण मिश्र
3. साहित्य पारिजात, पृ० 323, 325

"शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में कोई चमत्कार नहीं, विलक्षणता ही नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[1] द्विवेदी जी ने भारतीय काव्यशास्त्र तथा अंग्रेजी के उत्तरमध्यकालीन आलोचना सिद्धान्तों के संस्कार ग्रहण किए थे। स्वभाव से वे नीतिवादी पुरुष थे परन्तु काव्य के आनन्द तत्व से अनभिज्ञ नहीं थे।

बिहारी-काव्य-रसिक पं० पद्मसिंह शर्मा ने बांकेपन पर विशेष महत्व दिया हैं—"इस प्रकार के स्थलों में ऐसा कोई अवसर नहीं जहां उन्होंने 'बात में बात' पैदा न कर दी हो।"[2]

पं० पदमसिंह शर्मा वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति को पर्याय तथा समस्त अलंकार प्रपंच का मूल आधार मानते हैं।

कविवर जगन्नाथ दास रत्नाकर ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में वक्रता के प्रति प्रबल आकर्षण व्यक्त किया है। 'काव्य क्या है ?' इसका विवेचन उन्होंने 'कविवर बिहारी' में किया है। उनके वक्तव्य को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं :

"रमणीय वाक्य का नाम काव्य है। रमणीय वाक्य सामान्य वाक्य से भिन्न होता है। सामान्य वाक्य का प्रयोजन है वस्तु बोध और रमणीय वाक्य का उद्देश्य है चमत्कार की उत्पत्ति। काव्य चमत्कार अलौकिक होता है जो कवि के वर्णन कौशल पर निर्भर करता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रत्नाकर जी कुन्तक की ही भांति समन्वय वादी थे।

इस युग में वक्रता पर सबसे प्रबल प्रहार शुक्ल जी ने किया। उनका विश्वास था कि चमत्कार का सम्बन्ध केवल मनोरंजन से है—"इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु काव्य का लक्ष्य निश्चय ही गंभीर तथा उदात्त है और जो लोग इससे ऊंचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं, वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।[3] शुक्ल जी की निश्चित धारणा है कि चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य काव्य का नित्य लक्षण नहीं हो सकता। काव्य में वक्रता का महत्व तभी है जब वह भाव प्रेरित हो। भावप्रेरित वक्रता निश्चय ही उत्कृष्ट काव्य है। कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त वहीं तक मान्य है जहां तक वक्रोक्ति भावानुमोदित रहती है। आचार्य शुक्ल ने वक्रोक्ति सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धान्त का मूलाधार एक ही माना है—उक्तिवैचित्र्य। स्पष्ट है कि रामचन्द्र

---

1. संचयन पृ० 66
2. बिहारी सतसई : पं० पद्मसिंह शर्मा, पृ० 25
3. कविता क्या है ? चिन्तामणि भाग-1, पृ० 168

शुक्ल ने वक्रोक्ति सिद्धान्त को संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है।

छायावादी युग में काव्यशैली में वक्रता (विदग्धता और चारुता) का विशेष महत्व स्वीकृत हुआ है। यह वक्रता मात्र शैलीगत न होकर वस्तुगत रूप में परिलक्षित हुई है। प्रसाद ने भी कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को स्वीकार किया है: "इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छिति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था।[1] इस प्रकार प्रसाद ने वक्रता को वास्तविक काव्यगुण माना है। पंत ने नवीन विचारों के प्रकाश में वक्रता की व्याख्या में योगदान किया। इस प्रसंग में काव्य भाषा तथा अलंकार के सम्बन्ध में उनके वक्तव्य उल्लेखनीय हैं:

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों…जो झंकार में चित्र तथा चित्र में झंकार हों।…अलंकार वाणी की सजावट के लिए नहीं…वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हावभाव हैं।[2] पंत जी यहां कुन्तक के 'चित्रच्छायां मनोहरां'[3] और 'सालंकारस्य काव्यता' की व्याख्या करते प्रतीत होते हैं।

छायावाद के आलोचकों में श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु और गुलाबराय के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने वक्रोक्ति का विशद विवेचन किया है। छायावाद युगीन काव्य में वक्रोक्ति का मूल्य बढ़ गया था और इन आलोचकों की दृष्टि नवीन के प्रति उदार थी। इन्होंने क्रोचे का अध्ययन किया था तथा साथ ही इस समय तक कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवितम्' सुलभ हो चुका था। सुधांशु ने अपने ग्रन्थ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में वक्रोक्ति सिद्धान्त तथा पश्चिम के अभिव्यंजनावाद दोनों की समुचित विवेचना की है। उनके अनुसार कुन्तक का सिद्धान्त भामह से विकसित हुआ है। उसके मूल में अलंकारों का कल्पना-वैचित्र्य है। वक्रता के आधार रूप लोकोत्तर वैचित्र्य का तद्विदाह्लाद के साथ तादात्म्य कर कुन्तक रस सिद्धान्त को मानने के लिए प्रेरित होते हैं और साथ ही कुन्तक के सिद्धान्त में ध्वनिसिद्धांत से कतिपय बातें ली गई है। सुधांशु के मत से वक्रोक्ति तथा अभिव्यंजनावाद में प्रकृतिगत भेद है। वक्रोक्ति से अलंकार का सम्बन्ध स्पष्टतः स्वीकृत है, किन्तु अभिव्यंजना के लिए उसका स्वतन्त्र महत्व नहीं है, अभिव्यंजना में स्वभावोक्ति का भी मान है, वक्रोक्ति सिद्धान्त में नहीं। नगेन्द्र इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि वक्रोक्ति में स्वाभावोक्ति के काव्यतत्व का निषेध नहीं है, केवल अलंकारता का निषेध है। गुलाबराय ने भी इन दोनों सिद्धान्तों को अलग माना है। उनके अनुसार क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति वैचित्र्य को नहीं। क्रोचे के मत में

1. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० 90
2. प्रवेश-पल्लव
3. हि० व० जी०, 2.34

सफल अभिव्यक्ति कला है। इस अभिव्यक्ति में स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद नहीं है। उक्ति केवल एक हीं प्रकार की होती है जो अभिव्यक्ति है। नगेन्द्र ने इस मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार अभिव्यंजनावाद में उक्ति का केवल एक रूप मान्य है, वह वक्र हो या ऋजु, उसमें वार्ता तथा वक्रता का भेद नहीं है। परन्तु वक्रोक्ति में उक्ति के वैदग्ध्य पर बल दिया गया है। नगेन्द्र के अनुसार वक्रोक्ति सिद्धान्त में स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्ति में वैपरीत्य नहीं है। वैपरीत्य वस्तुतः वार्ता और वक्रोक्ति में है।

वस्तुतः प्रगतियुग के ह्रास के बाद प्रयोगवादी तथा नयी कविता में वक्रोक्ति की पुनः प्रतिष्ठा हुई है, नये संदर्भों में, नये अभिनिवेश में। कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त धीरे-धीरे काव्यशास्त्र का अंग बनता जा रहा है पर इसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसे आज की साहित्यिक चेतना में अन्तर्भूत करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि वक्रोक्ति सम्बन्धी विचार को आज की अनुरूपताओं में ही विकसन की कोई विधि अन्वेषित करनी पड़ेगी। इससे काव्यालोचन की पकड़ मूर्त और स्पष्ट होगी।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

पश्चिम में वक्रोक्ति-विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र की भांति 'सम्प्रदाय रूप' में स्वीकार नहीं किया गया। परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त एक मौलिक सिद्धान्त है और इसकी सत्ता पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी मान्य है। वहां वक्रता की प्रतिष्ठा कल्पना मूलक काव्य कौशल से सम्बद्ध है और यही कुन्तक की वक्रोक्ति का भी स्वरूप है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसका विवेचन प्रारम्भ से लेकर आज तक होता आया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में से प्रमुख व्यक्तियों के विचारों को संक्षेप में यहां प्रस्तुत किया जाता है :

होमर के काव्य से एक पंक्ति उद्धृत की जाती है..."ढाल सोने की बनी हुई थी, परन्तु (उस पर अंकित) जुती हुई भूमि श्यामल प्रतीत होती थी।" काव्य प्रेमियों ने इन पंक्तियों की 'तथ्य तथा कल्पना' मय अनुभूति की प्रशंसा की तथा इसकी काव्यगत वक्रता का अनुमोदन किया।

यूनानी भाषा के वरिष्ठ नाटककार ऐस्काइलस ने वक्रता का स्वप्न निम्न शब्दों में किया है—"नहीं उनकी बाह्य वसन सज्जा भी देखने में रंगोज्ज्वल तथा वैभव पूर्ण होनी चाहिए।"

प्लेटो ने वक्रता के महत्व को नहीं माना और काव्य का तिरस्कार किया है। अरस्तू ने तथ्य और कल्पना के भेद को स्पष्ट करते हुए काव्यगत वक्रता को स्वीकार किया है। अरस्तू का प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार है—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का कर्तव्य कर्म जो हो चुका है, उसका वर्णन करना

नहीं है, वरन जो हो सकता है, उसका वर्णन करना है—अर्थात् जो संभावना अथवा आवश्यकता के अनुसार हो सकता है उसका वर्णन करना है।"[1] इस प्रकार हम अरस्तू में वक्रता की स्पष्ट स्वीकृति पाते हैं।

यूनानी और रोमन आचार्यों में लोंगिनुस ने वक्रता का सर्वाधिक समर्थन किया है। लोंगिनुस ने उदात्त भावना पर बल दिया है। यह उदात्त भावना जीवन और काव्य के असाधारण तत्त्वों पर आधारित है। इस उदात्त के चित्रण में वक्रता का होना आवश्यक है। लोंगिनुस की कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत की जाती हैं:

उदात्त भावना एक प्रकार का अभिव्यंजनागत चमत्कार अथवा विशिष्ट गुण है और महान कवियों तथा लेखकों ने इसी के द्वारा अमर ख्याति का अर्जन किया है। क्योंकि जो असाधारण है अथवा सामान्य से विलक्षण है, वह श्रोता के मन में प्रवृत्ति मात्र जगाकर नहीं रह जाता, वह तो आह्लाद का उद्रेक करता है।[2]

उदात्त शैली के पांच मुख्य आधार हैं। प्रथम और सबसे प्रमुख है, महान परिकल्पनाशक्ति…दूसरा है प्रबल और अन्तःप्रेरित आवेग।…पांचवां आधार है रचना की गरिमा और औदार्य।[3]

उपरोक्त पंक्तियां स्पष्ट ही कुन्तक के कवि-कर्म-कौशल, वस्तुवक्रता और प्रकरण वक्रता को अभिव्यक्त करती हैं।

अठारहवीं शती में एडिसन ने पुनः लोंगिनुस के आधार पर 'कल्पना' के महत्त्व की प्रतिष्ठा की। एडिसन ने वक्रता के अनेक रूपों को अपने ढंग से स्वीकार किया है:

"मैं स्पष्टीकरण के लिए ये शब्द और जोड़ देना चाहता हूं कि प्रत्येक प्रकार के भावसाम्य में चमत्कार नहीं हैं, केवल वही साम्य इसके अन्तर्गत आता है जिसमें आह्लाद और विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो, चमत्कार के लिए ये दो गुण अनिवार्य हैं…।[4] इस उद्धरण में एडिसन वार्ता और वक्रता के भेद की व्याख्या कर रहे हैं। साम्य स्थापना वार्ता मात्र है और वैचित्र्य की उद्भावना, वक्रतापूर्ण काव्य।

भाषा-शैली में भी एडिसन ने वक्रता की उपादेयता स्वीकार की है—"इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें (काव्य में) साधारण प्रयोग तथा पदावली से

1. पोयटिक्स : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ० 29
2. ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म में उद्धृत लोंगिनुस के ग्रन्थ 'उदात्त' का अनुवाद (डब्ल्यू राबर्ट्स), पृ० 166
3. ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म में उद्धृत लोंगिनुस के ग्रन्थ 'उदात्त' का अनुवाद, पृ० 170
4. स्पैक्टेटर, अंक 62

विलक्षणता होनी चाहिए। कवि के विवेक का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि वह अपनी भाषा-शैली में सामान्य मार्गों का त्याग करे, किन्तु साथ ही उसे जड़ तथा अप्राकृतिक न होने दे।[1]

ऑर्नल्ड ने वक्रता के स्वच्छन्द विलास को महत्त्व नहीं दिया, पर उसके गंभीर रूपों को उचित महत्त्व दिया है। कला की गरिमा के लिए उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। वे वक्रता के विषयगत रूपों का आदर करते थे। प्राचीन कवियों के विषय वस्तु के काव्यमय स्वरूप और उसके विन्यास की उन्होंने 'प्रिफेस टु पोयक्स' में इस प्रकार प्रशंसा की है—"उनका ध्यान विषयवस्तु के काव्यात्मक स्वरूप और उसके विन्यास पर जाता था।' वस्तु का यह काव्यमय स्वरूप कुन्तक की वस्तुवक्रता और उसका विन्यास, प्रकरण एवं प्रबन्ध वक्रता का ही बोध देता है।

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्ति का ही विलायती उत्थान माना है। यद्यपि ये दोनों वाद भिन्न मूल धारणाओं की भित्ति पर स्थित है। अभिव्यंजनावाद का तिरस्कार करने के लिए ही शुक्ल जी ने इस प्रकार कहा था।

डा० नगेन्द्र ने विस्तार से इन दोनों विचारधाराओं का विवेचन किया है तथा साम्य और वैषम्य इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

(क) 1. क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में एक मौलिक साम्य तो यही है कि दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राणतत्व मानते हैं। कुन्तक की वक्र उक्ति मूलतः अभिव्यंजना ही है।

2. दोनों ने कल्पनातत्त्व को प्रमुखता दी है। क्रोचे की सहजानुभूति निश्चय ही कल्पनात्मक क्रिया है। उन्होंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक ने कल्पना शब्द का प्रयोग तो नहीं किया परन्तु उनकी 'वक्रता' (कवि व्यापार, वैदग्ध्य, उत्पाद्यलावण्य आदि में कल्पना की व्यंजना असंदिग्ध है।

3. क्रोचे तथा कुन्तक दोनों ही अभिव्यंजना तथा उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोचे की भांति कुन्तक ने भी स्पष्ट कहा है कि तत्त्व की दृष्टि से उक्ति अखण्ड है।

4. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौंदर्याभिव्यंजना में श्रेणियां नहीं मानते।

(ख) परन्तु क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में वैषम्य भी द्रष्टव्य हैं···

1. क्रोचे मूलतः दार्शनिक हैं जिन्होंने सम्पूर्ण अलंकार शास्त्र का निषेध किया हैं। कुन्तक मूलतः आलंकारिक हैं।

2. क्रोचे में वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है। कुन्तक ने स्पष्ट ही माना है।

?. क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है, और कुन्तक के

1. स्पैक्टेटर अंक 62

अनुसार कविकर्म कौशल।

4. वस्तुतत्त्व के विषय में दोनों में स्पष्ट मतभेद हैं। क्रोचे के सिद्धान्त में उसे अरूप संवेदन जाल माना गया है जिसका अभिव्यंजना के बिना काव्य में कोई अस्तित्व ही नहीं है। कुन्तक भी नियोजन को महत्त्व देते हैं पर वे विषय के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते।

5. क्रोचे के अनुसार काव्य का उद्देश्य आत्मा का विशदीकरण है। कुन्तक परमानन्दवादी है। वे आनन्द को चतुर्वर्ग फलास्वाद से भी बढ़कर मानते हैं। इस प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धान्त का वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

बीसवीं सदी के प्रथम चरण में पश्चिम में कई अन्य वादों ने जन्म लिया— प्रभाववाद, बिम्बवाद, धनवाद, वक्रतावाद और अतिवस्तुवाद। इनको मनोविश्लेषण शास्त्र के अन्तर्गत अवचेतन सम्बन्धी अन्वेषणों से भी उचित अनुचित पोषण प्राप्त हुआ है।

आई० ए० रिचर्ड्स ने काव्य की अनुभूति में मानस चित्रों तथा अभिव्यक्ति में चित्रभाषा को अनिवार्य माना और वक्रता (शुद्ध) की प्रतिष्ठा की—किसी उक्ति का प्रयोग अर्थ संकेत के लिए हो सकता है, यह अर्थ-संकेत सत्य हो सकता हैं अथवा मिथ्या। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग हैं—किन्तु भाषा का प्रयोग उन भावगत तथा प्रवृत्तिगत प्रभावों के निमित भी हो सकता है जो अर्थ संकेतों से उत्पन्न होते हैं। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है।"[1] इन भेदों को ही मनोवैज्ञानिकों ने शून्य भाषा और बिम्ब भाषा कहा हैं। भाषा का यह रागात्मक प्रयोग या चित्र भाषा स्पष्टतः कुन्तक की वक्रता के प्रथम चार भेदों···वर्ण, पद-पूर्वार्ध, पदपरार्ध तथा वाक्यवक्रता का संघात है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रों में संक्षेप में वक्रता स्वीकृति का यह विवेचन प्राप्य हैं। यह विवेचन निश्चय ही वक्रोक्ति सिद्धान्त की सार्वभौम प्रतिष्ठा का परिचायक हैं।

---

1. प्रिंसिपिल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० 267-68

२

वक्रोक्ति सिद्धान्त में काव्य का स्वरूप

पारिभाषिक रूप

कुन्तक ने वक्रता की व्याख्या करने से पूर्व काव्य के स्वरूप को ही स्पष्ट किया है। कुन्तक ने काव्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ इस प्रकार किया है—'कवेः कर्म काव्यम्'[1] अर्थात् कवि का कर्म काव्य हैं। इसको उन्होंने आगे और भी स्पष्ट किया है:

अर्थात् सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्व) है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार-सहित अर्थात् अलंकरण-सहित सम्पूर्ण अर्थात् अवयव रहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कवि कर्मत्व है। इसलिए अलंकरण ही काव्यत्व है (अर्थात् अलंकार काव्य का स्वरूप विधायक धर्म है) न कि काव्य में अलंकार का योग होता है।[2] इसका अभिप्राय यह हुआ कि सालंकार शब्द-अर्थ ही काव्य है। अलंकार काव्य का मूलतत्त्व है और काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द-अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

इस कारिका में काव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया तो आगे फिर लिखा:

शब्दार्थो सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि ।।

अर्थात् काव्यमर्मज्ञों के आह्लादकारक, सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते है।[3]

---

1. हि० वक्रोक्ति जीवित, पृ० 7
2. हि० व० 1.6, पृ० 17
3. वही : 1.7 पृ० 18

इस कारिका पर स्वयं कुन्तक ने ही वृत्ति लिखी—शब्दार्थौं काव्यं अर्थात् वाचक (शब्द) वाच्य (अर्थ) दोनों मिलकर काव्य हैं (अलग-अलग नहीं)। दो (शब्द और अर्थ मिलकर) एक (काव्य कहलाते) हैं, यह विचित्र ही उक्ति है। (हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारित करने जा रहे हैं, यह बात काव्य के लक्षण से स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ ये दोनों मिलकर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं, यह कथन स्वयं एक प्रकार की वक्रोक्ति से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है।) इसलिए यह जो किन्हीं का मत है कि कवि-कौशल से कल्पित किया गया है, सौंदर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है और किन्हीं की रचना के वैचित्र्य से चमत्कारी अर्थ ही काव्य है (यह जो मत है), ये दोनों मत खण्डित हो जाते हैं (न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं) इसलिए जैसे प्रत्येक तिल में तेल रहता है, इसी प्रकार इन दोनों (शब्द तथा अर्थ) में तद्विदाल्हाद कारित्व होता है। किसी एक में नहीं।[1]

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि न तो रमणीयता युक्त शब्द को हम काव्य कह सकते हैं और न ही अर्थ को। केवल शब्द सौंदर्य अथवा केवल अर्थ-चमत्कार काव्य नहीं हो सकता।

साहित्य

कुन्तक ने स्वयं प्रश्न उठा कर साहित्य की सार्थकता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। (प्रश्न) वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के (नित्य) विद्यमान होने से इन दोनों (शब्द ओर अर्थ) के साहित्य (सहभाव) का अभाव कभी नहीं होता है। (तब शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह कहने का क्या प्रयोजन है?)

(उत्तर) सत्य है। (सभी वाक्यों में शब्द और अर्थ का सहभाव या साहित्य रहता है) किन्तु यहां विशिष्ट (प्रकार का) साहित्य अभिप्रेत है। कैसा? (विशिष्ट सहभाव अभिप्रेत है। इसका उत्तर देते हैं) वक्रता (सौंदर्य) से विचित्र गुणों तथा अलंकारों की सम्पत्ति (सौंदर्य) का परस्पर स्पर्धा पर आ जाना (रूप विशिष्ट प्रकार का साहित्य काव्यत्व का प्रयोजक है) इसलिए मेरे मत में सर्वगुण युक्त और मित्रों के समान परस्पर संगत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं। (वही काव्य पद वाच्य होते हैं)[2]

साहित्य का अर्थ उन्होंने शब्द और अर्थ का समान महत्त्व माना है···किसी

1. हिन्दी व०, 1.7, कारिका की वृत्ति पृ० 18
2. हिन्दी व०, 1.17 वीं कारिका की वृत्ति पृ० 25, 26

एक का भी महत्त्व न अधिक हो और न कम···

साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम् ।

'क्योंकि समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। शब्द भी काव्योपयोगी (चमत्कारी) अर्थ के अभाव में (किसी असाधारण), अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत सा प्रतीत होने लगता है।[1]

कुन्तक के मतानुसार साहित्य शब्द का अर्थ हुआ···शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य। यह विशिष्ट सहभाव है···चमत्कारपूर्ण। तद्विदाल्हादकारी का अर्थ है तद् (काव्य के) विद् (मर्मज्ञ) को आह्लादकारी। कुन्तक का तद्विदाल्हाद से तात्पर्य सहृदय के आह्लाद से ही है। निष्कर्षतः कुन्तक के अनुसार काव्य उस कवि-कौशल पूर्ण रचना को कहते हैं जो अपने शब्द-सौंदर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्य-मर्मज्ञ को आह्लाद देती है।

डा० नगेन्द्र ने आधुनिक काव्यशास्त्र की पदावली में कुन्तक की स्थापनाओं को इसप्रकार प्रस्तुत किया है:

1. काव्य में वस्तुतत्त्व और माध्यम का—अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य रहता है।

2. काव्य का वस्तुतत्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है। अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो सामान्यता में प्रभावहीन हो गये हैं—वरन् उन अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है जो रमणीय अर्थात् विशेष प्रभावोत्पादक होते हैं।

3. काव्य में अभियंजना की अद्वितीयता रहती है। अर्थात् किसी विशेष अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए केवल एक ही शब्द अथवा शब्दावली का प्रयोग सम्भव होता है।

4. अलंकार काव्य का मूल तत्व है, वाह्य भूषण मात्र नहीं है। अतएव अलंकार और अलंकार्य में मौलिक भेद नहीं है...केवल व्यवहार के लिए भेद मान लिया जाता है।

5. काव्य का काव्यत्व कवि कौशल पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

6. काव्यमर्मज्ञों का मन प्रसादन काव्य की कसौटी है।[2]

डा० नगेन्द्र ने उपरोक्त शब्दों में आचार्य कुन्तक की काव्यस्वरूप संबंधी स्थापनाओं को समुचित एवं स्तुत्य ढंग से प्रस्तुत एवं आख्यायित किया है।

---

1. हिन्दी व० : 1.9वीं कारिका की वृत्ति
2. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, द्वि० सं०, पृ० 153

कुन्तक मूलतः देहवादी आचार्य होने के कारण भामह, दण्डी तथा वामन के साथ स्वभाव से ही अधिक घनिष्ठ हैं। अंलकारवादी अलंकार में ही काव्य सौंदर्य निहित मानते हैं। कुन्तक ने इसी व्यापक अर्थ वाले अलंकार को वक्रोक्ति संज्ञा दी है।

लक्षण की दृष्टि से कुन्तक की काव्य परिभाषा अधिक सफल नहीं कही जा सकती। उन्होंने भामह के लक्षण को ही, कुछ विशेषण लगाकर प्रस्तुत किया है। भामह ने सहित रूप में प्रयुक्त शब्द अर्थ को काव्य कहा था...कुन्तक ने इस लक्षण को अनिश्चित तथा अतिव्याप्त माना। अनिश्चित इसलिए कि साहित्य शब्द का अर्थ अथवा यों कहिये कि साहित्य (सहभाव) का स्वरूप स्पष्ट नहीं है और अतिव्याप्त इसलिए कि शब्द अर्थ का सहभाव तो प्रत्येक वाक्य में रहता है।[1] कुन्तक का स्पष्टीकरण अधिक अच्छा नहीं है। भामह का लक्षण ही सर्वमान्य रहा है।

कुन्तक का गौरव काव्य का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत करने में नहीं है। उनका महत्व भामह के लक्षण सूत्र की व्याख्या करने में है। वास्तव में उन्होंने शब्द, अर्थ तथा साहित्य—भामह के इन तीन शब्दों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस व्याख्या के लिए उन्होंने ध्वनिवादियों को भी महत्व दिया। कुन्तक की 'साहित्य' की व्याख्या अपूर्व है। उनसे पहले किसी ने ऐसी सुन्दर व्याख्या नहीं लिखी। कुन्तक भी इस तथ्य से परिचित थे। उन्होंने स्वयं लिखा है :

यह साहित्य इतने असीम समय की परम्परा में केवल साहित्य शब्द से प्रसिद्ध हो रहा है। कवि-कौशल के कारण रमणीय इस (साहित्य शब्द) का वास्तविक अर्थ है, इस बात का आज तक किसी विद्वान ने तनिक भी विचार नहीं किया। (अब तक इसका रसास्वादन ही हुआ है, विश्लेषण विवेचन नहीं)।[2]

कुन्तक की मौलिकता लक्षण में न होकर लक्षण के व्याख्यान में है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में कुन्तक का विवेचन सबसे अधिक आधुनिक है। इसकी वैज्ञानिक दृष्टि निर्विवाद रूप से समीक्षा का एक ऐसा आधार प्रस्तुत करती है जो इसे युगानुरूप बनाने में सक्षम है।

काव्य का प्रयोजन

भारतीय काव्यशास्त्र की संपुष्ट परम्परा से 'काव्य' के विविध रूपों का विशद विवेचन मिलता है। इस समृद्ध परम्परा के अनुसार ही कुन्तक ने भी अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही काव्य प्रयोजन का विशद निरूपण किया है:

काव्य बंध (काव्य) उच्चकुल में समुत्पन्न (परिश्रमहीन और सुकुमार स्वभाव

1. भा० का० भू०—नगेन्द्र, पृ० 155
2. हि० व० जी० 1.16 करिका की वृत्ति, पृ० 60

राजकुमारादि) के लिए, हृदय को आह्लादित करने वाला और कोमल मृदु शैली में कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है।[1]

व्यवहार करने वाले (लौकिक) पुरुषों को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा आदि का सौंदर्य सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता हैं।[2]

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वालों (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी बढ़ कर चमत्कार उत्पन्न करता है।[3]

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन हैं:

1. चतुर्वर्ग फल प्राप्ति
2. व्यवहार औचित्य का ज्ञान
3. चतुर्वर्ग फलास्वाद से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति।

चतुर्वर्गफल प्राप्ति—चतुर्वर्ग...धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति काव्य का एक महत्वपूर्ण प्रयोजन है। कुन्तक ने इस संदर्भ में दो बातें कही हैं:

राजपुत्र आदि वैभव को प्राप्त करके समस्त पृथ्वी (राज्य) के व्यवस्थापक बन कर उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण समस्त उचित लोक व्यवहार का नाश करने में समर्थ हो सकते हैं।[4] तात्पर्य यह है कि राजकुमारों को धर्मादि पुरुषार्थों से सम्पन्न होना चाहिए। अन्यथा वे उचित शिक्षा के अभाव में सम्पूर्ण राज्य में शक्ति एवं वैभव प्राप्त करके, अव्यवस्था उत्पन्न कर देंगे। राजकुमार आदि राज्य के भाग्य-विधायक होते हैं। उनका प्रभाव सम्पूर्ण राज्य पर होता है। अतः वे पूरे समाज के प्रतिनिधि तथा समष्टि के प्रतीक होते हैं। यदि वे शिक्षा अथवा काव्य के द्वारा कुशल बन जायेंगे तो राज्य के सभी लोग कुशल हो सकेंगे। भारतीय काव्यशास्त्र में राजकुमारादि शब्दों का प्रयोग प्रतीक अर्थ में किया गया है। 'अभिजात' शब्द से संस्कार शीलता की ध्वनि भी निकलती है। 'अभिजात्य में धन वैभव की व्यंजना इतनी अधिक नहीं हैं, जितनी कि संस्कारिता की।[5] राजकुमार आदि उत्तम वंश में पैदा होते हैं तथा उत्तम एवं भद्र वातावरण में

1. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
   काव्य बन्धोऽभिजातानां हृदयाल्हादकारकः॥ हि० व०, 1.3
2. व्यवहार परिस्पन्द सौन्दर्यव्यवहारिभिः।
   सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥ वही, 1.4
3. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम।
   काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ वही, 1.5
4. हिन्दी व० जी, पृ० 10
5. भारतीय कव्यशास्त्र की भूमिका, द्वि० सं०, पृ० 157

पोषित होते हैं, अतः स्वभावतः ही वे संस्कारवान् होते हैं। इसलिए आभिजात्य संस्कारिता का प्रतीक है और अभिजात राजकुमार आदि संस्कारी सहृदय समाज के। कुन्तक ने यह बात स्पष्ट नहीं कही पर उनकी वृत्ति से यही ध्वनित होता है।

कुन्तक का कहना है कि काव्य द्वारा प्रयोजन की सिद्धि शास्त्र की भांति श्रम साध्य न होकर, सहज रूप में हो जाती है। राजकुमारादि सरल एवं सुकुमार होते हैं—वे परिश्रम नहीं कर सकते इसलिए उनके लिए शास्त्र की विधि अनुकूल नहीं पड़ती और उनके लिए काव्य की विधि ही समीचीन है। शास्त्र की साधना कठिन होती है।

शास्त्रादि सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में दुरूह आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुःखदायी होता है।[1]

इसके विपरीत काव्य की विधि सुकुमार है। मम्मट का 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' कुन्तक का 'सुकुमार क्रमोदित' ही है।

चतुर्वर्ग फल प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन बतलाकर भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं जिसमें कहा गया है कि काव्य मनोरंजन का साधन मात्र न होकर जीवन के परम पुरुषार्थों का साधनोपाय है। भामह, रुद्रट और परवर्ती विश्वनाथादि ने भी चतुवर्गफल प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना है—

भामह—उत्तम काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ काम, मोक्ष रूप चतुवर्ग-फल-प्राप्ति कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) की उपलब्धि होती है।[2]

रुद्रट—रसिक जन नीरस शास्त्रों से भय खाते हैं अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुवर्ग की प्राप्ति हो जाती है।"[3]

विश्वनाथ—काव्य द्वारा मंदबुद्धि भी सरल और रुचिकर विधि से चतुवर्ग—अर्थात् धर्म, अर्थ काम, मोक्ष—इन चार परम पुरुषार्थों को प्राप्त कर लेते हैं।[4]

कुन्तक का यह काव्य का प्रथम प्रयोजन भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में है और विश्वनाथ का कथन तो कुन्तक के कथन की व्याख्या जैसा ही प्रतीत होता

---

1. हि० व० जी०, पृ० 13
2. धर्मार्थ काम मोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम्॥

   काव्यालंकार, 1.2
3. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगश्चतुर्वर्ग।
   लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥

   रुद्रट-काव्यालंकार, 12.1
4. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि—साहित्यदर्पण, 1.2

है। चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति को सभी काव्यशास्त्रियों ने काव्य का प्रयोजन बतलाया है।

व्यवहार औचित्य का परिज्ञान

कुन्तक स्वयं लिखते हैं—व्यवहार अर्थात् लोकाचार के सौंदर्य का ज्ञान व्यवहार करने वाले जनों को उत्तम के परिज्ञान से ही होती है।—वह सौंदर्य कैसा है—नूतन औचित्ययुक्त। इसका यह अभिप्राय हुआ कि (उत्तम काव्यों में) राजा आदि के व्यवहार का वर्णन होने पर उनके अंगभूत प्रधानमंत्री आदि सब ही अपने उचित कर्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही वर्णित होने से व्यवहार करने वाले समस्त जनों का (उनके उचित) व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए सुन्दर काव्यों में परिश्रम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति लोक-व्यवहार की क्रियाओं में सौंदर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है।[1]

इस व्याख्या से दो बातों का पता चलता है···एक तो व्यवहार सौंदर्य से तात्पर्य ऐसे व्यवहार से है जो पात्र, परिस्थिति और मर्यादा के अनुकूल किया जाता है तथा वह रमणीय एवं आकर्षक होता है। दूसरी बात है कि फलका भोक्ता केवल राजकुमार ही नहीं अपितु प्रत्येक सहृदय है। यह बात ठीक है कि काव्य में नायक प्रतिनायक राज-वंश के होते हैं और उनका अनुकरण सभी सामान्य जनों के लिये उचित न हो, परन्तु काव्य में इसके अतिरिक्त अन्य पात्र भी हुआ करते हैं। कुन्तक ने इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वयं शंका उठाई है कि काव्य में राजकुमारों का वर्णन होने से सामान्य जन किस प्रकार लाभ उठा सकते हैं। इसका उन्होंने सामान्य विवेक के आधार पर यह समाधान दिया है कि काव्य में अनेक पात्र तथा परिस्थितियों का चित्रण होता है और प्रत्येक सहृदय अपनी मर्यादा तथा परिस्थिति के अनुसार शिक्षा ग्रहण कर सकता है। लोकाचार की शिक्षा काव्य का व्यवहारिक प्रयोजन है। सत्काव्य के सेवन से व्यवहार-ज्ञान प्राप्त होता है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों में लोक शिक्षण या उपदेश काव्य का प्रयोजन माना गया है। भरत ने स्पष्ट कहा है···"लोकोपदेश जननं नाट्य-मेतद भविष्यति।' अर्थात् नाट्य (या काव्य) लोकोपदेशकारी होता है।

मम्मट ने भी व्यवहार ज्ञान को स्पष्ट शब्दों में 'व्यवहारविद्' स्वीकार किया है।

अन्तश्चमत्कार—काव्यामृत का पान करने पर सहृदय के हृदय में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न होता है जो चतुवर्ग फल प्राप्ति से भी अधिक काम्य है। इसको स्पष्ट करते हुए कुन्तक लिखते हैं:

---

1. हि० व० जी० : 1.4 कारिका की वृत्ति, पृ० 11

इसका अभिप्राय हुआ कि जो चतुवर्ग फल का आस्वाद (अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टय) प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने से सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है। वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की तनिक भी बराबरी नहीं कर सकता है। सुनने में कटु, बोलने में कठिन और समझने में मुश्किल आदि (अनेक) दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुःखदायी शास्त्र संदर्भ, पढ़ने के साथ (तत्काल) ही सुन्दर, चमत्कार (आनन्दानुभूति) को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी (स्पर्धा) किसी प्रकार भी नही कर सकता है।[1]

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुन्तक ने दो अन्तरश्लोक भी लिखे हैं। एक का अर्थ है :

शास्त्र कड़वी औषधि के समान (दुःख जनक होता हुआ) अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है। और काव्य आनन्ददायक (सुस्वादु) अमृत के समान (आनन्द-दायक होता हुआ) अज्ञान रूप रोग का नाश करता है।[2]

इस प्रकार कुन्तक आनन्द को काव्य की परमासिद्धि मानते हैं। वे इसे चतुवर्ग फल प्राप्ति से भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि काव्य अध्ययन के समय भी और इसके उपरान्त भी आह्लाद देता है। इस विषय में सभी पूर्ववर्ती आचार्य एक मत हैं। सभी आचार्यों ने आनन्द के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है।

काव्य में आनन्द की महत्ता स्वतः स्पष्ट है। अलंकारवादियों और रसवादियों के सिद्धान्तों के विश्लेषण से दोनों की आनन्द कल्पना में थोड़ा सा भेद दृष्टिगोचर होता है। अलकारावदियों का आनन्द अथवा चमत्कार बहुत कुछ बौद्धिक है, उसमें कुतूहल का भी पर्याप्त अंश विद्यमान है किन्तु रसवादियों के आनन्द में मानसिक शारीरिक संवेदनों का अपेक्षाकृत प्राधान्य है और यह शुद्ध अनुभूतिमूलक आनन्द है। वेदान्तर-शून्य तन्मयता इसी आनन्द में है। कुन्तक ने अपने आनन्द के लिए अन्तश्चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। और चमत्कार, चमत्कृति तथा आह्लद शब्द का प्रयोग भी उसमें प्राप्त है। उन्होंने कुतूहल आदि का निरस्कार किया है। इस प्रकार हम कह सकते है कि कुन्तक हैं तो अलंकारवादी पर उनकी आह्ललाद-कल्पना रसवादियों के अधिक निकट है। कुन्तक का आनन्द मनोरंजन अथवा कुतूहल न होकर गंभीर प्रकृति का आनन्द है।

कुन्तक ने उपरोक्त तीनों प्रयोजन सहृदय की दृष्टि से ही बतलाये हैं, कवि

---

1. हि० व० जी० : 1.5 वीं कारिका की वृत्ति, पृ० 13
2. कटुकाषधवच्छास्त्रमविधा व्याधिनाशनम्।
   आह्लद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापह्य॥

   हि० व० जी०, पृ० 13

की दृष्टि से नहीं। मम्मट ने आगे चलकर काव्य के 6 प्रयोजन बतलाये—यश, अर्थ, शिवेतरक्षता (अकल्याण की निवृति)—कवि की दृष्टि से—व्यवहारज्ञान, सद्यः पर निवृति और कान्ता सम्मित उपदेश—सहृदय की दृष्टि से।[1] यह उन्होंने भामह और वामन आदि के काव्य प्रयोजनों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया था। कुन्तक ने कवि की दृष्टि से काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसके दो उत्तर हो सकते हैं—एक तो कुन्तक उन्हें कवि के लिए स्वतःसिद्ध मानकार चलते हैं। दूसरे काव्य में ये तीन प्रयोजन ही काम्य हैं जो निश्चय ही उभयनिष्ठ है—यश तथा अर्थ, कुन्तक जैसे गम्भीर चेता आचार्य की दृष्टि में नगण्य हैं।

कुन्तक ने काव्य प्रयोजन के विवेचन में कोई मौलिक उद्भावना नही की क्योंकि इन तीनों प्रयोजनों का वर्णन अन्यत्र भी प्राप्य है। कुन्तक की गरिमा इस बात में है कि उन्होंने केवल गंभीर प्रयोजनों का वर्णन किया तथा उनमें आह्लाद अर्थात् आनन्द को मूर्धन्य स्थान पर स्थापित किया। उन्होंने काव्य के वे तीन प्रयोजन ही स्वीकार किये जो व्यापक, प्रभावशाली एवं उदात्त हैं।

काव्यहेतु

कुन्तक ने काव्यमार्ग के प्रसंग में कवि स्वभाव की व्याख्या करते हुए शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास—इन तीन काव्यहेतुओं का निदेश किया है :

सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की (सुकुमार) सहज शक्ति उत्पन्न होती है—शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होने से। और उन (सुकुमार शक्ति) से उसी प्रकार की सौकुमार्य-रमणीय (सुकुमार) व्युत्पति की प्राप्ति होती है। उन दोनों से सुकुमार मार्ग से अभ्यास किया जाता है।[2] इस प्रकार कुन्तक ने भी काव्य शास्त्रीय परम्परा के अनुसार शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास को ही काव्य हेतु माना है। पर कुन्तक की मौलिक बात यह है कि वे इन्हें कवि स्वभाव के आश्रित मानते हैं। कवि की प्रतिभा के अनुसार व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के अनुसार ही काव्याभास होगा। इस प्रकार वे इन तीनों को अन्योन्याश्रित भी मानते हैं। इसी प्रकार व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा का ही परिपोष करते हैं। उनका कहना है कि 'काव्यरचना की बात छोड़ दे तो भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्र वाले किसी व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता हैं। और वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की

---

1. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।। ?
2. हि० व० जी० : 1.24 वीं कारिका की वृत्ति.

अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव तथा उन दोनों के उपकार्य एवं उपकारकभाव से स्थित होने से, स्वभाव उन दोनों को (व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को) उत्पन्न करता है और वे दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं।'[1]

कुन्तक का अभिप्राय यह है कि कवि का स्वभाव ही मूर्धन्य पर स्थित है। उसी के अनुसार कवि शक्ति या प्रतिभा होती है तथा उसी के अनुसार वह लोक तथा शास्त्रज्ञान का अर्जन करता है तथा उसी के अनुकूल उसका काव्य अभ्यास हुआ करता है। उनका यह कथन आधुनिक शिक्षाशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय देता है।

कुन्तक के इस विशद विवेचन से निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कुन्तक के सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है;

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली वक्रोक्ति है। यह कैसी है? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि कर्म कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता), उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। (संक्षेप में) विचित्र अभिधा (वर्णन शैली) का नाम वक्रोक्ति है।[2]

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यह कहा जा सकता है।

1. वक्रोक्ति विचित्र अभिधा (कथन प्रकार) है।

2. विचित्र का एक अर्थ है—प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न। प्रसिद्ध का अर्थ है शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त।

3. विचित्र का दूसरा अर्थ है—वैदग्ध्य से पूर्ण अर्थात् शोभा से परिपूर्ण।

4. वैदग्ध्य का अर्थ है कर्मकौशल। इसलिए वैदग्ध्यपूर्ण का अर्थ हुआ कविकौशल जन्य चमत्कार।

5. कविकौशल के लिए कवि व्यापार शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

6. वक्रोक्ति में मनः प्रसादन की क्षमता भी होनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन को हम डा० नगेन्द्र के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं:

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति उस युक्ति अथवा कथन शैली का नाम है जो

---

1. हि० व० जी०—1.24 वीं कारिका की वृत्ति, पृ० 103
2. वक्रोक्ति, प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी, विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्य-भंगी भणितिः। वैदग्ध्य विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्यभङ्गी विच्छित्तिः, तथा भणितिः। विचित्रैवाभिधाः वक्रोक्तिरुच्यते।

   हि० व० जी० 1.10 कारिका की वृत्ति, प० 51
3. शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनी : हि० व० जी०, 1.7

लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न, कवि प्रतिभाजन्य चमत्कार के कारण सहृदय आह्लादकारी होती है।

इस विवेचन से तीन मूल सिद्धान्त सामने आते हैं:

1. काव्य की शैली शास्त्र और लोक-व्यवहार की शैली से भिन्न होती है।

2. काव्य का मूल हेतु है, कवि की प्रतिभा और स्वभाव। कवि काव्य का माध्यम मात्र नहीं है वह कर्ता है। काव्य कवि का कर्म है।

3. प्रतिभा इस जन्म और पूर्वजन्म के संस्कारों का परिपाक है।[1]

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली भिन्न होती है, ऐसा भेद कुन्तक ने पहली बार नहीं किया है, इससे पहले भी इस दिशा में मनीषी आचार्यों ने निर्देश किया है:

भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय मानते हुए लोकातिक्रान्त गोचरता को इसका मूल तत्व माना है।[2] दण्डी ने स्पष्ट रूप से वाङ्मय के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो भेद किए हैं। उनका कहना है कि स्वभावोक्ति का साम्राज्य शास्त्र में है और वक्रोक्ति का काव्य में। अभिनवगुप्त ने काव्य की वक्र शैली और लोक-सामान्य की ऋजु-रुढ़ शैली में मौलिक भेद स्वीकार किया है। कुन्तक के समसामयिक भोज ने भी यह पार्थक्य स्पष्ट निर्दिष्ट किया है। शास्त्र और लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अवक्र अर्थात् वैचित्र्य रहित वचन को उन्होंने वचन-भाव है और अर्थवाद आदि में प्रयुक्त जो वक्र वचन है उनको काव्य की संज्ञा दी है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में यह देखा गया कि काव्य की शैली शास्त्र तथा व्यवहार की शैली से सर्वथा भिन्न रही है। कुछ इसी प्रकार का भेद पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी देखा गया है। अरस्तू ने काव्यशैली की गरिमा का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है।[3]

अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक एडीसन ने लोक व्यवहार की प्रचलित और परिचित शब्दावली को काव्य के सर्वथा अनुपयुक्त माना है—अनेक शब्द सर्वसाधारण के प्रयोग के कारण छुद्र बन जाते हैं। अतएव काव्य को अति-प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की क्षुद्रता से मुक्त रखना चाहिए।" वर्ड्सवर्थ

1. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 163
2. निमित्तता वचो यत्तुलोकातिक्रान्तगोचरम् : काव्यालंकार, 2.81
3. लोसाई क्रिटिकी, पृ० 26

ने आन्दोलन चलाया था कि इस प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए पर यह उनके काव्य-व्यवहार से हो खण्डित हो गया। कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ को उनके ही काव्य से प्रमाण देकर निरुत्तर कर दिया। उन्होंने कहा—कम से कम सभी तर्क प्रधान तथा निबद्ध रचनाओं की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती हैं और होनी चाहिए, जिस प्रकार पढ़ने में और बातचीत करने में भेद होता है।[1]

रिचर्ड्स ने भी भाषा-शैली के दो रूप दिए हैं—वैज्ञानिक भाषा और रागात्मक भाषा।[2] निश्चय ही 'शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की भाषा' के लिए उन्होंने 'वैज्ञानिक भाषा' का प्रयोग किया है और 'काव्य' के लिए 'रागात्मक भाषा' का।

आधुनिक कालीन हिन्दी कवि एवं समालोचक दिनकर ने लिखा है—कविता की भाषा बोलचाल की भाषा हो, इस आन्दोलन का आरम्भ अंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ ने किया था और हिन्दी में कदाचित् स्वयं भारतेन्दु ने। किन्तु अब तक के प्रयोगों से काम पूरा नहीं हुआ। कविता बार-बार अपने लिए विशिष्ट भाषा उत्पन्न कर लेती है।[3]

उपरोक्त विवेचन को सार रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि काव्य की भाषा निश्चय ही शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की भाषा से भिन्न रही है। कुन्तक ने इसी कथन की पुष्टि की है। यह कथन मौलिक तो भले ही न हो पर उनका काव्य-सिद्धान्त इसी पर टिका है तथा यह पूर्णरूपेण मनोवैज्ञानिक है।

काव्य में कवि का कर्तृत्व

काव्य में कवि के कर्तृत्व को कुन्तक ने प्राधान्य दिया है। संस्कृत के काव्य-शास्त्र में कवि के कर्तृत्व की स्वीकृति तो रही है पर व्यवहार रूप में हमारे काव्य-शास्त्र में वस्तुरूप का इतना अधिक विवेचन हुआ है कि उसमें कर्तृत्व पक्ष दब सा गया है। रसवादियों में भोक्तृपक्ष ही प्रबल है, कर्तृपक्ष नहीं। उन्होंने सहृदय मानस का तो सूक्ष्म विश्लेषण किया है पर कवि मानस की उपेक्षा की है। कुन्तक ने समस्त काव्य के मूल तत्व वक्रोक्ति को कवि-व्यापार जन्य घोषित किया है। कुन्तक ने काव्य का अर्थ मूलतः कविकर्म ही माना है।

हमारे यहां भी तथा पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी वस्तु को अधिक महत्त्व दिया गया है। महाकाव्य नाटक आदि में विषयवस्तु तथा नेता विषयक नियम निश्चय ही वस्तुपरक दृष्टि के प्रमाण हैं। रस प्रसंग में भी जो मूलतः आत्मपरक

---

1. बायग्रेफिया लिटरेरिया : कॉलरिज, पृ० 177
2. प्रिंसिपिल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० 268
3. अर्धनारीश्वर (प्र० सं०), पृ० 65

हैं, भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का संयोजन बहुत कुछ वस्तु परक बन गया है। शुक्ल जी ने भी विषय की गरिमा पर विशेष बल दिया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी महान विषयवस्तु (ग्रेट थीम्स) पर विशेष जोर दिया गया है। लांजाइनस, स्विनवर्न और क्रोचे आदि ने इसका विरोध किया। पर वस्तुपरक दृष्टि वाले आलोचकों का स्वर ही मुखर रहा है।

कुन्तक ने कवि को माध्यम मात्र न मानकर काव्य का कर्ता माना हैं। काव्य की शोभा कवि का उत्पाद्य है। कवि वस्तु का नहीं अपितु काव्यशोभा का उत्पादक है। वे कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य का मूल प्रेरक तत्व मानकर चले हैं। वे कवि के स्रष्टा और भोक्ता रूप को एक नहीं मानते। कुन्तक काव्य के समग्र सौंदर्य को कवि कौशल से उत्पन्न हुआ मानते है। यह भारतीय काव्यशास्त्र की एक महान उपलब्धि है और आचार्य कुन्तक इसके मौलिक उद्भावक हैं।

प्रतिभा

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा का बड़ा ही महत्व रहा है प्रतिभा में मूल शब्द है 'भा' अर्थात् चमक या झलक। 'प्रति' उपसर्ग के योग से यह 'प्रकाश विशेष' का अर्थ देता है। यह ऐसा प्रकाश है जिसमें दूसरी वस्तु का रूप भी प्रकाशित हो उठे। संस्कृत शास्त्र में प्रतिभा की विभिन्न परिभाषाओं में यह अर्थ किसी न किसी अर्थ में निहित रहता है।

दण्डी के अनुसार प्रतिभा या प्रतिमान पूर्व वासना के गुणों से सम्बद्ध है।[1] वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज स्वीकार किया और उसको जन्मान्तरागत संस्कार विशेष माना है।[2] अभिनवगुप्त ने इसे प्राक्तन संस्कार माना है।[3] हेमचन्द्र आदि कुछ आचार्यों ने इसे परम्परानुसार जन्मजात न मानकर इसके दो भेद भी किये हैं—जन्मजात और कारण जन्य—इनको सहजा और औपाधिकी भी कहा गया है। पं० जगन्नाथ का भी ऐसा ही मत है। वे सहजा प्रतिभा को जन्मजात और औपाधिकी को व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का परिपाक मानते हैं। यूरोप में प्रतिभा का विवेचन प्राप्य है। वहां इसे जन्मजात नहीं माना गया क्योंकि ईसाई दर्शन में इसे स्वीकृति नहीं मिल सकती। पर वे भी वंशप्रभाव एवं पितरप्रभाव को मान्यता देते हैं। गाल्टन का कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है:

"मैं अपनी इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए कि प्रतिभा वंश क्रमागत होती है,

---

1. पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभावमद्भुतम् : काव्यादर्श, 1.904.
2. कवित्वबीजं प्रतिभानम्। जन्मान्तरागत संस्कार विशेषः कश्चित्।
3. अनादिप्राक्तन संस्कारप्रतिभानमयः : अभिनव भारती, खण्ड 1

यह दिखाना चाहता हू कि प्रसिद्ध व्यक्तियों के वंश जन प्रायः प्रसिद्ध ही होते हैं।[1]

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा का दूसरा नाम शक्ति भी है। प्रतिभा एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। भट्टतौत और अभिनवगुप्त का मत है कि नव-नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है—प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। अभिनवगुप्त ने इसी परिभाषा को और भी विस्तृत रूप दिया है—प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा—अर्थात् अपूर्व रूपों की सृष्टि करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है। कवि प्रतिभा इसी का एक विशेष प्रकार है:

तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्य सौंदर्यकाव्य निर्माणक्षमत्वम्।[2]

अर्थात् कवि प्रतिभा, प्रतिभा का वह विशिष्ट रूप है जिसके द्वारा रसाविष्ट कवि काव्य सृजन में समर्थ होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामान्य रूपों की सृष्टि करने वाली शक्ति सामान्य प्रतिभा है और रसात्मक रूपों की सृष्टि करने वाली शक्ति काव्य प्रतिभा।

रुद्रट का मत है कि समाहित चित्र में जिसका उन्मेष होने पर प्रसन्न पदावली में अभिधेय अर्थ का अनेक प्रकार से स्फुरण होता है, वही शक्ति अथवा प्रतिभा है।[3]

महिमभट्ट का मन्तव्य है कि रसानुकूल शब्द अर्थ के चिन्तन में तल्लीन समाहित चित्त कवि की प्रज्ञा ही, जबकि वह शब्द अर्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त हो उठती है तो प्रतिभा संज्ञा को धारण करती है।[4] यहां महिमभट्ट के अनुसार भी प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक रूप है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार मनुष्य की मौलिक बौद्धिक शक्ति का नाम प्रज्ञा है। यह उसके जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का परिपाक है। प्रज्ञा के अनेक रूप एवं कार्य हैं। प्रतिभा इसका एक विशेष रूप है। प्रतिभा नव-नव रूपों का उन्मेष एवं सृजन करती है। साहित्यशास्त्र में प्रतिभा के इसी रूप का वर्णन मुख्य रूप से हुआ है।

---

1. वंशक्रमागत प्रतिभा : भूमिका, पृ० 5
2. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 29
3. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्याम सो शक्तिः॥ —का० अ०, 1.15
4. रसानुगुण शब्दार्थ चिन्तास्तिमितचेतसः।
   क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥—हि० व० जी, पृष्ठ 45

पश्चिम में प्रतिभा के स्वरूप का विवेचन मनोविज्ञान शास्त्र के अन्तर्गत विशद रूप से हुआ है। मनोविज्ञान के अनुसार प्रतिभा का अर्थ है असाधारण कोटि की मेधा अथवा असामान्य सहज (मानसिक) शक्ति।[1] रिचर्ड्स के अनुसार अस्त व्यस्त ऐन्द्रिय संबोधनों अथवा प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिबिम्बों को समन्वित कर पूर्ण बिम्बरूपों में ढालना कल्पना का मुख्य कर्तव्य है—"इस प्रकार विशृंखलित तथा असम्बद्ध अन्तर्वृत्तियों को एक समंजस प्रतिक्रिया में ढालती हुई कल्पना सभी कलाओं में अपना अस्तित्व व्यक्त करती है।[2] यह सामंजस्य विधान कल्पना का मूल धर्म है। कालरिज ने इसी समन्वय और जादू की शक्ति के लिए कल्पना का प्रयोग किया है। दार्शनिकों में कांट और क्रोचे ने इसी मत की पुष्टि की है। कांट ने इसे उत्पादनशील कल्पना और क्रोचे ने इसे सहजानुभूति कहा है।

यह सृजनशील कल्पना ही वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त काव्य-निर्माणक्षमा प्रतिभा है।

कुन्तक का प्रतिभा विवेचन

कुन्तक ने पूर्ण आग्रह से प्रतिभा के महत्व को स्वीकार किया है। उनके ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनके प्रतिभा संबंधी विचार बिखरे पड़े हैं। कविप्रतिभा का उनके मत पर गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कुन्तक के अनुसार सम्पूर्ण काव्य विधान का केन्द्र बिन्दु ही प्रतिभा है।

यद्यपि (उपर्युक्त) दोनों (उदाहरणों) में उस (शब्दार्थ के साहित्य) के प्राधान्य से ही काव्यरचना की गई है फिर भी कवि प्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधान रूप से अवस्थित रहती है।[3]

सुकुमार मार्ग का वर्णन करते हुए उन्होंने प्रतिभा का महत्व भी निर्दिष्ट किया है:

सुकुमार मार्ग वह है जहां प्रतिभा से उद्भूत जितना भी वैचित्र्य है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ शोभित रहता है।[4]

प्रतिभा से पैदा हुए सौंदर्य को उन्होंने व्युत्पत्ति साध्य सौंदर्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। कालिदास की प्रशस्ति में कुन्तक ने लिखा है—यह भी

---

1. दी न्यू डिक्शनरी आफ साइकोलौजी
2. रिचर्ड्स : प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० 245
3. यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्रधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः, तथापि कविप्रतिभा प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। : हि० व० जी०, पृ० 32
4. यत्किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वंप्रतिभोदभवं सौकुमार्यं परिस्पन्द स्यन्दि यत्र विराजते॥ : वही : 1.28

इसी कवि के विषय में (इतनी सूक्ष्म) आलोचना की जा सकती है जिसकी सूक्तियों का सौंदर्य सहज सौकुमार्य की मुद्रा से अंकित हो रहा है। केवल आहार्य (व्युत्पत्ति बल से बनावटी) काव्यरचना के कौशल के लिए प्रसिद्ध अन्य के विषय में नहीं।'[1]

इससे पता चलता है कि उन्होंने प्रतिभाजन्य सौन्दर्य को अत्यधिक महत्व दिया है। वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आदि हेतुओं को भी प्रतिभा जन्य ही मानते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि कुन्तक ने प्रतिभा का कीर्तिगान अनेक प्रसंगों में किया है।

प्रतिभा का कृतित्व

कुन्तक ने कवि प्रतिभा को अनन्त माना है—यस्मात् कवि प्रतिभानन्त्यन्नियतत्वं न संभवति।[2] इसीलिए वे उसके कृतित्व का भी अन्त नहीं मानते। प्रतिभा में वह शक्ति है जिससे कि प्रयत्न के बिना ही शब्द अर्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य स्फुरित सा दिखाई देता है।[3] कवि प्रतिभा का मुख्य कार्य शब्द और अर्थ में अपूर्व सौन्दर्य का प्रस्फुरण है। उनका मत है कि अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ में नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है।[4] प्रतिभा सत्तामात्र से प्रस्फुटित कवि के वर्ण्यमान पदार्थों को अतिशयता प्रदान करती है। तात्पर्य यह हुआ कि कवि की प्रतिभा, रूपों का उस अर्थ में आविष्कार नहीं करती अपितु विद्यमान गुणों को ही अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करती है जिससे पदार्थ का स्थूल रूप तो छिप जाता है और एक नवीन रमणीय रूप उत्पन्न हो जाता हैं। रमणीय रूप में वे सहृदय-हृदय-हारी रूप का भी समाहार मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने अलंकार वादियों के अतिशय तथा रसध्वनिवादियों की हृदयहारिता का वर्णन कर एक मौलिक उद्भावना की है।

प्रतिभा के स्वरूप के विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतः समन्वयवादी है। उनके अनुसार प्रतिभा पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक है।[5] कुन्तक ने प्रतिभा को जन्मजात मानने के साथ-साथ विकासशील भी माना है।

---

1. हि० व० जी० 58 वीं कारिका की वृत्ति
2. वही : पृ० 64
3. प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्रवक्रता।
   शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।। : वही : 1.34
4. अम्लान प्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थ... : वही : 1.25
5. प्राक्तनाद्यतन संस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा।
   हि० व० जी०, पृ० 32

वक्रोक्ति वर्गीकरण

कुन्तक ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में कवि-कौशल अथवा काव्य सौंदर्य के पर्याय के रूप में किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को काव्य के अलंकार का पर्याय माना है।

उभावेतावलंकार्यौं तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ।।[1]

शब्द और अर्थ अलंकार हैं और वक्रोक्ति उनका अलंकार है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए जिन साधनों उपसाधनों का प्रयोग करता है वे सभी वक्रोक्ति के भेद हैं। कुन्तक की वक्रोक्ति वर्ण से लेकर प्रवन्ध कल्पना तक तथा उपसर्गादि से लेकर महाकाव्यों तक विस्तीर्ण है। ध्वनिकार ने व्यक्तिपरक दृष्टि से ध्वनि की सार्वभौम सत्ता की स्थापना की थी। कुन्तक ने वस्तुपरक दृष्टि से अलंकार की समष्टिरूपिणी वक्रोक्ति की सार्वभौम प्रभुता स्थापित करने का प्रयास किया है।

भेद-प्रभेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भद किये हैं। ये भेद विस्तार क्रम से वैज्ञानिक पद्धति पर किए गए हैं। वर्ण से प्रारम्भ होकर ये प्रबंध तक विस्तृत हैं :

1. वर्णविन्यास वक्रता
2. पदपूर्वार्ध वक्रता
3. पदपरार्ध वक्रता
4. वाक्यवक्रता
5. प्रकरण वक्रता
6. प्रबन्ध वक्रता

1. वर्णविन्यास वक्रता

यह वक्रोक्ति वर्ण व्यंजनों के सौंदर्य पर आधारित है : 'एक दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार (उसी रूप में) ग्रथित होते हैं, वर्ण-विन्यास वक्रता या वर्णरचना की वक्रता कहलाती है।[2]

---

1. वही : 1.10
2. एको द्वौ बहवो वर्णाः मध्यमानाः पुनः पुनः
   स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ।। : हि० व० जी० 2.1

यह वर्णविन्यास वक्रता वस्तुतः अन्य आचार्यों का अनुप्रास ही है। अनुप्रास में भी व्यंजनों का साम्य ही हुआ करता है। वहां पर भी वही है। कुन्तक ने स्वयं भी कहा—यही वर्ण-विन्यास वक्रता प्राचीन आचार्यों में अनुप्रास नाम से प्रसिद्ध है।[1] वर्णविन्यासवक्रता के कुन्तक ने तीन भेद वतलाये हैं—एक वर्ण की आवृति, दो वर्णों की आवृत्ति, अनेक वर्णों की आवृत्ति।

आगे चलकर कुन्तक ने इस वक्रोक्ति के दूसरी प्रकार से तीन भेद किए हैं—"इसके वे कौन से तीन प्रकार हैं, वह कहते हैं। वर्गान्तर से युक्त स्पर्श। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त से ङकार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्तर योगी हैं। इनकी पुनः पुनः आवृत्ति वर्ण-विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकार है। त ल नादयः अर्थात् तकार, लकार और नकारादि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो वार उच्चारित होकर बार-बार निबद्ध हों (यह वर्ण-विन्यास वक्रता का) दूसरा प्रकार है। उन (वर्गान्तयोगी स्पर्शवर्णों तथा द्विरुक्त तकार, लकार, नकारादि) से भिन्न शेष व्यजन संज्ञक जो वर्ण हैं वे रेफ आदि से संयुक्त रूप में बार-बार निबद्ध हों, यह (वर्ण विन्यास वक्रता का) तीसरा प्रकार है (इन सभी भेदों में पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन) थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए, यह सबके साथ सम्बन्ध है। और वह किस प्रकार के (होने चाहिए) प्रस्तुत (रसादिक अनुरूप) औचित्य अर्थात् उचित रूपता से युक्त अथवा मनोहर। प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु, उसका जो औचित्य अर्थात् उचितरूपता, उससे शोभित होने वाले जो वर्ण वे उस प्रकार के (प्रस्तुतौचित्य शालिनः) हैं। वर्णों की समानता (अर्थात् अनुप्रास) के प्रयोग के कारण (जबर दस्ती) उपनिबद्ध (और इसलिए) प्रस्तुत (वस्तु के सौन्दर्य) को मलिन करने वाले न होने चाहिए। कहीं-कहीं (वीर, वीभत्स, रौद्र, भयानक आदि)कठोर रंगों के प्रसंग में प्रस्तुत (रस) के औचित्य से शोभित होने के कारण उसी प्रकार के वर्णों के प्रयोग की अनुमति दी गई है।[2] संक्षेप में इस प्रकार भी कहा जा सकता है : ये भेद तीन हैं:

1. जहां वर्गान्तयोगी स्पर्शों की आवृत्ति हो
2. जहां त, ल, न आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति हो
3. जहां इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त वर्णो की रेफ आदि से संयुक्त रूप में आवृत्ति हो।

ये वास्तव में वर्ण योजनाओं के विभिन्न प्रकार हैं। प्राचीन आचार्यों की वृत्ति और अनुप्रास का कुन्तक ने इसी में अन्तर्भाव किया है।

---

1. वर्णविन्याम वक्रत्वं चिरन्तनेप्यनुप्रास इति प्रसिद्धम्। वही : पृ० 66
2. हि० व० जी० : 2.2 की वृत्ति, पृ० 173-74

प्राचीनों की वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा और कोमला का भी कुन्तक ने इसी में अन्तर्भाव किया है। यमकादि को भी इसी के अन्तर्गत ले लिया गया है:

'समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक, प्रसादगुणयुक्त, श्रुतिमधुर, (रसादि के) औचित्य से युक्त प्रारम्भ (मध्य तथा अन्त) स्थानों पर शोभित होने वाला जो यमक नामक प्रकार है, वह भी इसी का भेद है।'[1]

इस प्रकार वर्ण-विन्यास के सभी प्रयोगों को कुन्तक ने अपनी 'वर्ण-विन्यास वक्रता' के अन्तर्गत माना है। तथापि वर्ण विन्यास के सभी भेदों की गणना करना और इसके भेदों को परिमित कर देना संभव नहीं है। इसके लिए कुन्तक ने कुछ बन्धन भी आवश्यक माने हैं:

वर्णयोजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए और वे (वर्ण) कैसे होने चाहिए? प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से शोभित। न कि वर्ण-साम्य के व्यसन मात्र के कारण उपनिबद्ध होने से प्रस्तुत वस्तु के औचित्य को मलिन करने वाले।'[2] वर्ण-विन्यास वक्रता अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो और न असुन्दर वर्णों से भूषित हो। उसमें वैचित्र्य होना चाहिए। उसे पूर्ण आवृत्त वर्णों को छोड़कर नवीन के पुनरावर्तन से मनोहर बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त यमकादि की वर्ण-योजना के लिए विशेष रूप से, और साधारण वर्ण-योजना के लिए सामान्य रूप से प्रसादगुण भी सर्वथा आवश्यक है। वर्ण-योजना का का छठा प्रतिबन्ध है श्रुति-पेशलता। अर्थात् प्रस्तुत रसादि के अनुकूल वर्ण-विन्यास में अन्य चाहे कोई भी चमत्कार वर्तमान हो, किन्तु वह श्रुति सुखद तो प्रत्येक स्थिति में होना चाहिए।[3]

कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता को इसी अर्थ में लिया है और यह काव्यशास्त्र का पृथक विषय न रहकर सम्पूर्ण काव्यचक्र का एक अविच्छिन्न अंग बन गया है।

पदपूर्वार्ध वक्रता

वर्ण के पश्चात् काव्य का दूसरा अवयव पद है। अनेक वर्णों का सार्थक समुदाय पद होता है। पद के कुन्तक ने दो भाग किये हैं—पदपूर्वार्ध और पद परार्ध। इन दोनों का वर्णन भी उन्होंने पृथक्-पृथक् ही किया है—व्याकरण में

1. हि० व० जी० : 2.6-7
2. वही : 2.2 कारिका की वृत्ति
3. नातिनिर्बंधविहितानाप्यपेशलभूषिता।
   पूर्वावृत्तपरित्याग नूतनावर्तनोज्ज्वला।।
   वही—2.4

पदपूर्वार्ध का दूसरा नाम प्रकृति भी है। प्रकृति के भी दो प्रकार होते हैं: 1. प्रातिपदिक और 2. धातु। सुबन्त का पद पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहा जाता है। पदपूर्वार्ध वक्रता से तात्पर्य प्रातिपदिक तथा धातु की वक्रता से है। निश्चय ही पदों में वैचित्र्य का समावेश कविकर्म की एक पहचान है, और इससे कविकर्म कौशल का उद्घाटन होता है।

पदपूर्वार्ध वक्रता के 8 प्रमुख भेद हैं—1. रूढ़िवैचित्र्य वक्रता, 2. पर्याय-वक्रता, 3. उपचार वक्रता 4. विशेषणवक्रता, 5. संवृत्ति वक्रता, 6. वृत्ति-वक्रता 7. लिंगवैचित्र्य वक्रता, 8. क्रियावैचित्र्य वक्रता। कुछ विद्वानों ने प्रत्यय वक्रता और आगमवक्रता भी गिनाये हैं।

रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता

जहां लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा का कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की रूढ़ि से असंभव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप गर्भित रूप में कहा जाता है, वह कोई (अपूर्व सौंदर्यधायक) रूढ़िवैचित्र्य वक्रता कही जाती है।[1]

यह वक्रता रूढ़ि के वैचित्र्य पर आश्रित है। शब्द के नियत बोधकत्व रूपधर्म को रूढ़ि कहा जाता है। अर्थ विशेष पर दूसरे अर्थ का अध्यारोप रूढ़ि वैचित्र्य कहा जाता है। वास्तव में कोई चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रूढ़ अर्थ का अन्य अर्थ में संक्रमण कर दिया जाता है। कविता में अर्थ विस्तार को प्राप्त होता है। कोष के रूढ़ अर्थ से भिन्न काव्य में अर्थ की विच्छित्ति कुछ और हो होती है।

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता ध्वनिकार के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का पुनराख्यान है। इसको स्पष्ट करने के लिए कुन्तक ने उदाहरण भी ध्वन्यालोक से ही लिये हैं। डा० नगेन्द्र ने इसको स्पष्ट करते हुए तुलसीदास को उद्धृत किया है:

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो में राम तो कुलसहित कहहिं दशानन आइ॥

यहां राम के रूढ़ अर्थ का चमत्कार है।[2] इस प्रकार का रूढ़ि वैचित्र्य पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी वर्णित है। लोंगिनुस का कथन है कि 'यह स्वाभाविक ही है कि व्यक्ति वाचक संज्ञाओं को इस प्रकार एक के बाद एक एकत्रित कर देने से कोई भी विषय हमारे कानों को कहीं अधिक सप्रभाव प्रतीत होगा।'[3]

---

1. हि० व० जी० 2.8-9
2. वक्रोक्ति सिद्धान्त की भूमिका, पृ० 60
3. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० 85

2. पर्यायवक्रता

पर्याय पर आश्रित वक्रता का नाम पर्यायवक्रता है। पर्याय से अभिप्राय है समानार्थक संज्ञा शब्द। जब विशेष संदर्भ में किसी भी शब्द के निकटतम अर्थ के पोषक पर्याय शब्द का प्रयोग होता है वहां पर यह पर्याय वक्रता हुआ करती है। कुन्तक ने कहा है—जो वाच्य का अन्तरतम, उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उस वाच्यार्थ को सुशोभित करने में समर्थ है,

जो स्वयं (बिना विशेषण), अथवा विशेषण के योग से भी अपने सौंदर्यातिशय के कारण मनोहर है, और जो असंभव अर्थ के आधार रूप में भी वाच्य होता है,

जो अलंकार से संस्कृत होने अथवा अलंकार का शोभाधायक होने से मनोहर रचना से युक्त है,

ऐसे पर्याय अर्थात् संज्ञा शब्द (के प्रयोग) से परमोत्कृष्ट पर्याय वक्रता होती है।[1]

पर्यायवक्रता वस्तुत: सुष्ठु अभिव्यक्ति की खोज है। प्रत्येक शब्द की अपनी आत्मा होती है और अपना संगीत। शब्द का यह सुष्ठु चयन ही पर्याय वक्रता है। कुन्तक ने इस पर्यायवक्रकता के छः अवान्तर भेद किये हैं:

1. पर्याय अपने वाच्यार्थ का अन्ततम होता है।
2. वाच्यार्थ के अतिशय के पोषक पर्याय शब्द से दूसरा भेद निष्पन्न होता है।
3. तीसरा प्रकार है कि कोई पर्याय शब्द स्वयं अथवा अपने विशेषण के सम्पर्क से अपने अभिधेय अर्थ को, रम्य छायान्तर से विभूषित करता प्रतीत हो। यह वाच्यार्थ से भिन्न रमणीय श्लिष्टत्व आदि रूप सौंदर्य विशेषण के संयोग से सम्पन्न होता है।
4. पर्यायवक्रता का चौथा भेद है। जो अभिधेयार्ध की अपनी छाया या सुकुमारता से पेशल अर्थात् मनोहारी हो।
5. पांचवां भेद है कि सामान्य शब्द से किसी असंभाव्यतुल्य अर्थ विशेष को बोधित कराने के अभिप्राय को अपने मन में रखकर कवि जिस शब्द विशेष रूप को प्रयुक्त करता है।
6. छठा भेद है कि कहीं पर्याय स्वयं अलंकार युक्त होता है और कहीं अलंकार की ही शोभा उसके आश्रित होती है।

---

1. हि० व० जी०—2.10, 11, 12

उपर्युक्त सभी भेद हि० व० जी० की 2.10 वीं, 11 वीं, 12 वीं कारिका की व्याख्या करने से स्पष्ट हो जाते हैं।

आधुनिक भाषा में पर्यायवक्रता अर्थ विवेक का सूक्ष्म बोध है।

3. उपचार वक्रता

कुन्तक के शब्दों में 'उप अर्थात् सादृश्यवश गौणचरण अर्थात् व्यवहार को उपचार कहते हैं—किसी अन्य वस्तु के सामान्य धर्म का, लेशमात्र संबंध से भी, दूरान्तर वस्तु पर आरोप उपचार कहलाता है।'[1] उपचार को परिभाषित करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि 'दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में उनके अधिकाधिक साधर्म्या अथवा सादृश्य के कारण, उनकी परस्पर भिन्नता की प्रतीति का स्थगित हो जाया करना, उपचार है।'[2]

उपचारवक्रता का दर्शन सादृश्य है—असदृश्य वस्तुओं का सादृश्य। कुन्तक ने उपचारवक्रता के चार-पांच उदाहरण दिये हैं और कहा है कि इसके सहस्त्रावधि भेद हो सकते हैं।

(अ) अमूर्त्त पर मूर्त्त का आरोप

'स्निग्ध श्यामल कान्तिलिप्तवियत:'[3]

अर्थात् अपनी चिकनी और कृष्णवर्ण कान्ति से आकाश को लिप्त करने वाले (बादल)। लेपन द्रव्य मूर्त्त हुआ करता है, पर यहां लेपन द्रव्य रूप श्यामल कांति और आकाश दोनों ही अमूर्त्त हैं।

(ब) अचेतन पर चेतन का आरोप

'मदमाते बादलों से युक्त आकाश, धाराओं से आन्दोलित अर्जुन वृक्षों के वन, निरहंकारमयंका (गर्व रहित चन्द्रमा वाली) काली रातें भी मन को हरती हैं।'[4]

यह मतत्व (मस्ती) और निरहंकारत्व आदि चेतन के धर्म-सामान्य मेघ और चन्द्रमा आदि पर उपचार से आरोपित हैं।

(स) रूपकादि अलंकार की मूलाधार उपचार वक्रता

'अतिगुरुवो राजमाषा न भक्ष्या:।'[5]

---

1. हि० व० जी०-2.93
2. हिन्दी साहित्यदर्पण : डा० सत्यव्रत सिंह, पृ० 66
3. हि० व० जी०, पृ० 227
4. वही-पृ० 229
5. वही: पृ० 230

राजमाषा अर्थात् उरद-राजा का अन्न नहीं खाना चाहिये क्योंकि वह बहुत भारी मंहगा पड़ता है। यहा अलंकार का सौंदर्य उपचार पर आश्रित है। इस प्रकार रूपकादि के अन्य कई उदाहरण दिये गये हैं।

उपचारवक्रता सदृश्य ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विशेषण विपर्यय एवं मानवीकरण के चमत्कार हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य तो उपचार वक्रता से भरा पड़ा है।

4. विशेषण वक्रता

विशेषणों का सौंदर्य श्रेष्ठ कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता है। उसका सौंदर्य विशेषणों पर आश्रित है और इसी कारण विशेषणवक्रता का महत्व और भी अधिक है। कुन्तक के अनुसार—जहां कारक या क्रिया के माहात्म्य या प्रभाव से वाक्य का सौंदर्य प्रस्फुटित होता हैं, वहां विशेषण वक्रता होती है।[1] विशेषणों का प्रयोग दो प्रकार होता है। एक विशेष्य के साथ और दूसरे क्रिया के साथ।[2] परन्तु काव्य में विशेषण को व्याकरणिक कोटि से ऊपर उठकर संचरण करने पर ही सार्थकता प्राप्त होती है। कुन्तक भी कहते हैं:

जिसके द्वारा अपने माहात्म्य से रस, वस्तुओं के स्वभाव और अलंकार लोकोत्तर सौंदर्य बनाये जा सकते हैं, उसी को विशेषण कहना चाहिये।[3] अर्थात् काव्य में विशेषण रूपतत्व और वस्तु तत्व दोनों के उत्कर्ष का विधायक होता है। रसादि का पोषक उचित विशेषण प्रयोग उत्तम काव्य का प्राण है—अन्यथा वह भार रूप है।[4]

कुन्तक ने विशेषण वक्रता के निम्न उदाहरण दिये हैं:

(दोनों) हाथों के बीच में जिसके (दोनों) गाल दबे हुए हैं, आंसुओं के बहने से (गालों पर आभूषण रूप में बनी हुई) जिसकी पत्र लेखा बिगड़ गई है और जिसकी चित्त की सारी वृत्तियां कानों के भीतर इकट्ठी हो गई हैं, इस प्रकार की (अत्यन्त ध्यानमग्ना विरहिणी, उद्दीपन विभाव रूप) गीत की ध्वनि को यहां सुन रही है।[5]

1. हि० व० जी०, 2.15
2. संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण : पं० कामताप्रसाद गुरु, पृ० 49
3. स्वमहिम्ना बिधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
   रसस्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम् ॥
   हि० व० जी०, 2.15, पृ० 236
4. हि० व० जी०, 2.15 की व्याख्या
5. हि० बी० जी० 2.15, पृ० 235

यहां विशेषणों के महात्म्य से तन्वी रूपवस्तु के स्वाभाविक सौंदर्य की अभिव्यक्ति और भी अधिक मनोहर रूप में हो रही है। अनेक विशेषण अपनी रमणीयता के कारण रस परिपाक में सहायक हैं।

क्रिया-विशेषण वक्रता का उदाहरण इस प्रकार है—(नया पकड़ा हुआ) हाथी आंखें बन्द करके (अपनी स्वतन्त्रता के समय) किये हुए अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्द वन-विहार (जहां चाहे वहां घूमने रूप वनवास) के महोत्सवों को स्मरण करने लगा हैं।[1] यहां 'आंखें बंद कर' पद 'स्मरण करने लगा' क्रिया का विशेषण है। यह विशेषण उस हाथी की असहायावस्था के प्रति करूणा का उद्बोधन करने के कारण निश्चय ही सरस है।

विशेषण वक्रता काव्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। विशेषण निश्चय ही काव्य का उपयोगी अंग है। चित्रात्मक विशेषण वर्ण्यवस्तु के स्वभाव का चित्र प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं और भावमय विशेषण भाव को उद्बुद्ध करने में। तर्कमय विशेषण विचार तथा चिन्तन को जगाते हैं। विशेषण का एक प्रमुख गुण संक्षिप्तता भी है। जहां विशेषण वक्रता में उपचार वक्रता का योग भी हो जाता है, वहां तो विशेषणों का महत्व और भी बढ़ जाता है। कहीं कहीं ये दो भेद एक दूसरे में मिलते भी दिखलाई पड़ते हैं।

5. संवृत्ति वक्रता

जहां किसी वैचित्र्य के कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा किसी वस्तु का निगूहन किया जाता है, वह संवृत्ति वक्रता है।[2] कुन्तक ने कहा है कि अनेक स्थितियों में अथवा अनेक कारणों से स्पष्ट कथन की अपेक्षा सांकेतिक सर्वनाम आदि के द्वारा उक्ति में कहीं अधिक चारुता आ जाती है। कुन्तुक का संवृति वक्रता का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधृत है। कुन्तक ने संवृति वक्रता के कई भेदों का उल्लेख किया है:

1. कोई अत्यन्त सुन्दर वस्तु है। उसका वर्णन सम्भव होने पर भी मर्मज्ञ कवि उसका साक्षात् कथन नहीं करता। क्योंकि साक्षात् कथन से उसका सौन्दर्य परिमित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में सर्वनाम द्वारा कथन ही श्रेयस्कर है। उदाहरण:

पिता के (योजनगन्धा सत्यवती के) साथ विवाह करने के लिए उत्सुक होने पर

---

1. हि० व० जी० 2.15 पृ० 235
2. यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया।
   सर्वनामादिभिः कैश्चिद् सोक्ता संवृति वक्रता॥ हि० व० जी० 2.16

इस नवयुवक ने करणीय कर्त्तव्य कर लिया (आजीवनब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा कर ली) और तब पुष्पचाप की नोक पर कपोल रखे हुए (चिन्तामग्न) कामदेव का कुछ अपूर्व रूप से ध्यान किया।[1] यहां भीष्म के इन्द्रिय निग्रह की प्रशंसा की जा सकती थी पर कवि ने सर्वनाम के प्रयोग द्वारा ऐसा अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया जो साक्षात कथन में सम्भव नहीं था।

2. यह (संवृति वक्रता का) दूसरा प्रकार है जहां अपने स्वभाव सौन्दर्य की चरम सीमा पर आरूढ़ होने के कारण अतिशय युक्त (प्रतिपाद्य) वस्तु का शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है। इस बात को दिखलाने के लिए सर्वनाम (के प्रयोग) से (वस्तु को) आच्छादित करके उसके कार्य को कहने वाले और उसके कार्य को कहने वाले उसके अतिशय के प्रतिपादक किसी दूसरे वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया जाता है। जैसे—हे कृष्ण! भरे गले और गद गद वाणी से विशाखा ऐसी रोई कि (जिसको सुनकर सुनने वाले यह सोचने लगे कि) जन्मजन्मान्तर में भी कभी कोई किसी को प्यार न करे (यही अच्छा है। क्योंकि प्यार करने का फल भयंकर और दुःखदायी होता है)।[2] यहा अनिर्वचनीय अतिशय को 'ऐसी' शब्द के द्वारा सम्वृत कर व्यक्त किया गया है।

3. कभी-कभी अत्यन्त सुकुमार वस्तु अपने कार्य के अतिशय के कथन के बिना ही संवृति मात्र से रमणीय होकर चरम सीमा पर पहुंच जाती है।[3] जैसे—दर्पण में सम्भोग चिह्नों को देखती हुई पार्वती ने अपने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम के प्रतिबिम्ब को (दर्पण में) अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से क्या क्या चेष्टाएं नहीं की। यहां 'क्या-क्या' में संवृत करके उन्हें और भी रमणीय बना दिया है।

4. कोई वस्तु केवल अनुभव द्वारा संवेदन योग्य होती है वाणी से नहीं कही जा सकती। इस बात को प्रदर्शित करने के लिए संवरण की जाती है जैसे: (प्रियतमा के संभोग काल के) वह शब्द आज भी हृदय में कुछ अपूर्व प्रतिध्वनि कर रहे हैं।[5] यहां वह और कुछ आदि सर्वनाम रस परिपाक में सहायक है।

5. कहीं-कहीं यह प्रतिपादित करने के लिए कि अन्य की अनुभव-संवेद्य वस्तु का वर्णन करना सम्भव नहीं है, संवरण क्रिया का प्रयोग किया जाता है:

---

1. हि० व० जी०—2.16.58, पृ० 238
2. वही : 2.16.60, पृ० 239-40
3. वही : 2.16 की कारिका की वृत्ति, पृ० 240
4. वही : 2.16.61
5. वही : 2.16.62

उस (देवव्रत भीष्म) ने (मन्मथ) कामदेव को कुछ अवर्णनीय रूप से चिन्ता-मग्न कर दिया।[1]

6. सवृति वक्रता का एक रूप और भी है जिसमें कोई वस्तु स्वभाव से अथवा कवि की विवक्षा (वर्णन करके की इच्छा) से किसी दोष या त्रुटि युक्त होकर महापातक के समान कहने योग्य नहीं होती:

यदि सेनापति ने अपने तीक्ष्ण बाण से इसको तुरन्त न मार दिया होता तो इस जानवर ने अपने पराक्रम से तुम्हारा जो अकथनीय हाल किया होता, वह (भगवान करे वैसा) कभी न हो।[2]

7. कभी-कभी कवि की विवक्षा से भी किसी वस्तु के हीनता को प्राप्त होने की आशंका रहती है, अतएव ऐसी परिस्थिति में भी संवृति के द्वारा काव्यसौन्दर्य की रक्षा होती है—हे प्रियममे (वासवदत्ते !) मिथ्या एक पत्नीव्रत को धारण करने वाला मैं (उदयन, आज पद्मावती के साथ विवाह करने का निश्चय कर) न जाने कैसा, कुछ भी करने को उद्यत हो गया हूं।[3]

संवृतिवक्रता गोपनकला के चमत्कार पर आश्रित है। इसका मूलवर्ती सिद्धान्त है—कला का उत्कर्ष कला की संवृति में है। अनेक बार कथन की अपेक्षा संकेत का प्रभाव अधिक होता है। व्यंजना का आविष्कार भी इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है।

6. वृत्तिवक्रता

वृत्ति से अभिप्राय यहां कोमला परुषा आदि वर्ण-योजनाओं से नहीं है। इसमे अभिप्राय विषय अथवा भाव-सौन्दर्य के अनुरूप समास, तद्धित आदि वृत्तियों से है। इन पर आश्रित चमत्कार वृत्ति वक्रता के अन्तर्गत आता है। इन वृत्तियों में मुख्य अव्ययीभाव समास है। कुन्तक के शब्दों में—जिनमें अव्ययी भाव आदि (समास, तद्धित, वृत आदि) वृत्तियो का सौन्दर्य प्रकाशित होता है, उसको वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता कहते हैं।[4]

कुन्तक अधिमधु[5] शब्द का प्रयोग मधु ऋतु के लिए किया है जिससे चत्मकार उत्पन्न हुआ है। अनेक अव्ययी भाय समासों के मूल में यही सौन्दर्य रहता है।

---

1. हि० व० जी० : 2.16.72
2. वही : 2.16.64
3. वही : 2.16.66
4. वही : 2.19
5. वही : 2.19.72

कुन्तक ने पाण्डिमा[1] शब्द का प्रयोग किया है। पाण्डु में इमनिच प्रत्यय का प्रयोग करने पर बना पाण्डिमा शब्द अन्य पर्यायों की अपेक्षा अधिक कोमलता-विशिष्ट है।

कुन्तक ने एकातपत्रायते[2] का प्रयोग एकातपत्र (एकछत्र) शब्द में सुब्धातु लगाकर किया है। यह चमत्कारपूर्ण प्रयोग है। हिन्दी में झुठलाना, लजाना, गर्माना आदि शब्द ऐसे ही प्रयोग हैं। 'मटियाना' बड़ा ही सुन्दर जनपदीय प्रयोग है। इसके अतिरिक्त समास जन्य प्रयोग भी इसी के अन्तर्गत आते हैं जैसे 'कुसुम-विहग'।

7. लिंग वैचित्र्यवक्रता

विभिन्नलिंगों का समानाधिकरण : जहां सौन्दर्य लिंग प्रयोग पर आश्रित होता है। यह कई प्रकार की होती है—जिस (वक्रता) में भिन्न लिंगों का (भिन्न लिंग वाले शब्दों का) के समानाधिकरण्य (समानविभक्तयन्त) रूप में प्रयोग से कुछ अपूर्व शोभा उत्पन्न हो जाती है, यह 'लिंग वैचित्र्य वक्रता' (कहलाती) है।[3] जैसे—इस कारण से मेरे नेत्रों की विंशति (मेरे बीस नेत्र) फुल्ल पंकज वन के (समान) हो गई है। यहां विंशति स्त्रीलिंग है और वन नपुंसक लिंग है। दोनों का समानाधिकरण्य प्रयोग-वैचित्र्य चमत्कार उत्पन्न कर रहा है।[4]

स्त्रीलिंग का प्रयोग : जहां अन्य लिंग सम्भव होने पर भी, स्त्री नाम ही सुन्दर है, इसलिए शोभातिरेक के सम्पादन के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है।[5] उदाहरण के लिए तटः, तटी एवं तटं प्रयोग होते हुए तटी[6] का प्रयोग करना। छायावाद में प्रकृति पर नारी भाव का आरोपमूलतः इसी धारणा पर आधृत है।

विशिष्ट लिंग का प्रयोग : जहां अन्य लिंगों के सम्भव होने पर भी विशेष शोभा के अर्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिंग का ही प्रयोग किया जाता है वह (पूर्वोक्त दो प्रकारों से भिन्न तीसरे प्रकार की) अन्य ही (लिंग वैचित्र्य

1. हि० व० जी : 2.19.73, पृ० 249
2. वही : 2.19.74
3. वही : 2.21, पृ० 253
4. वही : 2.21.76, पृ० 253
5. वही : 2.22, पृ० 255
6. वही 2.22, पृ० 255

वक्रता) है ।[1]

उदाहरण के लिए कुन्तक ने विरही राम के साथ सहानुभूति प्रदर्शन के लिए लताओं और मृगियों के प्रयोग वाले रघुवंश के त्रयोदश सर्ग से श्लोक संख्या 24, 26 उद्धृत किये हैं । यहां कवि वृक्षों और मृगों का प्रयोग भी कर सकता था । परन्तु उसने कोमल भावनाओं के उल्लेख के लिए लता और मृगी शब्द का प्रयोग किया है । विरही राम के साथ लताओं तथा मृगियों की नारी सुलभ सहानुभूति अधिक स्वाभाविक थी ।

भावना की पेशलता के आग्रह से ही इस प्रकार के प्रयोग किये जाते थे । हिन्दी में इस प्रकार के अनेक प्रयोग प्राप्य हैं ।

8. क्रिया वैचित्र्यवक्रता

धातु रूप पद पूर्वार्ध पर आश्रित वैचित्र्य क्रिया वक्रता के अन्तर्गत आता है । इसके पाँच रूप हैं :

1. क्रिया के कर्त्ता के अत्यन्त अन्तरंगभूत होना—जहां क्रिया कर्त्ता के अत्यन्त अन्तरंग हो अर्थात् उससे अत्यन्त अभिन्न हो ।[2] कुन्तक ने उदाहरण दिया है—परिहास में गौरी चन्द्रलेखा को खींच अपने मस्तक पर बांध, शिव से पूछने लगी कि क्या मैं इसे धारण करके सुन्दर लगती हूं, इस प्रश्न पर शिव का चुम्बन रूप उत्तर हमारी रक्षा करे ।[3] यहां चुम्बन रूप क्रिया उत्तम रूप कर्त्ता का अभिन्न अंग है । इस पर कुन्तक की टिप्पणी है कि पार्वती के उस लोकोत्तर सौन्दर्य का शिव जी के द्वारा कथन चुम्बन के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं था ।

2. कर्त्ता की अन्य कर्त्ताओं से विचित्रता—जहां क्रिया द्वारा किसी कर्त्ता की विचित्रता का प्रतिपादन हो ।[5] शिवजी की शराग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे । शराग्नि का कार्य दुःख देना है । यहां वह दुःखों को दूर करती है । यह क्रिया द्वारा कर्त्ता की वैचित्र्य सिद्धि है ।

3. क्रिया के विशेषण का वैचित्र्य कहीं-कहीं चमत्कार क्रिया के अपने विशेषण पर आश्रित रहता है ।[6] क्रिया तथा कारक दोनों में सौन्दर्य का विधान

1. हि० व० जी० : 2.23, पृ० 256
2. 'कर्तुरत्यन्तरंगत्वम्' : हि० व० जी० : 2.24
3. हि० व० जी० : 2.24.82
4. वही : 2.24 वीं कारिका की वृत्ति
5. 'कर्मन्तर विचित्रता' : हि० व० जी० : 2.24.
6. 'स्वविशेषणवैचित्र्यम्' : हि० व० जी० : वही : 2.24

करता है।

हड़बड़ी के कारण उल्टे केश-विन्यास से सखीजन को हंसाते हुए, उन तरुणियों ने आभूषण धारण करना आरम्भ किया।[1] यहां उल्टेकेश-विन्यास से सखीजन को हंसाते हुए—यह क्रिया-विशेषण चमत्कार का आधार है।

4. उपचार मनोज्ञता—उपचार का अर्थ है सादृश्य। सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर अन्य धर्म का आरोप करना। अनेक रूपों में उपचार के कारण भी मनोज्ञता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण—इसके अंग मानो छलकते हुए स्वच्छ लावण्य के सागर में तैर रहे हैं। स्तन और नितम्ब विस्तार की प्रौढ़ता को खोल रहे हैं और आंखों के चंचल व्यापार स्पष्ट रूप से (बाल्योचित) सरलता का अपवाद कर रहे हैं। अहो, इस मृगनयनी का अब तारुण्य के साथ घनिष्ठ परिचय हो गया है।[2] यहां अंगों का तैरना, स्तनों आदि का फैलाना, नेत्रों द्वारा सरलता का अपवाद आदि क्रियाओं में उपचार का चमत्कार है।

5. कर्मादि संवृति—यहां क्रिया के कर्म आदि के संवरण द्वारा चत्मकार की सृष्टि की जाती है।[3]

आयतनयना सुन्दरी के रागालस मन में प्रेम की शोभा नेत्रों के भीतर 'कुछ' मधुरता अर्पित कर रही है, कानों के पास कुछ अपूर्व कथन कर रही है। हृदय में मानो 'कुछ' लिख रही है।' इन क्रियाओं के कर्मों का कथन सम्भव था। परन्तु कवि ने 'कुछ' सर्वनाम द्वारा उनका आच्छादन करके अपूर्व चमत्कार उत्पन्न किया है।

पदपूर्वार्ध वक्रता का विवेचन समाप्त करते समय, कुन्तक कहते हैं कि इसके अनन्त भेद किये जा सकते हैं। यहां पर तो थोड़े से ही दिये गये हैं। यहां उसका केवल दिड्मात्र प्रदर्शन किया गया है। शेष (विशेष विस्तार) लक्ष्य (काव्यों) में पाया जाता है।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक ने पदपूर्वार्ध वक्रता का शास्त्र संगत विवेचन सोदाहरण प्रस्तुत करके भारतीय काव्य शास्त्र की श्रीवृद्धि की है।

पदपरार्ध वक्रता

पद के पूर्वार्ध की भांति पद के परार्ध अर्थात् सुप् आदि प्रत्यय का विचित्र

---

1. हि० व० जी० : 2.24.89 पृ० 264
2. हि० व० जी० : 2.24.91, पृ० 266, 267
3. कर्मादि संवृत्तिः पंच प्रस्तुतौचित्य चारव : वही । 2.25
4. वही : 2.25.92 पृ० 266
5. वही : 2.25.94, पृ० 276

प्रयोग भी कविता की एक विशेषता है। साधारणतः यह प्रत्यय रूप होता है। अतः पदपरार्ध वक्रता को प्रत्ययवक्रता भी कहते हैं। पद परार्धवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने जिन भेदों प्रभेदों का वर्णन किया है, उनका प्रतिपादन ध्वनि के प्रसंग में स्वयं आनन्दवर्धन ने इस प्रकार किया है :

सुप-तिङ्-वचन सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत् तद्धित् समासश्च द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित्॥

अर्थात् सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक शक्ति कृत्, तद्धित और समास से कहीं-कहीं असंलक्ष्य ध्वनि अभिव्यक्त होती है। 'च' शब्द से निपात, उपसर्ग कालादि के प्रयोग से अभिव्यक्त होता देखा जाता है।[1] यहां ध्वनि के सार्थक जिन प्रकारों का उल्लेख आनन्दवर्धन ने किया है, उन्हीं का कुन्तक ने भी वर्णन किया है। जो आनन्दवर्धन की दृष्टि में ध्वनि के निष्पादक हैं, कुन्तक की दृष्टि में वही वक्रता के उत्पादक तत्व हैं।

कुन्तक ने पद परार्धवक्रता के छः मुख्य भेदों का वर्णन किया है:

1. काल वैचित्र्य वक्रता

जहां औचित्य के अनुरूप काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वहां काल वैचित्र्य वक्रता होती है।[2] अर्थात् जिसमें चमत्कार काल विशेष के प्रयोग पर आश्रित रहता है, उसे काल वैचित्र्य वक्रता कहते हैं। परन्तु इसमें औचित्य का प्रतिबन्ध है। काल का यह वक्र प्रयोग प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुकूल तथा सार्थक होना चाहिए। अन्यथा वह व्याकरण की त्रुटि मात्र बनकर रह जायेगा। उदाहरण···समविषम भेद से रहित मन्द-मन्द संचरण योग्य(अर्थात् जिस पर धीरे-धीरे सावधानी के साथ चलना संभव है) मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के लिए भी दुर्लंघ्य हो जाएंगे।[3] यह किसी विरही की कातर उक्ति है···यहां 'हो जायेंगे' यह भविष्यकालिक क्रिया पद चमत्कार का आधार है। अभी वर्षा समय की उत्प्रेक्षा--कल्पना मात्र से ही इतना भय है तो उसके वर्तमान होने पर अर्थात् वास्तव में उपस्थित हो जाने पर क्या होगा? वैचित्र्य का मूल कारण यह अर्थ व्यंजना है, जो निश्चय ही काल पर आश्रित हैं। यह काल वैचित्र्य वक्रता का सुन्दर उदाहरण है।

2. कारक वक्रता

इस वैचित्र्य का आधार है कारक प्रयोग। सामान्य कारक का मुख्य रूप से

1. हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० 271
2. हि० व० जी० : 2.26, पृ० 270
3. वही : 2.26.95, पृ० 271

और मुख्य कारक का सामान्य रूप से कथन कर तथा कारकों का विपर्यय कर अर्थात् कर्त्ता को कर्म या करण का रूप या करण को कर्त्ता रूप देकर प्रतिभावान कवि अपनी उक्ति में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन कर देता है।[1] यही कारक वैचित्र्य वक्रता है। उदाहरण···राम क्रूद्ध होकर समुद्र से कहते हैं कि तेरी धृष्टता से मेरा हाथ अब विवश होकर धनुष को पकड़ने के लिए बढ़ रहा है।[2] यहां हाथ वास्तव में करणकारक होना चाहिये था। किन्तु कवि ने उसका कर्त्ता रूप में प्रयोग करके चमत्कार उत्पन्न किया है।

3. संख्या वक्रता या वचन वक्रता

काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए कवि लोग इच्छापूर्वक संख्या अर्थात् वचन का विपर्यास कर देते हैं। यहां संख्या वक्रता होती है।[3] मर्मज्ञ कवि वास्तव में अपने काव्य के छोटे से छोटे अवयव को सार्थक बना देता है। इस प्रसंग में कुन्तक ने उदाहरण दिया है···'शास्त्राणि चक्षुर्नवम्। यहां द्रष्टव्य है कि शास्त्र बहुवचनान्त है और चक्षु एकवचन है। यहां वचन विपर्यास से चमत्कार की सृष्टि हुई है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में लोंगिनुस ने भी इस प्रकार की वक्रता को मान्यता दी है···'इसके विपरीत बहुंसंख्यक वस्तुओं को एकवचन द्वारा प्रकट करने से कभी-कभी बड़ा उदात्त प्रभाव उत्पन्न हो जाता है।

4. पुरुष वक्रता

जहां सौंदर्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत रूप से प्रयोग होता है, वहां कुन्तक के अनुसार पुरुषवक्रता समझनी चाहिए।[5] विपरीत से प्रयोग का तात्पर्य है कि कहीं-कहीं पर उत्तम तथा मध्यम पुरुष के लिए काव्य शोभा के निमित्त अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी उदासीन भाव, सम्मान अथवा निरंहकारिता जादि की अभिव्यक्ति के लिए इन दोनों प्रत्यक्ष वाचक पुरुषों के स्थान पर अन्य वाचक अन्य पुरुष का प्रयोग अत्यन्त सार्थक और व्यजक होता है। पुरुष का यह चमत्कार पूर्ण प्रयोग ही पुरुष वक्रता है। उदाहरण—दुष्ट

---

1. हि० व० जी : 2.27.28
2. वही : 2.27.97
3. वही : 2।29
4. काव्य में उदात्त तत्व, पृ० 85
5. हि० व० जी० : 2.30

शत्रुओं द्वारा अधिकृत कौशाम्बी को जीतकर नीति द्वेषी महाराज की प्रभावी प्रकृति को मैं जानता हूं। मैं यह भी जानता हूं कि पति के 'वियोग में स्त्रियों का चित्त सदैव खिन्न रहता है। अतएव मेरा मन कुछ कहने का साहस नहीं करता। आगे देवी स्वय जाने।'[1]

यहां आप मध्यम पुरुष के स्थान पर कवि ने 'देवी' (अन्य पुरुष) का सार्थक प्रयोग अपनी उदासीनता को प्रकट करने के लिए दिया है। 'आप' में नैकट्य के कारण अधिकार और आग्रह का भाव आ जाता, जिसे कवि-निबद्ध-पात्र मंत्री यौगन्धरायण, रानी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए छिपाना चाहता है। अतएव कवि ने अन्य पुरुष का प्रयोग किया है।

यह प्रयोग वस्तुतः भाषागत रूढ़ि न होकर मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। हिन्दी में इस प्रकार के प्रयोग प्राप्य हैं, यद्यपि संस्कृत जितने प्रचुर मात्रा में नहीं।

5. उपग्रह वक्रता

उपग्रह का अर्थ है धातु-पद। संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं··· परस्मैपद और आत्मनेपद। जिसमें काव्य की शोभा के लिए किसी एक का प्रयोग किया जाता है, उसको उपग्रह वक्रता कहते हैं।[2]

कुन्तक ने उपग्रह वक्रता का अनुसंधान संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुकूल किया है। यह विशेषता हिन्दी भाषा में प्राप्य नहीं है क्योंकि यहां आत्मनेपदी धातु का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है। फिर भी हिन्दी में आंख खुल गई, हाथ टूट गया, जीभ कट गई आदि प्रयोग प्राप्य हैं। जहां इनका प्रयोग सचेष्ट रूप में विशेष सौंदर्यकी व्यंजना करने के लिए किया जाता है, वहां हिन्दी प्रयोगों में भी निश्चय ही उपग्रह-वक्रता का चमत्कार वर्तमान रहता है। कुन्तक ने उदाहरण दिया है कि 'भय के आधिक्य के कारण चपल नेत्रों से प्रौढ़ प्रियतमा के नयनों की चेष्टाओं का स्मरण दिलाने वाले अन्य मृगों पर भी वाण छोड़ने की इच्छा रखने वाले उस राजा की मजबूत मुट्ठी भी कान के पास तक आकर स्वयं ही ढीली पड़ गई।'[3] यहां मुट्ठी ढीली पड़ गई में उपग्रह वक्रता विद्यमान है।

प्रत्यय वक्रता

कभी-कभी छोटे-छोटे प्रत्ययों का प्रयोग भी बड़े से बड़ा चमत्कार उत्पन्न

---

1. हि० व० जी० : 2.30.105
2. वही : 2.31
3. वहा : 2.31.106

कर देता है। यह प्रत्यय वक्रता तिङ् आदि प्रत्यय से विहित अन्य प्रत्यय के सौंदर्य में देखी जा सकती है।[1] इसी को कुन्तक ने स्वतन्त्र रूप से प्रत्यय वक्रता का नाम दिया है। उदाहरण—'जिसके संसर्ग से, मोरपंख को धारण करने वाले गोपवेश विष्णु (शरीर के) समान तेरा श्यामल शरीर भी कान्तिमय हो जायेगा।[2] इस संस्कृत छन्द में 'अतितरां' का प्रयोग इस प्रत्यय वक्रता का उदाहरण है।

हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति इतनी सुस्पष्ट नहींहै, जितनी कि संस्कृत में है। जैसा संस्कृत के सुबन्त और तिङन्त पदों में मिलता है, वैसा शब्द के मूल प्रत्यय का अस्तित्व तो हिन्दी में प्राय. रहा ही नहीं है। अतएव हिन्दी में प्रायः दुहरा प्रत्यय लक्षित होता है। जैसे संदेशडा, घइलवा।[3]

पदपरार्धवक्रता का विवेचन करते समय कुन्तक ने पदवक्रता के दो अन्य भेदों को भी गिनाया है :

उपसर्ग वक्रता

उपसर्ग वक्रता का मूल आधार उपसर्ग का चमत्कार पूर्ण प्रयोग है। जहां उपसर्ग का विशिष्ट प्रयोग ही शब्द अथवा उक्ति के सौंदर्य का विधायक होता है, वहां कुन्तक की पारिभाषिक शब्दावली में उपसर्ग वक्रता होती है। 'पद के पूर्वार्ध और परार्ध की वक्रता अथवा विचित्रता से विलक्षण वह पदवक्रता है जिसमें उपसर्ग और निपात के ही द्वारा काव्य बंध में व्याप्त रस-भाव का स्फुरण होता है।

हिन्दी कविता में उपसर्ग का प्रयोग रस तथा भावादि के उत्कर्ष के लिए सभी कवियों ने किया है।

इन्दु—विचुम्बित बाल जलद सा
मेरी आशा का अभिनय।[5]

'वि' उपसर्ग का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में हुआ है। चन्द्रमा द्वारा नवमेघ का स्पर्श सामान्य स्पर्श न होकर विशेष रमणीय स्पर्श है। इसीलिए विचुम्बित का प्रयोग विशेष सार्थक है।

---

1. वही : 2.32
2. येनश्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः हि० व० जी० पृ० 81
3. भा० का० भू० ! नगेन्द्र, पृ० 200
4. हि० व० जी० : 2.33
5. पन्त : बालापन

निपात वक्रता

निपात से अभिप्राय उन अव्ययों से है जो अवयव रहित, अव्युत्पन्नपद होते हैं। कुशल कवि रसोत्कर्ष के लिए इनका पूर्ण उपयोग करता है। निपात अर्थ के द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं। निपात का यही कुशल उपयोग निपात वक्रता के नाम से अभिहित है। कुन्तक ने उदाहरण दिया है:

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।[1]

यहां तु शब्द में निपात वक्रता है। 'पर वैदेही तो स्वयं ही इतनी कोमल है, उसका क्या होगा?' इस प्रकार तु शब्द राम की व्यथा को और भी प्रगाढ़ कर देता है।

हिन्दी में भी निपात का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्य है।

पदों पर आधृत वक्रता का इतना सूक्ष्म विवेचन कुन्तक की ही प्रतिभा कर सकती थी। शब्द के छोटे अवयव का इतना चमत्कारपूर्ण प्रयोग कुन्तक की मर्मज्ञता का द्योतक है। वे शब्दार्थ के सूक्ष्म रहस्यों से सर्वथा अवगत थे। कहीं-कहीं पर कई-कई वक्रता प्रकार एक साथ एकत्र होकर काव्य की शोभा में शत-गुण अभिवृद्धि किया करते हैं। काव्य में वक्रता का प्रभाव असीम है।

वाक्य वक्रता और वस्तुवक्रता

वर्णों से प्रकृति तथा प्रत्यय पद (पूर्वार्द्ध और परार्ध) का निर्माण होता है। पदों से वाक्य निर्मित होते हैं। इस प्रकार कुन्तक वर्ण और पद की वक्रता का विवेचन करने के पश्चात् वाक्य वक्रता पर ध्यान देते हैं। अनेकपदों के संयोजन को वाक्य कहते हैं। इस प्रकार वाक्य की वक्रता सामान्यतः पदार्थ अथवा अर्थ की वक्रता है। कुन्तक के अनुसार 'वस्तु का उत्कर्ष युक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल शब्दों के द्वारा वर्णन अर्थ अथवा वाच्य की वक्रता कहलाती है।[2]

अतएव वाच्य वक्रता का दूसरा नाम वस्तुवक्रता भी है। वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है। इसके कुन्तक ने दो भेद किये हैं—1. सहजा और 2. आहार्या।[3] सहज से तात्पर्य है, सहज शक्ति द्वारा उत्पन्न

---

1. हि० व० जी० : 2.33.108
2. उदार स्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
   वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।।
   वही : 3.1, पृ० 293
3. सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारस्य वक्रता।
   हि० व० जी० 3।2 वृत्ति)

इसके अन्तर्गत वस्तु के स्वभाव का सहज सुन्दर वर्णन आता है। आहार्या से तात्पर्य है, व्युत्पत्ति तथा शिक्षाभ्यास द्वारा अर्जित—प्रस्तुत सौंदर्य रूपिणी होने पर भी वह अर्थालंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[1]

इस प्रकार वाच्य या वस्तु वक्रता के दो भेद हुए—1. पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का वर्णन (स्वभावोक्ति जो कुन्तक के अनुसार अलंकार्य है)। 2 अर्थालंकार

वक्रोक्ति सिद्धान्त में वस्तु (काव्य विषय) का स्वरूप

कुन्तक ने किसी एकांगी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, अपितु एक स्वतः संपूर्ण काव्यसिद्धान्त की स्थापना की है। अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने काव्य के प्रायः सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला है। वे काव्यवस्तु[2] के दो भेद मानते हैं, सहज और आहार्य।

सहज—सहज का अर्थ है, स्वाभाविक अथवा प्रकृत। कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव चित्रण करके सहृदय को आह्लाद प्रदान करता है। कुन्तक का कहना है कि 'ये प्रकृत वस्तुएं उत्कर्षयुक्त और स्वभाव से सुन्दर होनी चाहिए अर्थात् इनके स्वाभाविक धर्म प्रकृत्या रमणीय होने चाहिए।'[3]

कुन्तक का आग्रह है कि कवि को वर्णन के लिए ऐसे विषयों का चयन करना चाहिए जो स्वभावतया उत्कर्ष युक्त हों। कुन्तक ने वयः संधि और ऋतुसंधि आदि का उदाहरण देकर यह निर्देश दिया है कि नारी अंगों का सौंदर्य और प्रकृति की रंगोज्ज्वल छटा अपने स्वाभाविक रूप में ही रमणीय होती है। इस प्रकार के पदार्थों का सुकुमार स्वभाव कवियों द्वारा कवि-कौशल आश्रित वर्णन सहृदय के लिए रमणीय एवं आहलादकारी अवश्य होगा। यहां पर कुन्तक बहुत कुछ भाव-गत दृष्टिकोण रखते हुए भी अंत में रमणीय काव्य विषय को प्राथमिकता देते हैं।

आहार्य—आहार्य का अर्थ है, निपुणता तथा शिक्षाभ्यास आदि द्वारा सम्पादित। आहार्य वस्तु कवि-कौशल जन्य अर्थात् उत्पाद्य है। आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली में उसे 'कल्पित' कहेंगे। इस विषय में कुन्तक ने स्पष्ट किया है कि आहार्य वस्तु भी एकान्त काल्पनिक वस्तु नही होती। वह सत्तामात्र से प्रतिभासित होती है। कवि अपने कौशल से कुछ अलौकिक शोभातिशय की

---

1. तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुत-विच्छिति विधाप्यलंकार व्यतिरेकेण नान्या काचिदुपद्यते। : वही-3.2 की वृत्ति
2. काव्यवस्तु से तात्पर्य 'विषय' से है।
3. यस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयं वस्तु परिग्रहणीयम्।
   हि० व० जी० : 2.1 वृत्ति

उद्‌भावना या आधान कर देता है, जिससे उसका सत्तामात्र से प्रतीत होने वाला मूलरूप छिप जाता है और वह लोकोत्तर सौंदर्य से सम्पन्न एक नया रूप धारण लेती है। आहार्य वस्तु को कुन्तक ने अर्थालंकार से अभिन्न माना है। कुन्तक मानते हैं कि रस, स्वभाव आदि के वर्णन में कवि-कौशल प्राणभूत है परन्तु आहार्य वस्तु में तो कवि-कौशल-अनुग्रह-बिना नाम मात्र को भी वैचित्र्य नहीं हो सकता।

वस्तु के अन्य भेद—कुन्तक ने वर्णनीय वस्तु के कुछ और भी भेद किये हैं। स्वभाव और औचित्य से सुन्दर चेतन और अचेतन पदार्थों का स्वरूप दो प्रकार का कहा गया है। पहला भेद चेतन भी प्रधान और अप्रधान दो प्रकार का माना गया है। प्रधान चेतन के अन्तर्गतउच्चयोनि देव और मानव को लिया गया है और अप्रधान चेतन के अन्तर्गत तिर्यक् योनि पशु, पक्षी, सिंह आदि को। इस प्रकार देव और मानव जीवन काव्य का मुख्य विषय है तथा पशु-पक्षी जीवन गौण विषय। प्रत्येक जीव का अपना जाति-स्वभाव होता है। कवि अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के आधार पर यथार्थ चित्रण करता हुआ भी वर्णनीय विषय को सहृदय के लिए आह्लादकारी बना देता है। अचेतन के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थों एवं दृश्यों का वर्णन आता है। काव्य-परम्परा के अनुसार कुन्तक ने इन्हें रस के उद्दीपन माना है। इस प्रकार सामान्य रूप से काव्यवस्तु के दो भेद हुए—स्वभावप्रधान और रसप्रधान।[1] इन रूपों के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के उपाय भी काव्य वस्तु के अन्तर्गत आते हैं। इन उपायों से तात्पर्य उन समस्त क्रियाकलापों से है जो पुरुषार्थ चतुष्टय के अनुष्ठान में उपदेशपरक रूप से सहायक होते हैं। आधुनिक शब्दावली में इन्हें नैतिक व्यापार कहेंगे। कुन्तक ने इस संदर्भ में शूद्रक आदि राजाओं और शुकनास आदि मंत्रियों के चरित्रों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार काव्य वस्तु के तीन भेद हुए—1. स्वभाव-प्रधान 2. रस-प्रधान, 3. नीति-प्रधान। नवीन आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में इन्हें प्राकृत तत्व, रागात्मक तत्व तथा नैतिक (बौद्धिक) तत्व के नाम से अभिहित किया गया है। आधुनिक काव्यशास्त्र के अनुसार ये ही विषय वस्तु के तीन मूलभूत तत्व है।

इस प्रकार कुन्तक ने वस्तु का विभाग कवि की दृष्टि से—सहज और आहार्य किया, तथा सहृदय की दृष्टि से—स्वभाव प्रधान, रसप्रधान तथा नीति प्रधान किया।

---

1. तदेवं विधं स्वभावप्राधान्येन, रस प्राधान्येन द्विप्रकारम्।
   हि० व० 3.10 वृत्ति

काव्य-विषय के संबंध में कुन्तक की दो मान्यताएं

कुन्तक ने इस विषय में दो मान्यताएं स्थापित की हैं :

1. काव्य का विषय स्वभाव से रमणीय होना चाहिए। मूलतः कवि-कौशल पर आश्रित होते हुए भी काव्यवस्तु के धर्म सहृदय आह्लादकारी होने चाहिये।

2. प्रकृति का वर्णन काव्य में मूलतः रस का उद्दीपक होता है।

कुन्तक की ये दोनों मान्यताएं विवादास्पद हैं। भारतीय और पाश्चात्य—अर्वाचीन एवं आधुनिक काव्यशास्त्रियों के दो मत हैं—एक तो मानते हैं कि विषयवस्तु का सुन्दर और रमणीय होना आवश्यक है। दूसरे मानते हैं कि यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कवि क्या कहता है, अपितु महत्वपूर्ण है कि कवि कैसे कहता है। इन दोनों में से सत्य क्या है ? इसका उत्तर देना सरल नहीं है। कुन्तक ने अपने सिद्धांत में व्यक्ति तत्व और वस्तुतत्व का समन्वय किया है। सौंदर्य को वक्रता निष्ठ मानकर उन्होंने वस्तुतत्व की प्रतिष्ठा की तथा वक्रता को कवि व्यापार जन्य मानकर उन्होंने व्यक्तितत्व की प्रतिष्ठा की।

प्रकृति का रस के उद्दीपन रूप में वर्णन

कुन्तक ने प्रकृति को मूलतः रस के उद्दीपन रूप में वर्णनीय माना है। 'अमुख्य चेतन और बहुत से जड़ पदार्थों का भी रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के कारण वर्णन से मनोहर स्वरूप भी कवियों की वर्णना का दूसरे प्रकार का विषय होता है।[1]

आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस प्रश्न पर सभी आचार्यों का एकमत है कि प्रकृति रस का उद्दीपन मात्र नहीं है। आचार्य शुक्ल इस मत के प्रबल समर्थक थे। कवि अथवा कवि-निबद्ध पात्र को आश्रय मानते हुए प्रकृति शोभा को रतिभाव का आलंबन माना जा सकता है और रस-प्रक्रिया की शास्त्रीय व्यवस्था हो सकती है बस यहीं एक त्रुटि हो गई। प्रकृति का सौंदर्य मन में उल्लास, स्फूर्ति का संचार तो कर सकता है पर रतिभाव जागृत नहीं कर सकता। इसका मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट है। उन्मुखीभाव प्रत्युन्मुखी भाव की अपेक्षा करता है और यह इष्ट व्यक्ति सौंदर्य से ही प्राप्य है। इस संदर्भ में प्रकृति भावों को उद्दीप्त करती है जागृत नहीं।

कुन्तक ने अचेतन काव्यवस्तु अर्थात् प्रकृति को इसी दृष्टि से रस-शास्त्र की परंपरा के अनुसार, उद्दीपन रूप में वर्णनीय माना है। काव्य-विषय के सम्बन्ध में कुन्तक की मान्यताएं महत्वपूर्ण हैं।

---

1. रसोद्दीपनसामर्थ्य विनिबन्धनबंधुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जड़ानां चापि भूयसा ॥ हि० व० : 3.8, पृ० 332

प्रकरणवक्रता

प्रकरणवक्रता की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार दी है···"जहां अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान व्यवहर्ताओं (कवियों) की प्रवृत्ति होती है वहां और प्रारंभ से ही निःशंक रूप से उठने उठाने की इच्छा होने पर (अर्थात् जहां प्रारंभ से ही निर्भय होकर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अदम्य इच्छा हो वहां) वह प्रकरणवक्रता निस्सीम होकर प्रकाशित हो उठती है।'[1]

यह परिभाषा अधिक स्पष्ट नहीं हो पायी है, परन्तु कुन्तक ने भेद-प्रभेदों का वर्णन इतना विशद किया है कि कुन्तक के प्रकरणवक्रता के स्वरूप में कोई भ्रांति नहीं रह जाती। उनका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि 'सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तुवर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है, वह प्रकरण वक्रता है।[2]

प्रकरण का अर्थ कुन्तक के शब्दों में है—प्रबंध का एक देश अर्थात् कथा का एक प्रसंग—प्रबन्धस्यैकदेशानां—।[3] समग्र कथा विधान का नाम प्रबंध है और उसके एक अंग अथवा प्रसंग का नाम प्रकरण है। प्रकरण पर आश्रित, अथवा प्रकरण में निहित काव्य चमत्कार का नाम प्रकरण वक्रता है। सामान्य रूप से स्थिति के सजीव एवं उत्कर्ष पूर्ण चित्रण को ही कुन्तक ने प्रकरण वक्रता माना है। प्रकरण वक्रता के भेदों का विवेचन कुन्तक ने निम्न प्रकार किया है :

1. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना

जहां किसी ऐसी भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना की जाये जो पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष करती हो, वहां प्रकरण वक्रता का प्रथम भेद उपलब्ध होता है। कुन्तक ने रघुवंश के पंचम सर्ग से रघु और कौत्स के संवाद को उद्धृत किया है। वरतन्तु मुनि के शिष्य 'कौत्स' गुरू दक्षिणा देने के लिए रघु से 14 करोड़ द्रव्य मांगने आये। रघु थोड़े पहले ही 'विश्वजित्' नामक यज्ञ सम्पन्न कर चुके थे। उसके अन्त

---

1. यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी।
व्यावृत्तिर्व्यवहर्तॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी।
अव्यामूलादनाशंक्यसमुत्थाने मनोरथे।
काप्युन्मीलति निःसीमा सा प्रकरणे वक्रता॥ हि० व० जी 4.1-2
2. भा० का० शा० की भूमिका : डा० नगेन्द्र, पृ० 169
3. हि० व० जी० : 4.੭

में उन्होंने सारा धन दान कर दिया था। उनके पास मिट्टी के पात्र शेष थे। कौत्स मुनि राजा की स्थिति का अनुमान लगाकर आशीर्वाद देकर जाने लगे तो रघु ने पूछा कि 'महाराज, आपको कितने धन की आवश्यकता है?' सम्पूर्ण विवरण ज्ञात होने पर उन्होंने कुबेर पर आक्रमण करने का विचार किया ही था कि रात्रि में कुबेर के यहां से आवश्यकता से अधिक द्रव्य प्राप्त हो जाता है। राजा सारा धन देना चाहते थे मुनि आवश्यकता से अधिक लेना नहीं चाहते थे। कालिदास ने इस भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से दोनों पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित किया है। कुन्तक ने इस प्रसंग के चार ही श्लोक उद्धृत किये हैं यद्यपि इस प्रसंग से सम्पूर्ण सर्ग उत्कर्ष को प्राप्त होता है तथा पाठक को एक विशेष आह्लाद प्रदान करता है।

2. उत्पाद्य लावण्य

इतिहास में वर्णित कथा के वैचित्र्य के मार्ग में (अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध कथा में भी वैचित्र्य या सौंदर्य के उत्पादन के लिए) तनिक से कल्पना प्रसूत अंश के सौंदर्य से (उत्पाद्य-लवलावण्याद्) कुछ और ही अपूर्व चमत्कार हो जाता है।

(उस तनिक से परिवर्तन से) इतना (सौंदर्य काव्य में आ जाता है) जिससे वह प्रकरण चरम सीमा को पहुंचे हुए रस से परिपूर्ण होकर सारे (काव्य या नाटक) प्रबंध का प्राण सा प्रतीत होने लगता है।[1]

यह उत्पाद्य लावण्य अर्थात् कल्पनाप्रसूत मधुर उद्भावना भी प्रकरण वक्रता का ही प्रकार भेद हैं। इसके दो भेद हैं—(क) अविद्यमान की कल्पना (ख) विद्यमान का संशोधन।

अविद्यमान की कल्पना का तात्पर्य है कि प्रतिभावान कवि इतिहास के निर्मम सत्यों की कटुता के परिहार के लिए काव्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अपनी कल्पनाओं के सहारे नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि करता है। इस प्रसंग में कुन्तक ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् से 'दुर्वासा-शाप' प्रसंग को उद्धृत किया है। यह राजा के व्यक्तित्व दोष का प्रक्षालन करके समग्र वस्तु पर प्रकाश एवं प्रभाव डालती हुई, नाटक के मूल रस का उत्कर्ष करती है।

दूसरा रूप है, विद्यमान का संशोधन। (दूसरा उत्पाद्य प्रकार वह होता है

---

1. इतिवृत्तप्रयुक्ते ऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि।
उत्पाद्यलावण्यादन्या भवतिवक्रता॥
तथा, यथा प्रबंधस्य सकलस्यापिजीवितम्।
भातिप्रकरणं काष्ठाधिरूढ रसनिर्भरम्॥ हि० व० जी० : 4.4

जिसमें कहीं (मूल कथा में) विद्यमान होने पर भी औचित्य रहित अर्थ का सहृदय के हृदय के आह्लाद के लिए, अन्य प्रकार से परिवर्तन कर दिया जाये जैसे 'उदात्त राघव' में मारीच-बध।[1] उदात्तराघव मायूराज कवि का अप्राप्त नाटक है। इसमें कवि ने राम की उदात्त चरित्र की रक्षा हेतु मारीचवध प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन कर, अनौचित्य का परिष्कार करने का प्रयत्न किया है। यहां मारीचवध के लिए राम नहीं वरन् लक्ष्मण जाते हैं और सीता उसकी प्राणरक्षा के निमित्त कातर होकर राम को भेजती है। निस्सदेह इस घटना के सशोधित रूप में अधिक सौंदर्य है।

हिन्दी काव्य में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण प्राप्त हैं। साकेत में लक्ष्मण शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्यावासियों की रणसज्जा, अथवा कैकेयी का पश्चाताप, कामायनी में मनु और इड़ा के पिता-पुत्री संबंध का संशोधन, चन्द्रगुप्त के स्थान पर शकटार द्वारा नन्द की हत्या आदि।

4. प्रधान कार्यों से सबद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव

(फलबंध) प्रधानकार्य का अनुसंधान करने वाला प्रबन्ध के प्रकरणों का उपकार्योपकारक भाव असाधारण समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी कवि के (काव्यादि) में अभिनव सौंदर्य के तत्त्व को उत्पन्न कर देता है।"[2] कुन्तक का अभिप्राय है कि प्रधान-कार्य से संबद्ध प्रकरणों का पारस्परिक उपकार्य-उपकारक भाव प्रकरण-वक्रता का ही एक भेद है। प्रत्येक प्रकरण की सार्थकता यह है कि वह अन्य प्रकरणों से सबद्ध तथा अन्त में प्रधान कार्य का उपकारक हो। अंग की सार्थकता इसी में है कि वह अन्य अंगों से समन्वित होकर अंगीय का उत्कर्ष करता है। कन्तुक ने उत्तरराम-चरित के प्रथम अक से उदाहरण दिया है। रामचन्द्र द्वारा जृम्भकास्त्रो का वर्णन पांचवे अंक में लव द्वारा उनके प्रयोग का उपकार करता हुआ अन्त में नाटक के प्रधानकार्य सीताराम के मिलन में साधक। सहायक होता है। वक्रता का यह भेद कथावस्तुविन्यास का प्राण है। इस का प्रयोग सर्वत्र ही अनिवार्यतः किया जाता है। हिन्दी में कामायनी में कामसर्ग में मनु काम की वार्ता आगे चलकर इड़ा सर्ग में काम के अभिशाप का उपचार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर और भी वेग से अग्रसर कर देती है और इस प्रकार चरम

1. हि० व० जी० : पृ० 495
2. प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् ।
   उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन् ।।
   असामान्य समुल्लेख प्रतिभा प्रतिभासिनः ।
   सूते नूतन वक्रत्वरहस्यं कस्यचित् कवेः ।। हि० व० जी० : 4.5-6, पृ० 496

घटना की सिद्धि में सहायक होती है।

5…विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना

प्रत्येक प्रकरण में (कवि की) प्रौढ़ प्रतिभा से आयोजित एक ही अर्थ बारबार निबद्ध होता हुआ भी (सर्वथा नवीन चमत्कार को उत्पन्न करता है)। (हर जगह) बिल्कुल नये रस और अलंकारों (के सौंदर्य) से मनोहर प्रतीत होता हुआ आश्चर्य-जनक वक्रता शैली को उत्पन्न करता है।[1]

सामान्यतः एक ही अर्थ का बार-बार प्रयोग पुनरुक्त दोष हो जाता है परन्तु प्रतिभावान कवि उसे इस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण रीति से निबद्ध करता है कि वह काव्य में नवीन शोभा उत्पन्न कर देता है। कथा मे कुछ ऐसे सरस प्रसग होते हैं कि उनका बार-बार वर्णन/चित्रण रस परिपाक में सहायक होता है। कुन्तक ने रघुवंश के नवम सर्ग से दशरथ के मृगयावर्णन आदि का निर्देश किया है। कवि द्वारा रमणीक प्रसंगों के वर्णन से सम्पूर्ण कथाभाग रसप्लावित हो गया है। हिन्दी में अत्यन्त सरस उदाहरण प्राप्य हैं। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला विरह-वर्णन में इसका अतिरंजित रूप मिलता है।

6. जलक्रीड़ा, उत्सव आदि के रोचक प्रसगों का विशेष विस्तार से वर्णन

सर्गबन्ध (महाकाव्य नाटक) आदि की कथा वैचित्र्य का सम्पादक जो (जल-क्रीड़ा आदि) अंग (काव्य के) सौंदर्य के लिए वर्णित किया है, वह भी प्रकरण वक्रता कहलाता है।[2] संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार के वर्णनों का अन्तर्भाव महाकाव्य के लक्षण में ही कर दिया है…प्रबन्धकाव्य का कलेवर नगर, समुद्र, शैल, ऋतु, चन्द्रोदय, उद्यान, सलिलक्रीड़ा, मधुदान, रति-उत्सव आदि से समृद्ध होता है।[3]

इस प्रकार के वर्णन प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों पक्षों से सम्बद्ध होते हैं।

---

1. प्रतिप्रकरणं प्रौढ प्रतिभाभोग योजितः।
एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः॥
अन्यूननूतनोल्लेखरसालंकरणोज्ज्वलः।
बध्नातिवक्रतोद्भेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम्॥ वही : 4.7-8, पृ० 503
2. कथावैचित्र्यपात्रं तद वक्रिमाणं प्रपद्यते।
यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते॥

हि० व० जी० : 4.9. पृ० 513
3. दण्डी : काव्यादर्श

कुन्तक ने दो उदाहरण दिये हैं—1. रघुवंश के षोडश सर्ग में कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन। 2. किरातार्जुनीयम में बाहुयुद्ध का प्रकरण। हिन्दी में प्रियप्रवास के रास-क्रीड़ा आदि अनेक वर्णन, जयद्रथवध में स्वर्गवर्णन आदि इसके उदाहरण हैं।

7. प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना

जिसमें प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य (अप्रधान) वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रतीत होती है, वह भी इस (प्रकरण) की ही दूसरी प्रकार की वक्रता होती है।[1] इसको स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने मुद्राराक्षस के छठे अंक में प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरुष द्वारा आत्महत्या के प्रपंच का उदाहरण दिया है। चाणक्य राक्षस को जीवित ही बन्दी बनाना चाहता है—इसी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपर्युक्त रोचक प्रकरण की उदभावना की गयी है। राजनीतिक प्रबंधों एवं जासूसी उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक प्रसंग प्राप्य हैं।

8. गर्भांक

सामाजिक जनों को आनन्द प्रदान करने में निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक के स्वरूप को धारण कर और (अन्य) दूसरे नटों को बनाकर⋯कहीं एक नाटक के भीतर दूसरा (प्रकरण) नाटक प्रयुक्त होता है वह सारे प्रबंधों की सर्वस्व भूत अलोकिक वक्रता को पुष्ट करता है।[2]

राजशेखर के बालरामायण नाटक के तृतीय अंक में सीता-स्वयंवर नामक गर्भांक की योजना इसका सुन्दर उदाहरण है।

9. प्रकरणों का पूर्वापर अन्वितिक्रम : संधि सन्निवेश

मुख, प्रतिमुख आदि संधियों के संविधान से मनोहर उत्तरवर्ती अंगों का

---

1. प्रधानवस्तु निष्पत्यै वस्त्वन्तरविचित्रता।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराप्यस्य वक्रता ॥

हि० व० जी० : 4.11, पृ० 518

2. सामाजिक जनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम् ॥
क्वचितप्रकरणस्यान्तः स्मृत प्रकरणान्तरम्।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम् ॥

वही : 4.12-13

(उचित) सन्निवेश भी प्रकरण वक्रता का प्रकार होता है ।[1]

पूर्वप्रकरणों का उत्तरप्रकरणों के साथ सामंजस्य अर्थात् पूर्वापर अन्वितिक्रम प्रकरण वक्रता का प्रमुख रूप है। वास्तव में यह कथा की मूल आवश्यकता है। इस सामंजस्य के बिना कथा का सूत्र ही टूट जायेगा । कुन्तक ने कुमारसंभवम् में विभिन्न घटनाओं की पूर्वापर अन्विति को इस भेद के रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी के सभी सफल प्रबंधों में उपर्युक्त वक्रता के दर्शन होते हैं।

प्रबन्ध वक्रता

प्रबन्ध वक्रता की परिधि में समग्र प्रबन्धकाव्य—महाकाव्य, नाटक आदि का वस्तुकौशल अन्तर्निहित है इसका आधार फलक सबसे अधिक व्यापक है। प्रबन्ध वक्रता वस्तुतः प्रबन्ध कल्पना के समग्र सौन्दर्य का पर्याय है। कुन्तक ने इसके छः भेदों का वर्णन किया है।

1. मूलरस परिवर्तन

समस्त कथा विधान का प्राण रस है। मूलरस के अनुरूप ही कथा के विभिन्न प्रसंगों की कल्पना तथा आयोजना की जाती है। 'जहां इतिवृत्त अर्थात् आधारभूत ऐतिहासिक कथावस्तु में अन्यथा निरूपित रस-सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी अन्य हृदयाह्लादकारी रस में निर्वहण (पर्यवसान) करने के उद्देश्य से कथावस्तु (कथामूर्ति) में आमूल परिवर्तन किया जाय, वहां प्रबन्ध वक्रता का उपर्युक्त भेद मिलता है।[2]

अतएव जब कवि की मौलिक प्रतिभा पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु होकर मूलरस में परिवर्तन करना चाहती है तो स्वभावतः उसे समस्त घटना विधान में ही आमूल परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध कौशल की उद्भावना होती है। इस प्रसंग में कुन्तक ने उत्तररामचरित और वेणीसंहार का उदाहरण दिया है। उत्तररामचरित रामायण पर तथा वेणीसंहार महाभारत पर

---

1. मुख्याभिसंधि संध्यादि संविधानकबन्धुरम् ।
   पूर्वोत्तरादिसङ्गत्या अङ्गानां सन्निवेशनम् ॥
   हि० व० जी० : 4.14, पृ० 524

2. इतिवृत्तान्यथावृत्त रस सम्पदुपेक्षया ।
   रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत् ।
   तस्याएव कथामूर्ते रामूलोन्मीलितश्रियः ।
   विनेयानन्दनिष्पत्त्यै साप्रबन्धस्य वक्रता ॥
   हि० व० जी० : 4.16-17, पृ० 558

आधारित है। रामायण तथा महाभारत का मूल रस शान्त है, परन्तु उत्तर-रामचरित का 'करुण' एवं वेणीसंहार का 'वीर'। दोनों के रचयिताओं ने मूल रस में परिवर्तन कर तथा तद्नुसार कथा विधानमें परिवर्तन कर अपने प्रबंध कौशल का परिचय दिया है। हिन्दी में रामचरितमानस (शान्त) रामचन्द्रिका (वीर) तथा साकेत (शृंगार) इसके उदाहरण हैं।

2. नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार

जहां कवि उत्तर भाग की नीरसता का परिहार करने के उद्देश्य से त्रैलोक्य को चकित करने वाले नायक-चरित्र के पोषक, इतिहासप्रसिद्ध कथा के प्रकरण विशेष पर ही कथा की परिसमाप्ति कर देता है, वहां द्वितीय प्रकार की प्रबंध वक्रता होती है।[1]

जब कवि चरित्रप्रधान काव्यों में समझता है कि नायक के चरमोत्कर्ष की घटना के पश्चात् कहानी इतिवृत्त कथन मात्र रह जाएगी तो वह उसे वहीं समाप्त कर देता है।

कुन्तक ने 'किरातार्जुनीयम्' का उदाहरण दिया है। 'किरातार्जुनीयम्' के प्रारम्भ के श्लोकों से प्रतीत होता है कि कवि दुर्योधन नाश से युधिष्ठिर के राज्यारोहण तक की समस्त घटनाओं का वर्णन करेगा, किन्तु होता यह है कि जहां अर्जुन किरात वेषधारी शिव के साथ युद्ध करके पाशुपत अस्त्र को प्राप्त कर लेता है, वहीं नायक के इस चरमोत्कर्ष की स्थिति पर कथा समाप्त हो जाती है। हिन्दी में प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त', मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथवध' इस प्रबन्ध वक्रता के उदाहरण हैं।

3. कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि

प्रधानवस्तु के संबंध का तिरोधान करने वाले किसी अन्य कार्य द्वारा बीच में ही विच्छिन्न हो जाने के कारण विरस हुई कथा, उसी विच्छेद स्थल पर प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने से अबाध रस से उज्ज्वल, प्रबन्ध की किसी अनिर्वचनीय

---

1. त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्।
तदुत्तरकथावर्ति विरसत्वजिहासया।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्यवक्रता॥
हि० व० जी० : 4.18-19, पृ० 530

नवीन वक्रता की सृष्टि होती है।[1]

प्रतिभावान कवि कभी-कभी अन्य घटना को उत्कर्ष प्रदान कर कथा के स्वाभाविक विकास का विच्छेद करता हुआ, अपने काव्य कौशल के बल पर बीच में ही प्रधान कार्य की सिद्धि कर देता है। इस प्रकार प्रधान कार्य की अनायास सिद्धि से काव्य में चमत्कार आ जाता है। कुन्तक ने 'शिशुपाल-बध' का उदाहरण दिया है। इस प्रकरण का प्रधान कार्य है यज्ञ की पूर्ति, किन्तु माघ ने शिशुपालवध की घटना को ही अत्यंत उत्कर्ष प्रदान कर, कथा को इस कौशल के साथ उच्छिन्न कर दिया है कि यज्ञ के फल की सिद्धि वहीं हो जाती है। यह नाटकीय चमत्कार विशेष आह्लाद की सृष्टि करता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इन्हें 'नाटकीय गुण' नाम दिया गया है।

4. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति

जहां एक फल विशेष की सिद्धि में तत्पर नायक अपने माहात्म्य के चमत्कार से वैसे ही अनेक फलों की प्राप्ति कर प्रथित यश का भाजन बनता है, वहाँ प्रबन्ध वक्रता का एक अपर (अर्थात् चतुर्थ) प्रकार मिलता है।[2]

कवि अपने कौशल द्वारा नायक को एक कार्य की सिद्धि में तत्पर दिखाकर अनेकों स्पृहणीय फलों की प्राप्ति करा देता है। कुन्तक ने नागानन्द का उदाहरण दिया है। नागानन्द का नायक जीमूतवाहन मूलत: अपने पिता की सेवा के लिए वन में जाता है। वहां उसका प्रेम और विवाह गन्धर्व कन्या मलयवती से हो जाता है। फिर वह शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर नागकुल की रक्षा करता है। इस प्रकार नायक की पितृभक्ति के साथ प्रेम तथा लोक-कल्याणकारी भूमा का सुख भी उसी प्रसंग में प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी में चित्रांगदा (अनूदित), हिड़िम्बा आदि में इसी प्रकार की वक्रता

---

1. प्रधानवस्तु संबन्धतिरोधानविधायिना।
कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा।
तत्रैव तस्यनिष्पते: निर्निबन्धरसौज्ज्वलाम्॥
प्रबन्धस्यानुबन्ध्नाति नवां कामपि वक्रताम्॥
हि० व० जी० : 4.20-21, पृ० 533

2. यत्रैक फलसम्पत्तिसमुद्यक्तोऽपि नायक:।
फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्य प्रतिपत्तिषु॥
धत्ते निमित्ततां स्फारयश: सम्भारभाजनम्।
स्वमाहात्म्य चमत्कारात् सापर चास्य वक्रता॥
हि० व० जी० : 4.22-23, पृ० 535

उपलब्ध होती है। इस वक्रता का मूल रहस्य भी कुतूहलवृत्ति के परितोष में ही निहित है।

5. प्रधान कथा का द्योतक नाम

प्रधानकथा के द्योतक चिह्न रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है और वह भी प्रबन्धवक्रता का एक भेद कहा जा सकता है।[1] प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य का नामकरण इस कौशल से करता है कि नाम के द्वारा ही काव्य का मूल रहस्य प्रकट हो जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम, मुद्राराक्षस आदि नाम इसके उदाहरण हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् की कथा का मूल चमत्कार अभिज्ञान-मुद्रिका द्वारा शकुन्तला के स्मरण पर निर्भर है। अभिज्ञान के खो जाने पर शकुन्तला का विस्मरण और अभिज्ञान के पा जाने पर उसके स्मरण ही में कथा का मूल सौन्दर्य अवस्थित है। हिन्दी में कामायनी, साकेत, रंगभूमि, कायाकल्प आदि नाम इसी प्रबन्धवक्रता के उदाहरण हैं। इसके विपरीत अभिधात्मक नामों—रामचरित, शिशुपालबध आदि को कुन्तक ने कल्पनाहीन नाम माना है।

6. एक ही मूलकथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य-वैविध्य

एक ही कक्षा में महाकवियों द्वारा आबद्ध काव्यबन्ध एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण किसी अमूल्य वक्रता का पोषण करते ।[2] कथाभाग का वर्णन समान होने पर भी अपने-अपने गुणों से काव्य नाटक आदि प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होते हैं जैसे प्राणों के शरीर समान होने पर भी अपने-अपने गुणों में भेद होता है ।[3] (इस प्रकार) नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले,

---

1. आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपिवक्रताम् ।
प्रधान संविधानाङ्गनामापि कुरुते कविः ॥
हि० व० जी० 4.24, पृ० 536

2. अप्यैककक्षयाबद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः ।
पुष्णन्त्यनर्घामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम् ॥ वही : 4.25, पृ० 538

3. कथोन्मेष समाने पि वपुषीव निजर्गुणैः ।
प्रबन्धाः प्राणिनः इव प्रभासन्ते पृथक् पृथक् ॥
वही : 4.25 का अंतरंलोक पृ० 539

महाकाव्यों के सभी प्रबन्धों में (अपनी-अपनी) वक्रता अथवा सौन्दर्य रहता है।[1]

उपर्युक्त वाक्यों का अभिप्राय यह है कि कवि अपने कौशल द्वारा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न विलक्षण प्रबन्ध काव्य, नाटकादि की सृष्टि करने में सफल हो जाते हैं। इन काव्य नाटकादि की आधारभूत कथा एक होती है, परन्तु इन सभी का मूल उद्देश्य, आनन्दवर्धन के शब्दों में 'ध्वन्यार्थ', सर्वथा भिन्न होता है, और उसी के कारण उनका काव्य-सौंदर्य भी एक दूसरे से विलक्षण होता है।

उदाहरण के लिए रामायण की मूल कथा के आधार पर संस्कृत में 'रामाभ्युदय', 'उदात्तराघव', 'वीर-चरित', 'वालरामायण', 'कृत्यारावण', 'मायापुष्पक' आदि अनेक नाटकों की रचना हुई। इन सभी की आधारभूत कथा समान है, परन्तु काव्य-सौन्दर्य एक-दूसरे से सर्वथा विलक्षण है। इसी प्रकार हिन्दी में भी 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रोदय', 'साकेत', साकेतसन्त आदि अनेक प्रबन्धकाव्यों का वस्तु आधार एक होते हुए भी ध्वन्यार्थ और तदनुसार काव्य-सौन्दर्य सर्वथा भिन्न है।

प्रबन्धवक्रता के इन भेदों के साथ ही कुन्तक का वक्रता वर्णन समाप्त हो जाता है। कवि प्रतिभा की वस्तुगत अभिव्यक्ति का नाम है वक्रता, अतएव कवि प्रतिभा के आनन्त्य के अनुसार वक्रता का भी आनन्त्य स्वत: सिद्ध है। कवि की प्रतिभा न जाने किस प्रसंग में किस प्रकार की नूतन कल्पना या नूतन चमत्कार की सृष्टि कर सकती है, इसका निश्चित ज्ञान किसको है? इसीलिए तो उपर्युक्त भेद सामान्य वर्गों का ही निर्देश मात्र करते हैं—वक्रता का आनन्त्य उसमें सीमाबद्ध नहीं है। फलत: कहा जाना चाहिए कि प्रस्तुत प्रकरण में अभी भी विवेचना एवं विश्लेषण की अनन्त संभावनाएं विद्यमान हैं काव्य में 'वक्रता' 'अर्थ' की दृष्टि से उपादेय तो है ही आधुनिक अर्थों में वह मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भी प्रतिबिम्बित कर सकती है। वक्रोक्ति के विविध आयाम स्पष्ट करते हैं कि वक्रता का काव्यमय आयोजन नितान्त नव्य सृष्टि करने में सक्षम है, इसी कारण यह महत्वपूर्ण और प्रासंगिक भी है।

---

1. नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम्।
महाकवि प्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्रता॥

हि० व० जी० : 4 26 पृ० 540

३

वक्रोक्ति और अन्य काव्य सिद्धांत

वक्रोक्ति और रस

कुन्तक सामान्यतः अलंकारवादी आचार्य समझे जाते हैं। वक्रोक्ति में चमत्कार सन्निविष्ट है। उनका वैदग्ध्यभंगीभणिति व्यापक चमत्कार का मूलाधार है। पर उन्होंने चमत्कार को प्रस्तुत के औचित्य से अनुशासित और नियमित किया है। इसी कारण यह चमत्कार अनुप्रास, यमक, चित्रबंध, असगति और विरोधाभास आदि की संकीर्ण सरणि से ऊपर उठकर सौंदर्य के व्यापक अर्थ में बद्ध हो गया है। उन्होंने काव्य में लोकातिक्रान्तगोचरता को आवश्यक बताया। इस लोकोत्तर चमत्कार के समीप पहुंचकर कुन्तक रससिद्धांत को आत्मसात कर लेते हैं। इस लोकोत्तर वैचित्र्य से उन्होंने तद्विदाह्लाद का तादात्म्य स्थापित किया है।

'सालंकारस्य काव्यता' की उद्घोषणा करने वाला काव्य सिद्धांत रस तत्व को स्वीकार कर ही आगे चला है। कुन्तक ने काव्य लक्षण के प्रसंग में ही 'कवि व्यापार के साथ 'तद्विदाह्लादकारिता' को भी अनिवार्य माना है।[1] 'तद्विद्' का तात्पर्य 'सहृदय' से है और 'सहृदय' आस्वाद पक्ष से सम्बद्ध है काव्यप्रयोजन पर विचार करते समय वे स्पष्टतः 'रस' शब्द का प्रयोग करते हैं।[2] कुन्तक ने 'सहृदय' या 'तद्विद्' को स्पष्टतया रसादि परमार्थज्ञ अर्थात् रसादि के परमतत्त्व का वेत्ता कहा है।[3] उसी प्रकार सौभाग्यगुण को परिभाषित करते हुए 'सहृदय' के लिए

1. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥—हि० व० 1.7
2. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
   काव्यामृत रसानान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ वही, 1.5
3. रसादि परमार्थज्ञमनः संवाद सुन्दरः॥ वही 1.26

'सरसात्मनाम्' शब्द का प्रयोग किया है और उसकी व्याख्या के लिए 'आर्द्र चेतसाम्' कहा है:

सर्वसम्पत्परिस्पन्द सम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।

× × + सरसात्मनाम् आर्द्र चेतसाम्...।[1]

इस प्रकार कुन्तक का सहृदय निश्चय ही सरसात्मा अथवा आर्द्रचित्त रसज्ञ ही है और उसका आह्लाद रसास्वाद ही है।

वक्रोक्ति सिद्धांत ने रस की अलंकारता का स्पष्ट खण्डन किया है। कुन्तक रस को अलंकार्य के ही रूप में ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं कि रसवत् 'अलंकार नहीं है, क्योंकि इसकी अलंकारता स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीति न होने से खण्डित हो जाती है।

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासन्यत् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्यं शब्दार्था संगतेरपि ।।[2]

कुन्तक रसवत् को सब अलंकारों का जीवित मानते हैं तथा वे उसे काव्य का सर्वस्व अंगीकार करते हैं।

यथा स रसवन्नाम सर्वालकार जीवितम् ।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ।।[3]

रस का तिरस्कार कुन्तक के पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने भी किया था। उन्होंने रस की अलंकार्यता का निषेध किया था। वस्तुतः उन्होंने रस को आभूषण मात्र बना दिया था। कुन्तक ने भामह, उद्भट और दण्डी आदि की परम्परा का परित्याग कर रस के प्रसंग में रस-ध्वनिवादियों का अनुसरण किया।

वक्रोक्ति के अन्तर्गत रस का स्थान क्या है? अलंकार्य मान लेने से रस को अधिक काष्ठा प्राप्ति नहीं होती। अलंकार्य शरीर है और अलंकार आभूषण। वह आत्मा तो नहीं बन पाता। इस प्रसंग में उपर्युक्त संदेह का निवारण कर दिया है।

रसवतोऽलंकार इति षष्ठीसमास पक्षेऽपि न सुस्पष्टमन्वयः ।
यस्य कस्यचित काव्यत्वं रसवत्वमेव ।[4]

किसी भी काव्य का रसवत्व ही उसका काव्यत्व है। इसकी महिमा से कुन्तक इतने अभिभूत हैं कि प्रकारान्तर से वे उसका अलंकारत्व स्वीकार कर लेते हैं।

---

1. हि० व०, जी०-पृ० 203 3.11
2. वही, 3.14
3. वही, पृ० 352
4. वही, पृ० 352

रसे न वर्तते तुल्यं रसवत्व निधानतः ।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लाद निर्मितः ।[1]

अर्थात् रस तत्व के विधान से जो अलंकार सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने से अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है।

कुन्तक काव्य की वर्ण्य वस्तु को स्पष्ट रूप से रस स्वरूप मानते हैं और विविध प्रकार से उसकी रस निर्भरता का प्रतिपादन करते हैं—तदेवं विधं स्वभावप्राधान्येन रसप्राधान्येन द्विप्रकारं सहज सौकुमार्य सरसं स्वरूपं वर्णनाविषयवस्तुनः शरीरमलंकार्यतामेवार्हति ।[2] अर्थात् इस प्रकार स्वभाव प्राधान्य से रस प्राधान्य दो प्रकार से वर्णना के विषयभूत वस्तु का सहज सौकुमार्य से रसस्वरूप शरीर ही अलंकार्यता के योग्य है। कुन्तक ने काव्य वस्तु के चेतन और अचेतन दो भेद किए हैं तथा चेतन को ही मुख्य माना है और उसके लिए रसादि का परिपोष आवश्यक माना है।

मुख्यमक्लिष्ट रत्यादि परिपोष मनोहरम् ।
स्वजात्युचित हेवाकसमुल्लेखोज्ज्वलं परम् ।।[3]

उन्होंने अचेतन वस्तु की काव्यता रसोद्दीपन सामर्थ्य के कारण ही मानी है :

रसोद्दीपन सामर्थ्यविनिबन्धन बन्धुरम् ।
चेतनानाममुख्यानां जड़ानां चापि भूयसा ।।[4]

वस्तु का काव्यत्व वस्तुतः रसावहता के कारण ही सिद्ध होता है।

कुन्तक ने मार्ग-त्रय के धर्म-निरूपण में भी रस की महिमा का संकेत किया है। सुकुमार मार्ग के निरूपण में 'रसादि परमार्थज्ञ मनः संवाद सुन्दरम्' (1.26) कहा है। विचित्र मार्ग 'सरसाकूत' और रसनिर्भराभिप्राय' (1.41) है। मध्यम मार्ग में चूंकि दोनों मार्गों के गुण परस्पर स्पर्धा करते हैं, अतएव उसे भी रस पुष्ट होना चाहिए। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस को एक अनिवार्य उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्रबन्ध वक्रता को कुन्तक ने वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप माना है—प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ।[5] अर्थात् प्रबन्ध साधारण कवियों की नहीं अपितु कवीन्द्रों की कीर्ति का मूल कारण है। वे यह भी मानते हैं कि निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथा

---

1. हि० व० जी०, 3.15
2. वही, पृ० 337
3. वही, 3.7
4. वही, 3.8
5. वही, 4.26 का अन्तरश्लोक।

मात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है।

निरन्तर रसोद्गार गर्भ संदर्भ निर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता ।।[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कुन्तक के अनुसार भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रबन्ध है और प्रबन्ध का प्राण तत्त्व रस है। इस प्रकार ध्वनि काव्य की भांति वक्रोक्ति काव्य का भी प्राणत्व रस ही सिद्ध होता है। प्रकरण वक्रता के भेद-उत्पाद्य लावण्य की परिभाषित करते हुए कुन्तक कहते हैं कि कवि इतिहास प्रसिद्ध कथा में कल्पना के माध्यम से तनिक-सा परिवर्तन कर देता है जिससे परमोत्कर्ष को प्राप्त रस से परिपूर्ण अर्थात् सर्वोच्च कोटि को प्राप्त शृंगार आदि रस से परिपूर्ण यह प्रकरण सारे काव्य को प्राणभूत सा प्रतीत होने लगता है।[2] यहां पर भी रस की महत्ता स्वतः स्पष्ट है।

अब प्रश्न यह है कि वक्रोक्ति यदि काव्य जीवित है और रस काव्य का परम तत्व है तो इन दोनों का समंजन कैसे किया जाये ? कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति काव्य का प्राण है और वक्रोक्ति का अर्थ, उक्ति चमत्कार मात्र न होकर कवि कौशल अथवा काव्यकला ही है। कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है। अर्थ की विभूतियों में सबसे मूल्यवान रस है। अतएव रस वक्रोक्ति रूपिणी काव्यकला का परम तत्व है। काव्य की प्राण चेतना वक्रता है और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार रस-सम्पदा है। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है। रस और ध्वनि दोनों आत्मनिष्ठ हैं, अतएव उनका सम्बन्ध अधिक अंतरंग है। वक्रोक्ति मूलतः वस्तुनिष्ठ है। अतः रस के साथ उसका सम्बन्ध आधार-आधेय का ही है।

वक्रोक्ति और अलंकार

ये दोनों सिद्धान्त उक्ति पर आश्रित हैं तथा वस्तुगत चमत्कार के पक्षपाती हैं। कुछ विद्वान् वक्रोक्ति को अलंकार का रूपान्तर मात्र मानते हैं। परन्तु दोनों के क्षेत्र तथा प्रतिस्थापनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक सिद्धान्त है। कुन्तक ने अलंकार का प्रयोग दो अर्थों में किया है—एक तो वक्रोक्ति के विशिष्ट अर्थ में और दूसरा उपमादि अलंकारों के सामान्य अर्थ में। उन्होंने अपने ग्रंथ के कारिका

---

1. हि० व०, 4.11
2. वही, 4.4

भाग का नामकरण 'काव्यालंकार' किया। भामह, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने भी काव्यालंकार नाम से अपने ग्रन्थों की रचना की और काव्य के उपमा, व्यतिरेक, श्लेष आदि शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण किया है। परन्तु कुन्तक जिस काव्यालंकार की रचना कर रहे हैं, वह विशिष्ट प्रकार का अलंकार है और वह है वक्रोक्ति। उनका कहना है कि यद्यपि बहुत से 'काव्यालंकार' विद्यमान हैं, परन्तु उनमें से किसी से इस प्रकार के लोकोत्तर वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हो सकती।[1] यही अलंकार का विशिष्ट प्रयोग है। 'वाक्य वक्रता' के अन्तर्गत उन्होंने उपमादि अलंकार वर्ग का विशद वर्णन प्रस्तुत किया हैं। अलंकारवादी आचार्यों द्वारा वर्णित रसवदलंकार, प्रेयोऽलंकार, ऊर्जस्वी अलंकार, समाहित अलंकार के अलंकारत्व को स्वीकार नहीं किया। प्रेयोऽलंकार के विषय में भामह ने लिखा है—'प्रेयोऽलंकार वह है जैसे अपने घर पर आये हुए कृष्ण से विदुर जी ने कहा कि हे गोविन्द, आज आपके घर आने से जो आनन्द मुझको प्राप्त हुआ है, वैसा आनन्द फिर कभी दूसरे समय आपके आने पर ही प्राप्त होगा।'[2] वस्तुतः यह लक्षण न होकर प्रेयोऽलंकार का उदाहरण मात्र है। दण्डी ने भी इसे 'प्रिय बात का कथन करना' माना है।[3] कुन्तक ने इनका खण्डन करते हुए कहा है कि भामह की उक्त कारिका में जो बात कही गई है, वही वर्णमान होने से वस्तु का स्वभाव अर्थात् अलंकार्य है। वह स्वयं ही अलंकार्य और अलंकरण दोनों रूप हो जायें, यह युक्ति-सगत नहीं हो सकता है।[4] इसी भांति उर्जस्वी तथा उदात्त अलंकारों का भी उन्होंने खण्डन किया है। ऊर्जस्वी अलंकार के खण्डन में कुन्तक की उक्ति यह है कि अनौचित्य के अतिरिक्त और कोई रस भंग का कारण नहीं है। जहां अनौचित्य का संसर्ग आ जाता है, वहां उस अनौचित्य से रस अलंकृत नहीं, अपितु दूषित होता है। उसको अलंकार कैसे कहा जा सकता है। और दूसरी युक्ति यह है कि वे सब वर्णनीय वस्तु के स्वरूप होते हैं। अतः अलंकार्य ही हो सकते हैं, अलंकार नहीं।[5] उदात्त के सम्बन्ध में उनका मत है कि ऋद्धिमत् वस्तु वर्णन अथवा महा-

---

1. लोकोत्तर चमत्कार कारिवैचित्र्य सिद्धये -
   काव्यास्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।। हि० व० जी०, 1.2
2. प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
   अद्य मया या गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
   कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवेवागमनात् पुनः ।। काव्यालंकार : भामह, 3.5
3. हिन्दी काव्यादर्श, 2.275
4. हि० व० जी०, पृ० 369
5. वही, 3.12 कारिका की वृत्ति

पुरुष के चरित्र का वर्णन तो वर्ण्य विषय या अलंकार्य है, अलंकार नहीं।[1] इसी प्रकार समाहित को भी उन्होंने अलंकार्य वस्तु रूप ही माना है।[2] कुन्तक ने शोभा-रहित, उक्ति वैचित्र्य से शून्य यथासंख्या, हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों का भी तिरस्कार किया है। उनका कहना है कि भामह आदि ने यथासंख्या को अलंकार कहा है, परन्तु वास्तव में उसमें किसी प्रकार का उक्ति चमत्कार न होने से किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है, इसलिए उसको अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।[3] उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों को भी अस्वीकृत किया है क्योंकि उसमें समुदाय रूप कोई वक्र उक्ति नहीं होती।[4] ऐसे ही आशीः, विशेषोक्ति ऐसे अलंकार हैं जिनका सम्बन्ध भी वर्णन शैली से न होकर वर्ण्यविषय से है, इसलिए वे अलंकार नहीं हैं।[5] कुन्तक की दृष्टि बड़ी ही स्पष्ट थी ! उन्होंने अनावश्यक अलंकार-भेद प्रस्तार को महत्त्वपूर्ण अलंकार में सन्निविष्ट कर दिया है। उन्होंने उपमा के स्वरूप निरूपण में यह स्पष्ट किया हैं कि 'अब हम सादृश्यमूलक अलंकार समूह के रचना सौन्दर्य पर विचार करते हैं।[6] इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति आदि साम्यमूलक अलंकारों को उपमा के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर दिया है।

कुन्तक की दृष्टि व्यवस्थापन की और अधिक थी। यही कारण है कि उन्होंने अलंकारों की उत्तरोत्तर वृद्धि को कम किया है। वस्तुतः अलंकारों का अनावश्यक भेद-प्रस्तार काव्य सौन्दर्य को मलिन कर देता है। उन्होंने कई स्थानों पर ऐसे अलंकारों का खण्डन भी किया है जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उदाहरण के लिए समासोक्ति का सौन्दर्य काल्पनिक हैं, उसे श्लेष के अन्तर्गत समाविष्ट करना उचित नहीं है। इसी प्रकार निदर्शना और प्रतिवस्तूपमा अलंकारों का सन्निवेश उपमा में ही मान लिया गया है और उत्प्रेक्षा तथा संदेह अलंकारों की स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है किन्तु तुलना करें तो पता लगता है कि उत्प्रेक्षा और संदेह अलंकार निदर्शना आदि की अपेक्षा उपमा के कहीं अधिक निकट हैं। उन्होंने कुछ गलतियां अवश्य की हैं, फिर भी उनके व्यवस्थापन कौशल को भुलाया नहीं जा सकता।

---

1. हि० व०, 3.12 कारिका की वृत्ति
2. वही, पृ० 381
3. वही, पृ० 480
4. वही, पृ० 481
5. वही पृ० 480
6. वही, पृ० 433

कुन्तक का महत्वपूर्ण विवेचन वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के विषय में है।

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

अलंकार शास्त्र में स्वभावोक्ति को भी अलंकार ही माना गया है। कविता के कई उच्चतम प्रकार ऐसे होते हैं जिनमें अलंकारों के अभाव में भी सौन्दर्य विद्यमान रहता है। ऐसी ही सौन्दर्यपूर्ण कविताओं को देखकर काव्य में अलंकारों के स्वरूप और कार्य पर नए ढंग से विवेचन प्रारम्भ हुआ होगा। अलंकार रहित स्वाभाविक वर्णन को ही स्वभावोक्ति नाम से अभिहित किया गया है। अलंकार रहित वर्णन को स्वभावोक्ति और अलंकार पूर्ण वर्णन को वक्रोक्ति कहने से दोनों एक-दूसरे के प्रतिलोम बन गए। काव्य-विद्यमान के तीन पृथक्-पृथक् बिन्दु होते हैं —अनुकार्य या वर्ण्य, कर्त्ता या कवि, और सामाजिक। स्वभावोक्ति वर्ण्य-विषय पर आधृत है और वक्रोक्ति में कवि कर्म को प्रधानता है। रसोक्ति सामाजिक को केन्द्र में रखकर चलने वाली उक्ति है। इन तीनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यहां प्रधानता को ध्यान में रखकर ही यह बात कही जा रही है। भोज ने भी वाङ्मय को इन्हीं तीन भागों में विभाजित किया है।

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति का अन्तर आलंकारिक वर्णन और नैसर्गिक वर्णन का अन्तर है। स्वभावोक्ति के अन्य अभिधान 'जाति' के व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर विचार करने से भी यही सिद्ध होता है। जाति जन से व्युत्पन्न है। और इसका सम्बन्ध यथावत् वर्णन से है। शास्त्रों में जाति पदार्थ का बोधक है और व्यक्ति आकृति का। जाति के द्वारा पेड़-पौधे, पक्षी, पशु आदि का वर्णन उनकी जाति और हेवाक को व्यक्त करते हुए किया जाता है। नैसर्गिक वर्णन का यही आरम्भिक प्रकार है। दण्डी का कहना है कि पदार्थों के रूप को प्रत्यक्ष करके दिखलाने वाली अलंकृति स्वभावोक्ति है।[1] स्वभावोक्ति वस्तुतः वस्तु का उत्कर्ष है और वक्रोक्ति अप्रस्तुत का। वस्तु के उत्कर्ष वर्णन में सहृदयता अपेक्षित है, और अप्रस्तुत के उत्कर्ष वर्णन में वाग्वैदग्ध्य। यही कारण है कि वाक्-वैदग्ध्य और भगीभणिति से वक्रोक्ति का सम्बन्ध जोड़ा जाता रहा है।

पदार्थ की अनेक अवस्थाएं होती हैं अतः स्वभावोक्ति का कवि उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करता है। ऐसा वर्णन चित्रात्मक होता है। वर्णन के माहात्म्य के कारण पदार्थ यहां साक्षात् रुप में उपस्थित होते हैं। दण्डी ने इसे इसी रूप में परिभाषित किया है: "नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती'।[2] इसी

---

1. हिन्दी काव्यादर्श : श्री रामचन्द्रमिश्र, 2.8
2. वही, 2.8

बात को पँत ने बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा है। 'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहियें, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भावसंगीत विद्युत्धारा की तरह रोम रोम में प्रवाहित हो सके, जिनका सौंरभ सूंघते ही सांसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जाये।'[1] अतः यह बात स्वतः स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति में वस्तु के गोचरत्व की क्षमता, वक्रोक्ति की तुलना में अधिक होती है। पदार्थों का नानावस्थाओं में वर्णन काव्य में होता है। स्वभावोक्ति के अन्तर्गत यह वर्णन नैसर्गिक होना चाहिए, कल्पित नही। कल्पित वर्णन वक्रोक्ति का क्षेत्र है। यह तो ठीक है कि कुन्तक ने रस, स्वभाव और अलंकार को कवि कौशल का ही चमत्कार माना है, तथापि विशेष रूप से अलंकार उनके अनुग्रह के बिना किंचित् भी वैचित्र्य प्राप्त नहों करता है। स्वभाव के वर्णन से तात्पर्य है कि उसमें कुछ भी आरोपित नहीं होना चाहिए। स्वभाव का शाब्दिक अर्थ भी यही है। यह मात्र अपना भाव है। भोज ने 'स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः' द्वारा यही बात कही है।[2]

अर्थ के दो क्षेत्र हैं: वस्तु स्वभाव और भाव। इस दृष्टि से विचार करें तो वस्तु संवाद का सम्बन्ध वस्तु स्वभाव से है और चित्रसंवाद का सम्बन्ध भाव से है। स्वभावोक्ति वस्तु संवाद है और रसोक्ति चित्रसंवाद। जब इन दोनों का वर्णन अलंकार की भाषा में किया जाता है, तब वह वक्रोक्ति है। इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। भोज के अनुसार उपमादि अलंकार वक्रोक्ति है, रस रसोक्ति और गुण स्वभावोक्ति: 'त्रिविधः खल्वलंकारवर्गः वक्रोक्तिः, स्वाभावोक्तिः, रसोक्तिरिति। तत्र उपमाद्यलंकार प्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोऽपि गुण प्राधान्यै स्वभावोक्तिः, विभावानुभावो व्यभिचारि संयोगान्तै रसनिष्पत्तो रसोक्तिरिति।[3] गुण का काव्य के साथ सत्य और समवाय सम्बन्ध है, लेकिन अलंकार का संयोग और अनित्य सम्बन्ध है। इसलिए गुण के बिना काव्य रचना नहीं हो सकती है। गुण काव्य की सहज शोभा है और अलंकार आहार्य। स्वभावोक्ति कविता की अलंकार रहित स्थिति है। अतः स्वभावोक्ति गुणाधिक्य की स्थिति है और वक्रोक्ति अलंकार प्राधान्य की।

स्वभावोक्ति ग्राम्यत्व का परिहार करती है। बाण के अनुसार 'जातिर-

1. पल्लव (प्रवेश), पृ० 29
2. सरस्वती कण्ठाभरण, 9.4
3. शृंगार प्रकाश, द्वितीय भाग, जी० एस० जोशियर, एकादश प्रकाशः, पृ० 438

ग्राम्या' इसकी अनिवार्य शर्त है। महिमभट्ट ने भी कहा है कि इसे 'अवाच्य वचन दोष से मुक्त 'होना चाहिए।[1] कुन्तक ने स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का विरोध करते हुए यह तर्क उपस्थित किया है कि तब तो गाड़ी हांकने वालों के वाक्यों में भी सालंकारता मिलने लगेगी।[2] लेकिन बाण और महिमभट्ट की बात ही ठीक है। ग्राम्यत्व का परिहार अवश्यक है। इसे चारु होना चाहिये। कुमार स्वामी ने परिभाषित किया है कि जो सम्यक् रूप से अग्राम्य है, वही चारु है।[3] वर्डसवर्थ ने बोलचाल की भाषा में कविता लिखने का सुझाव अवश्य दिया था, पर वे भी 'भाषा के चयन' की बात करते हैं। यह चयन जैसा कि वे बतलाते हैं, साधारण जीवन के अधमता और अश्लीलता से मुक्ति'[4] के लिए आवश्यक है। अतः वर्ड्-सवर्थ भी स्वभावोक्ति के नंदतिक आधार के प्रति सचेष्ट हैं।

विधेयात्मक पक्ष में स्वभावोक्ति को रमणीय होना चाहिए। महिमभट्ट के अनुसार स्वभाव के दो स्वरूप होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। शब्द से जो वस्तु बतलायी जाती है, वह स्थूल रूप से समझ में आती है। वस्तु का वह रूप जो पूर्ण सूक्ष्मता से अन्वित है, आँखों से देखने पर ही समझ आ सकता है। यह विशिष्ट स्वभाव सिद्ध नहीं है, अपितु कवि प्रतिभा से गोचरत्व प्राप्त करता है। महिमभट्ट बतलाते हैं कि वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, वह प्रत्यक्ष का विषय है, वही अच्छे कवियों की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय होता है।[5] रुय्यक का भी कहना है कि वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावत् वर्णन ही स्वभावोक्ति है।[6]

अभिनव गुप्त ने रसवार्ता को सर्वोच्च स्थान दिया है। किन्तु रसवार्ता की निष्पत्ति प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्दों द्वारा समर्पित विभावादि के योग से होती है। यह समर्पण स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति करती है। अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि स्वभावोक्ति लोकधर्मी है और वक्रोक्ति नाट्यधर्मी।[7] वस्तुतः यह

---

1. हिन्दी व्यक्ति विवेक, पृ० 451
2. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : वृत्ति 1.12
3. 'यत्र चारु सम्यगग्राम्यम्।'—प्रताप रुद्रयेशोभूषण, पृ० 412
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० 145
5. हिन्दी व्यक्ति विवेक, 2.116
6. 'सूक्ष्म वस्तु स्वभाव यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः'।
   अलंकार सर्वस्व, काव्यमाला, पृ० 177
7. 'काव्ये च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति वक्रोक्ति प्रकार द्वयेना लौकिक प्रसन्न मधुरोजस्वि शब्द समर्प्यमाण विभावानि योगादियमेव रसवार्ता।'
   डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा हिन्दी काव्य प्रकाश' में उद्धृत पृ० 398

यथावत् वर्णन और आलंकारिक वर्णन का ही पर्याय है। स्वभावोक्ति वस्तु की ही वक्रता है। भामह वस्तु की गरिमा से परिचित हैं, पर वे इसकी काष्ठाप्राप्ति के लिए अलंकार को महत्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं कि रमणी का मुख भी अलंकार के बिना नहीं शोभता।[1] इससे यही निष्कर्ष निकलता है, अलंकार महत्त्वपूर्ण है, पर वस्तु का नैसर्गिक चारुत्व भी आवश्यक है।

कुन्तक को स्वभावोक्ति की रमणीयता स्वीकार्य है।[2] उनका कहना है कि स्वभाव का ही वर्णन स्वभावोक्ति कहा जा सकता है।[3] उनकी मुख्य शंका यह है कि स्वभाव का वर्णन ही यदि अलंकार है, तो फिर उससे भिन्न काव्य के शरीर-स्थानीय कौन-सी वस्तु है, जो अलंकार्य का स्थान लेगी। उसकी युक्ति अत्यन्त प्रबल है। शरीर ही यदि अलंकार हो जाय, तो वह दूसरे किसको अलकृत करेगा। कहीं कोई स्वयं अपने कंधे पर चढ सकता है। वे यह भी कहते हैं कि यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान लिया जाय, तब तो केवल संकर और संसृष्टि अलंकार ही रह जाएंगे।[4]

वस्तु का सामान्य वर्णन चारुत्व से रहित होता है। अतएव-कुन्तक का मत है कि अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त वर्णनीय वस्तु का ही ग्रहण करना चाहिए। उन्हें इस बात का भी स्पष्ट बोध है कि पदार्थ का जहां अतिशय होता है, वहां अन्य अलंकारों का प्रयोग उचित नहीं है। 'इस प्रकार के पदार्थों के स्वभाव की सुकुमारता के वर्णग के प्रसंग में उपमादि वाच्य अलंकारों का अधिक उपयोग नहीं हो सकता है। उससे स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है।' कुन्तक इसी को वस्तुवक्रता कहते है। कुन्तक के पक्ष मे वे सार कविताएं है, हम जिन्हें स्वभावोक्ति के उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया करते हैं। उनमें अलंकारों का न्यूनतम योग ही रहता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वस्तु का उत्कर्ष स्वभावोक्ति है और अलंकारों की विच्छित्ति वक्रोक्ति। दूसरे का प्राणभूत कविकौशल है, पर पहले में उसका योग रहता है स्वयं कुन्तक लिखते हैं कि 'वर्ण्यमान के औचित्य के अनुरोध से महाकवियों को कभी केवल स्वाभाविक सौंदर्य ही एकरूप में प्रकाशित करना अभीष्ट होता है और कभी विविध प्रकार के रचना के वैचित्र्य से युक्त सौन्दर्य का वर्णन करना अभीष्ट होता है। उनमें से पहले पक्ष में रूपक आदि अलंकारों का वैसा कोई तत्व नहीं है। और दूसरे पक्ष में अलकारादि रूप रचना वैचित्र्य ही

1. काव्यालंकार, 1.13
2. तच्चातीवरमणीयम्...हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० 53
3. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० 53
4. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित पृ० 1.11.5-

मुख्य प्रतीत होता है।[1] कुन्तक ने भी कहा है कि स्वभाव का स्पष्ट रूप से परि-पोषण ही वक्रता का परम रहस्य है।[2] इस प्रकार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। स्वभावोक्ति अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकार।

कुन्तक की वक्रोक्ति के अन्तर्गत सभी महत्त्वपूर्ण अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है। उन्होंने अलंकार्य और अलंकार तथा स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति की बड़ी ही स्वच्छच मीमांसा प्रस्तुत की है। अनावश्यक अलंकार भरे प्रस्तार को कम करके उन्होंने काव्यशास्त्र को समृद्ध किया है।

वक्रोक्ति और रीति

रीति सिद्धान्त से प्रभाव ग्रहण करने में भी कुन्तक ने अपनी प्रतिभा एवं प्रखर मेधा का परिचय दिया है। अपनी रुचि और स्वभाव के अनुरूप कवि द्वारा ग्रहीत शैली को वामन की रीति से अभिन्न 'मार्ग' संज्ञा देते हुए इस दिशा में मौलिक स्थापनाएं की हैं। उनका कहना है कि मार्ग का अर्थ है कवि-प्रस्थान-हेतु, और कवि के स्थान से अभिप्राय है, रचना में प्रवृत्त होना अर्थात् काव्य रचना।[3] सुकुमार मार्ग के विवेचन में वे पुनः कहते है कि जिसका अवलम्बन कर कवि काव्य रचना करता है, वही मार्ग है[4] अतः काव्य रचना विधि को मार्ग कहते हैं। मार्ग के इस लक्षण निरूपण में उनका मत वामन से मूलतः भिन्न नहीं है। वामन की 'विशिष्ट पद रचना' और कुन्तक के 'कविप्रस्थानहेतु' में कोई अन्तर नहीं है। यदि अन्तर है तो केवल यह कि—कुन्तक समस्त काव्य-रचना-विधि को मार्ग कहते हैं और वामन मात्र पद-रचना को।

कुन्तक ने रीति को स्वच्छ मनोवैज्ञानिक धरातल प्रदान किया है। इस संबंध में डा० राघवन के विचार द्रष्टव्य हैं—'भारतीय काव्य मे रीति विकास के तीन सोपान हैं—पहला सोपन वह है जब रीति देश से सम्बद्ध मानी जाती थी। दूसरा सोपान वह है जब रीति देश के आसंगों से मुक्त होकर वस्तु के साथ सम्बन्धित कर दी गई। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण सोपान यह है कि कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा और साहित्यिक प्रतिभा का उपयोग करते हुए इसे कविस्वभाव से संबद्ध ब तायाऔर पुरानी रीतियों के स्थान पर नई रीतियों की स्वतत्र उद्भावना की।[5]

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० 303
2. वही, पृ० 163
3. वही, पृ० 98
4. वही, पृ० 105
5. स्टडीज आन कंसेप्ट आफ अलंकार शास्त्र : वी०राघवन, पृ० 131

इससे स्पष्ट है कि कुन्तक रीति के मौलिक तथ्य के समीक्षक हैं। उन्होंने स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थापित कर रीति को नई दृष्टि प्रदान की। वामन की विशिष्ट पद रचना का वैशिष्ट्य गुणात्मा है, जबकि उनकी काव्य रचना की विधि, कवि स्वभाव पर आश्रित है। कवि स्वभाव का वर्णन करने से पूर्व उन्होंने रीति के भौगोलिक आधार का खण्डन किया है। आचार्य भामह ने भी भौगोलिक धारणा की असारता को घोषित किया है।[1]

कुन्तक की मान्यता है कि काव्य रचना में प्रतिभा आदि की भी अपेक्षा रहती है, जो देश-विशेष के कारण नहीं, अपितुकवि की अन्भजात स्वाभाविक देन है। वे प्रतिभा को ही नहीं, अपितु व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी स्वाभाविक ही मानते हैं। कुन्तक की स्थापना है कि कवियों के स्वभावभेद के आधार पर किया गया काव्यमार्ग का भेद युक्तिसंगत हो सकता है।

देशभेद के आधार पर किए गए रीतियों के वैदर्भी आदि भेदों का उन्होंने खण्डन किया है। साथ ही उनके अनुसार उपादेयता के तारतम्य के अनुसार रीतियों के जो उत्तम, मध्यम और अधम रूप से रीतियों का वैविध्य स्थापित करना भी अनुचित है। कारण अन्य भेदों में वैदर्भी के समान सौन्दर्य असम्भव होने से मध्यमा और अधम का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।[2] कवि स्वभाव के आनन्त्य होने पर भी सुविधा की दृष्टि से कुन्तक ने मार्गों के तीन सामान्य भेद ही किए हैं… सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

कुन्तक का गुण विवेचन भी विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने गुणों के दो भेद किए हैं—सामान्य और विशिष्ट। औचित्य और सौभाग्य गुण सभी मार्गों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं, इसलिए ये सामान्य गुण हैं और माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य विशिष्ट गुण हैं। उसका कहना है कि तीनों मार्गों में औचित्य तथा सौभाग्य गुण पदों, वाक्यों तथा रचना में व्यापक और उज्ज्वल रूप से विद्यमान रहते हैं।[3] औचित्य गुण के स्वभाव का वर्णन करते हुए, वे कहते हैं कि 'जहां वक्ता के शोभातिशययुक्त मनोहर स्वभाव से वाच्य अर्थ आच्छादित हो जाता है, वहां औचित्य गुण होता है।[4] सौभाग्य गुण के विषय में उनका कहना है कि जब शब्दादि रूप पदार्थ समूह की योजना में कवि की प्रतिभा विशेष रूप से प्रयत्नशील रहती है, वह सौभाग्य गुण कहा जाता है।[5] ये दोनों गुण समान रूप से

1. काव्यालंकार : 1.33
2. हि० व० जी०, पृ० 100
3. वही, 1.57
4. वही, 1.54
5. वही, 1.55

तीनों मार्गों में स्थित रहते हैं, परन्तु विशेष गुणों की स्थिति सभी मार्गों में भिन्न प्रकार से स्थित रहती है।

सुकुमार मार्ग से संबद्ध माधुर्य गुण को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि समासरहित मनोहर पदों का विन्यास ही इसका प्राण है।[1] प्रसाद गुण के विषय में उनका कहना है कि इसमें रस तथा वक्रोक्ति के विषय अनायास ही व्यक्त हो जाते हैं और अर्थ का तुरन्त प्रतिपादन हो जाता है।[2] लावण्य गुण के विषय में वे कहते हैं कि वर्ण्यमान के सौन्दर्य से युक्त पदों की योजना की थोड़ी सी सम्पत्ति से युक्त रचना का सौष्ठव लावण्य कहा जाता है।[3] वे वर्णयोजना के सौन्दर्य और वाक्य रचना के रमणीयत्व को लावण्य का विधायक मानते हैं। चौथे गुण आभिजात्य के विषय में उनका कथन है कि यह सुनने में मृदुता युक्त और सुखद स्पर्श के समान चित्त को छूता हुआ सा स्वभाव से कोमल छाया वाला होता है।[4]

विचित्र मार्ग में भी चार गुण होते हैं। इस मार्ग के माधुर्य गुण में वैचित्र्य का सम्पादन तथा कोमल भाव का सर्वथा निराकरण होता है।[5] इस मार्ग में प्रसाद गुण समस्त पदों से रहित ओर ओजगुण से किंचित् स्पर्शयुक्त होता है।[6] लावण्य में पद परस्पर गुंफित होते हैं तथा उनके अन्त में विसर्ग का लोप नहीं होता एवं संयोगपूर्वक ह्रस्व स्वर की बहुलता होती है।[7] ऐसे ही चौथे गुण आभिजात्य में अतिकोमल और अति कठिन शब्दों से युक्ति है।

इन्हीं की भांति मध्यम मार्ग में भी इन चारों गुणों की स्थिति है। कुन्तक ने इन गुणों की परिभाषाएं नहीं दीं। केवल उदाहरण ही दिए हैं, फिर भी कुछ ऐसे संकेत प्राप्य है जिनसे इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वे कहते हैं कि माधुर्य आदि गुण समूह मध्यमा वृत्ति का अवलंबन कर रचना के सौंदर्यातिशय को परिपुष्ट करते हैं।[8] इस मार्ग में पहले दोनों मार्गों की सौंदर्य विवृत्ति रहती है। इसका बोध उभयात्मक अथवा मध्यमा नाम से ही हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति पद संघटना है और वक्रोक्ति कवि कौशल से युक्त शब्द-अर्थ का व्यापार है। उसमें वर्ण से लेकर

1. हि० व० जी० : 1.30
2. वही : 1.31
3. वही : 1.32
4. वही : 1.33
5. वही : 1.44
6. वही : 1.45
7. वही : 1.47
8. वही : 1.50

प्रबन्ध तक सारा चमत्कार सन्निविष्ट है, जबकि रीति, प्रकरण और प्रबंध का संस्पर्श भी नहीं कर पाती। उसका सौंदर्य पदरचना तक ही सीमित है। वक्रोक्ति सिद्धान्त, रीति सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं उदार है। वस्तुतः रीति काव्य शिल्प का पर्याय है और वक्रोक्ति कवि कौशल से पूर्ण काव्य कला की समानार्थक है।

वक्रोक्ति और ध्वनि

ध्वनि सम्प्रदाय का विरोध अभिनव गुप्त के समय में ही प्रारम्भ हो गया था। उन्हीं के समकालीन कुन्तक और महिमभट्ट ने (कुन्तक किंचित् पूर्ववर्ती और महिमभट्ट किंचित् परवर्ती) ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देते हुए क्रमशः वक्रोक्ति सम्प्रदाय एवं अनुमान की प्रतिष्ठा की। ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा को चुनौती तो दी जा सकती है, लेकिन उसकी समग्र उपलब्धियों को अस्वीकार नही किया जा सकता। विचारों के इतिहास का विद्रोह पूर्व चिन्तन के अस्वीकार की अपेक्षा किंचित् संशोधन हुआ करता है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विद्रोह को भी इसी दृष्टि से समझना होगा। ध्वनि सिद्धान्त भारतीय समीक्षा का सर्वोत्तम निचोड़ है। आनन्दवर्धन का ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन और विश्लेषण युक्तिपूर्ण एवं कौशलपूर्ण है। यह समीक्षा का प्रतिमान है। उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि अपने सम्पूर्ण चिन्तन को आनन्दवर्धन ने ऐसी सुष्ठु भाषा और स्थापत्य प्रदान किया कि बाद के वे आचार्य भी उसी सरणि का अनुसरण कर चले, जो चिन्तना के धरातल पर आनन्दवर्धन से तालमेल नहीं रहते थे।

यह तथ्य स्पष्ट है कि कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त का समग्र पारायण, उस पर चिन्तन और मनन किया था। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनिकार का स्पष्ट उल्लेख किया है—'यस्माद् ध्वनिकारेण।' (हि०व क्रो० 2.7 की वृत्ति) जगह-जगह वक्रोक्ति के भेदो के निरूपण में, उसके उदाहरणों के चयन, प्रतीयमान अर्थ और रस के समर्थन में ध्वनिकार के प्रति उनकी पुष्कल श्रद्धा का संकेत मिलता है।

बक्रोक्ति को विचित्राभिधा कहने वाले अभिधावादी आचार्य हैं। उनकी अभिधा में लक्षणा और व्यंजना भी अन्तर्भुक्त हैं कुन्तक का कहना कि काव्य मार्ग में वे शब्द भी वाचक ही कहलाते हैं, जो अन्यत्र लक्षक और व्यंजक कह जाते हैं। उसी प्रकार वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थों का सन्निवेश है।[1] दोनों में सामान्य धर्म है अर्थप्रतीतिकारिता वाच्यार्थ की तरह द्योतक तथा व्यंजक शब्दों के लिए

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : पृ० 37

वाचक का प्रयोग न्याय्य है [1] वस्तुत: कुन्तक ने वाचक की बड़ी ही विशद कल्पना की है।[2] कुन्तक ने तीनों शब्द शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—को काव्य में स्वीकार किया है, परन्तु लक्षणा और व्यंजना का अन्तर्भाव इन्होंने सुगमता के लिए अभिधा के अन्तर्गत कर रखा है। अत: कहना चाहिए कि अभिधावादी होते हुए भी, कुन्तक की विचारणा व्यंजना का तिरस्कार नहीं करती है।

स्थापत्यगत साम्य—कुन्तक की अभिधा में व्यंजना का साम्य ढूंढ़ना अन्तत: उतना ठोस नहीं है जितना कि ध्वन्यालोक और वक्रोक्तिजीवित का स्थापत्यगत साम्य का प्रत्यक्षबोध है। ध्वनिकार ने ध्वनि की व्याप्ति का विश्लेषण-विवेचन वर्ण से प्रबन्ध तक की व्याप्ति में किया है। कुन्तक ने भी वक्रोक्ति के भेद प्रभेदों की उद्भावना में इसी का अनुसरण किया है। डा० नगेन्द्र का कहना है कि 'वास्तव में ध्वनि के आत्मपरक सौंदर्य-भेदों की कुन्तक ने वस्तुपरक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, इसलिए उनके विवेचन की रूपरेखा अथवा योजना बहुत-कुछ वही है, जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिए बनायी थी।[3]

परिभाषागत साम्य—यह साम्य ध्वनि और वक्रोक्ति की परिभाषा में भी परिलक्षित होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को इस प्रकार परिभाषित किया है:

'जहां अर्थ अपने को अथवा अपने शब्द अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं।'

(हिन्दी ध्वन्यालोक 1.13)

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न, सहृदय सुप्रसिद्ध अंगनाओं के लावण्य के समान प्रकाशित होता है।

(हिन्दी ध्वन्यालोक, 1.4)

कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। कैसी. वैदग्ध्यपूर्ण शैली से कथन। वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि कर्म का कौशल (हिन्दी वक्रो० : पृ० 51)। प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है (1) शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्दार्थ के प्रयोग से भिन्न और (2) प्रचलित व्यवहार-सरणि का अतिक्रमण करने वाला।

---

1. 'यस्मादर्थ प्रतीतिकारित्व सामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव' (हिन्दी वक्रो० : पृ० 37)
2. 'कवि विवक्षितविशेषाभिधान क्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्।' (वही : पृ० 41)
3. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : पृ० 377

इन दोनों परिभाषाओं में विवक्षा का आन्तरिक साम्य अत्यन्त ही स्पष्ट है। 1. दोनों में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है। आनन्दवर्धन ने जिसे 'यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थो[1] कहा है, उसे ही कुन्तक ने 'शास्त्रादिप्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकिणी' कहा है। इस प्रकार दोनों में ही साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा है। 2. वैचित्र्य की आकांक्षा से दोनों ही अनुप्राणित हैं। ध्वनिकार ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुन्तक ने विचित्रा अभिधा, के द्वारा इसको स्पष्ट किया है। 3. दोनों आचार्य इस वैचित्र्य सिद्धि को अलौकिक प्रतिभाजन्य मानते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि ध्वनि और वक्रोक्ति एक ही भूमि पर संचरण करती हैं।

प्रतीयमान का स्पष्ट निर्देश—इसके अतिरिक्त कुन्तक के ग्रन्थ में जगह-जगह पर प्रतीयमान का स्पष्ट उल्लेख और स्वीकृति मिलती है। 1. उन्होंने विचित्र मार्ग में वाक्यार्थ की प्रतीयमानता का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] 2. वस्तु के स्वभाव का सरस उन्मीलन ही कुन्तक की वस्तुवक्रता है। इसके वर्णन में वक्रोक्तिजीवित-कार ने लिखा है—'वस्तुनोवक्र शब्दैकगोचरत्वेन वक्रता' (3.1)। इस कारिका में 'गोचरत्वेन' के प्रयोग के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कुन्तक कहते हैं कि प्रतिपादन तो व्यंग्यरूप से भी हो सकता है।[3] 3. कुन्तक ने अनेक अलंकारों के द्विविध रूप स्वीकार किये हैं—वाच्य और प्रतीयमान। रूपक वाच्य भी होता है और प्रतीयमान भी। वाच्यरूपक में तो उपमेय और उपमान का अभेदारोप वाच्य रूप से ही किया जाता है, परन्तु प्रतीयमान रूपक में यह अभेदारोप वाच्य-मुखेन न होकर व्यंग्यमुखेन ही प्रस्तुत किया जाता है। इस अलंकार के उदाहरण में कुन्तक ने आनन्दवर्धन के 'लावण्य कान्तिपरपूरित' को उद्धृत किया है। इसी को आनन्दवर्धन ने रूपक ध्वनि कहा है। अतएव कुन्तक का प्रतीयमान रूपक और आनन्दवर्धन की रूपक ध्वनि एक ही है। 4. व्यतिरेक, उपमा और परिवृत्ति आदि अलंकारों पर विचार करते हुए भी कुन्तक ने इसी बात को पुष्ट किया है। अत: वक्रोक्ति और ध्वनि में इस स्तर पर ऐक्य है।

भेद-प्रस्तारगत-साम्य

वर्णविन्यासवक्रता और वर्णध्वनि: वक्रोक्ति का प्रथम भेद है। वर्णविन्यास-

---

1. हिन्दी ध्वन्यालोक : 1.13
2. प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
   वाच्य वाचक वृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्॥ हि० वक्रो० 1.40
3. व्यंग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्॥ हि० वक्रो० 3.1. की वृत्ति

वक्रता। यह व्यंजन चारुत्व है। इसे ही आनन्दवर्धन ने वर्ण ध्वनि कहा है (हिन्दीध्वन्यालोक: 3.2)

(1) रुढ़िवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक आनन्दवर्धन के अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का निवेश मानते हैं। यहां तक कि कुन्तक ने अपने दोनों उदाहरण ध्वन्यालोक से ही लिए हैं।[1]

(2) पर्यायवक्रता के निरूपण में कभी-कभी श्लेष के द्वारा अलंकारान्तर का द्योतन करने के लिए प्रस्तुत वस्तु के ऊपर अप्रस्तुत का आरोप दिखलाते हुए कुन्तक ने शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य को ही प्रस्तुत किया है।[2] इस प्रकार पर्यायवक्रता पर्यायध्वनि का रूपान्तर मात्र है। इस प्रसंग में कुन्तक ने जो दृष्टांत दिए हैं, वे भी आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत हैं।

(3) उपचारवक्रता भी स्पष्टत: लक्षणामूलाध्वनि के द्वितीय भेद अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि की समानार्थी है। दोनों में उपचार अर्थात् लक्षणा का ही चमत्कार है। सादृशय के अतिशय से जहां एक धर्म का अन्य वस्तु के ऊपर आरोप किया जाता है, वहां उपचार वक्रता होती है। यहां भी कुन्तक ने आनन्दवर्धन के उदाहरण को ही उद्घृत किया है।

(4) संवृत्ति वक्रता तो ध्वनन अथवा व्यंजना पर ही पूर्णतया आश्रित है। यहां सर्वनाम की सांकेतिकता के द्वारा रमणीय अर्थ की व्यंजना की जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से यह अर्थान्तिर संक्रमित वाच्य से भिन्न नहीं है।

(5) वृत्ति वैचित्र्यवक्रता समास—ध्वनि के समतुल्य है।

सुप्—तिङ्—वचन—सम्बन्धैस्तथा कारक शक्तिभि:।
कृत्—तद्धित—समासैश्च द्योत्यो लक्ष्यक्रम: क्वचित्॥

ध्वन्यालोक 3.16

इस कारिका में कृत्—तद्धित समासध्वनि रूपों की विवृत्ति है। यह वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता के समानान्तर है। लिंग का उल्लेख आनन्दवर्धन ने यहां पृथक् रूप से नहीं किया किन्तु उनके उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वे लिंग पर आश्रित रमणीय अर्थ संकेतों से पूर्णत: परिचित थे। उपर्युक्त कारिका में भी वचन-कारिका आदि का तो शब्दश: उल्लेख किया है, साथ ही 'च' के द्वारा निपात, उपसर्ग, काल आदि की व्यंजना भी आनन्दवर्धन ने अपने आप स्वीकार की है।[3] वास्तव में ये भेद

1. हि० वक्रो० पृ० : 196, 197
2. एष एव च शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूप व्यंग्यस्य पदध्वनेविषय:।
(हि० वक्रो० : पृ० 211)
3. 'च शब्दान्निपातोपसर्ग कालादिभि: प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।'
(हि०ध्व०: पृ० 271)

उपलक्षण मात्र हैं आनन्दवर्धन ने लिंग प्रत्यय आदि सभी में ध्वनि के चमत्कार की व्यंजना-क्षमता मानी है। इस प्रकार लिंगवैचित्र्य-वक्रता लिंग-ध्वनि की पर्याय सिद्ध होती है है। शेष दो भेदों विशेषण वक्रता तथा क्रिया वैचित्र्य-वक्रता की स्थिति एकान्त स्वतन्त्र नहीं है—विशेषणवक्रता को पर्यायवक्रता का ही एक रूप मानना अनुचित न होगा। क्रिया वैचित्र्य-वक्रता के अन्तर्गत भी अनेक वक्रता रूपों का संक्रमण है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि पदपूर्वाधवक्रता के अधिकांश भेद ध्वनि भेदों के रूपान्तर ही हैं।

पदपरार्धवक्रता और ध्वनि

पदपरार्धवक्रता के भी लगभग आठ ही भेद हैं। कालवैचित्र्यवक्रता, कारक-वक्रता, वचन-वक्रता, पुरुष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, उपसर्गवक्रता और निपात-वक्रता। ध्वनिकार ने प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग और निपात का तो उक्त कारिका (हि० ध्व० 3.16) में शब्दशः उल्लेख किया है। शेष दो पुरुष और उपग्रह को भी 'च' में गर्भित माना जा सकता है। इस प्रकार ध्वनि-कार की उपर्युक्त कारिका समग्र पदपरार्धवक्रता की प्रेरक सिद्ध होती है।

वस्तुवक्रता और वस्तु ध्वनि

अर्थवक्रता ही वस्तुवक्रता है। वस्तु का उत्कर्षयुक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु या वाच्य की वक्रता कहलाती है।[1] कुन्तक को इस तथ्य का स्पष्ट अभिज्ञान है कि वस्तुवक्रता वस्तु की वाच्यता नहीं, बल्कि उसका प्रतिपादन है। प्रतिपादन तो वाच्यता को छोड़कर व्यंग्यरूप से भी हो सकता है। अवश्य ही अपनी इस स्थापना की पुष्टि में कुन्तक ध्वनि के समीप पहुंच जाते हैं। वे वस्तु वक्रता के वर्णन के प्रसंग में उपमा आदि वाच्य अलंकारों के अतिशय प्रयोग का वर्जन करते हैं। ये वाच्य अलंकार वस्तु के स्वाभाविक सौंदर्य को म्लान कर देते हैं।[2] कुन्तक की वस्तुवक्रता आनन्दवर्धन की वस्तुध्वनि की पूर्णतः नहीं तो अंशतः समानार्थी अवश्य है। कुन्तक वस्तु सौंदर्य का प्रतिपादन वाच्यरूप में भी सम्भव मानते हैं जबकि आनन्दर्धन उसे केवल व्यंग्यरूप में ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कुन्तक की वस्तुवक्रता, वस्तुध्वनि से ही गृहीत है।

---

1. हि० वक्रो० : पृ० 3.1.
2. वही : पृ० 294

वाक्यवक्रता और अलंकार ध्वनि

कुन्तक की वाक्यवक्रता के अन्तर्गत सामान्यतः सभी अर्थालंकारों का सन्निवेश है। कुन्तक की वाक्यवक्रता में, वस्तुवक्रता के प्रतीयमान सौंदर्य के विपरीत, वाच्यत्व का चमत्कार अधिक है। आनन्दवर्धन स्पष्टतः अलंकारध्वनि का वाच्यार्थ से भिन्नत्व प्रतिपादित करते हैं।[1] लेकिन वाच्यत्व को वाक्यवक्रता के आधार रूप में ग्रहण करते हुए भी कुन्तक कतिपय अलंकारों में प्रतीयमानता का निर्देश करते हैं। उनके अनेक अलंकारों के वाच्य तथा प्रतीयमान, ये द्विविध रूप हैं। कुन्तक ने रूपक, व्यतिरेक, उपमा, परिवृत्ति आदि में प्रतीयमान रूप भी माना है। ये प्रतीयमान अलंकार स्पष्टतः अलंकार-ध्वनि के ही समरूप हैं। कुन्तक के प्रतीयमानरूपक को आनन्दवर्धन रूपक-ध्वनि नाम से अभिहित कर चुके थे। दोनों का उदाहरण भी एक ही है—'लावण्यकान्ति परिपूरित'। इस प्रकार कुन्तक ने आनन्दवर्धन की अलंकार ध्वनि को वाक्यवक्रता में आत्मसात करने का प्रयत्न किया है।

प्रबन्ध-वक्रता और प्रबन्ध-ध्वनि

कुन्तक की प्रबन्धवक्रना आनन्दवर्धन की प्रबन्धध्वनि की तुल्यकक्षता में है। कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है: 'किसी महाकवि के बनाये हुए रामकथामूलक नाटक आदि में पांच प्रकार की (वर्णविन्यासवक्रता, पद-पूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता तथा प्रकरणवक्रता) वक्रता से सुन्दर सहृदयाह्लादकारी नायक-रूप महापुरुष का वर्णन ऊपर से किया किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में कवि का प्रयोजन उसके चरित्र का वर्णन मात्र नहीं होता, अपितु 'राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं' इस प्रकार का, विधि-निषेधात्मक धर्म का उपदेश उस काव्य या नाटक का परमार्थ होता है।[2] कुन्तक के अनुसार यही प्रबन्ध काव्य की वक्रता या सौन्दर्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परमार्थ रूप प्रबन्धवक्रता ही प्रबन्ध ध्वनि है। प्रबन्ध वक्रता के प्रबन्ध-रस-परिवर्तन-वक्रता नामक प्रथम भेद में कुन्तक का कहना है कि इतिहास में अन्य प्रकार से निरूपित रस की उपेक्षा कर अन्य रस से कथा की समाप्ति से अपूर्व वक्रता का स्फुरण होता है।[1] यह भी प्रबन्ध ध्वनि से भिन्न नहीं है क्योंकि अन्ततः काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रबन्ध-ध्वनि रस रूप ही होती है। अतः रस परिवर्तन का अर्थ

---

1. हिन्दी ध्वन्यालोक : पृ० 26
2. हि० वक्रो० : पृ० 93
3. वही : 528

प्रबन्ध ध्वनि का परिवर्तन ही है । कुन्तक यह भी मानते हैं कि प्रबन्ध में कथा शरीर मुख्य नहीं हैं मुख्य है यही प्रबन्ध ध्वनि । समान कथा के आधार पर निर्मित प्रबन्ध भी इसी कारण तुल्य कक्षता प्राप्त नहीं करते हैं । कुन्तक का कहना है कि कथाभाग समान होने पर भी शरीर में एकजैसे प्राणियों के सदृश अपने-अपने गुणों से काव्य और नाटक आदि प्रबन्ध अलग-अलग प्रतीत होते हैं । कारण यह है कि प्रत्येक श्रेष्ठ कवि सिद्धि का नया मार्ग ढूंढता है । इसी कारण नये-नये उपायों से सिद्ध नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले महाकवियों के सभी ग्रन्थों में सौन्दर्य रहता ही है ।[1] इससे स्पष्ट है कि काव्य का पार्थक्य कथा के अन्तर पर नही प्रत्युत उसकी प्रबन्ध ध्वनि से स्थापित हो जाता है । कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए ही वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की है । महिमभट्ट ने तो बतलाया है कि वक्रोक्ति और ध्वनि एक ही चीज हैं । उनका तर्क है कि इसीलिए तो कुन्तक ने उसके वे ही भेद-प्रभेद और वे ही उदाहरण दिखलाए हैं ।[2] वस्तुतः इन दोनों आचार्यों की सौन्दर्य कल्पना में मौलिक भेद नहीं है । फिर भी दोनों को पर्याय मानना गलत होगा । वक्रोक्ति वस्तुगत है और ध्वनि आत्मगत । वक्रोक्ति वाच्य और व्यंग्य योगपत्य के लिए प्रयुक्त होती है । ध्वनि काव्य की आत्मा है और वक्रोक्ति शरीर और आत्मा दोनों का युगपत आचरण है । अतः इन दोनों में स्पष्ट पार्थक्य है ।

वक्रोक्ति और लक्षणा

ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौग प्रतिष्ठा का भट्टनायक और कुन्तक ने विरोध किया । इन दोनों आचार्यों ने शब्द शक्तियों के प्रसंग में प्रचलित संज्ञा का तिरस्कार किया । भट्टनायक ने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व, इन तीन शक्तियों की उद्भावना की और कुन्तक ने 'विचित्र अभिधा' की सत्ता को माना ।

कुन्तक ने काव्य मार्ग में प्रयुक्त होने वाले शब्द और अर्थ पर सूक्ष्म विचार किया है । यहां शब्द विवक्षितार्थ वाचक तथा अर्थ को 'सहृदयाह्लाद स्वस्पन्द सुन्दर' होना ही चाहिए ।[3] ये दोनों अलंकार्य हैं और वक्रता उनकी अलंकृति । वस्तुतः जो शब्द लोक में वाचक रूप में प्रसिद्ध हैं, वे तो काव्य में वाचक हैं ही, यहां वे भी वाचक ही कहलाते हैं जो अन्यत्र लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं । कुन्तक का कहना है कि पहले प्रकार के शब्द मुख्य रूप से और दूसरे प्रकार के

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति : पृ० 4.26.
2. 'अतएव चास्य त एव प्रभेदास्तान्येः वोदाहरणानि तैरूपदर्शितानि ।'
(हिन्दी व्यक्ति विवेक : पृ० 142)
3. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : 1.9

औपचारिक रूप से ही मुख्य कहे जा सकते हैं इस उपचार के मूल में सभी शब्दों की अर्थ-प्रतीति कारिता है।[1] इस प्रकार काव्य मार्ग में शब्द और अर्थ की वाचकता और वाच्यता लोक से भिन्न है। इन दोनों का सर्वातिशायी अलंकार ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति अभिधा ही है, पर प्रसिद्ध अभिधान शक्ति से अतिरिक्त कुछ और ही अभिधा है। इसीलिए इसे विचित्र अभिधा कहा गया है। यह अभिधा वैदग्ध्य युक्त भणिति का पर्याय है। इसके अतिक्ति जब हम कुन्तक को यह कहते सुनते हैं कि विचित्र अभिधा अलंकृति है, तब अलंकार को शब्द एवं अर्थ का धर्म मान लेना पड़ता है। इस प्रकार अभिधा भणिति या शब्द-सन्निवेश रूप न होकर शब्द एवं अर्थ का एक धर्म है। अभिधा शक्ति भी शब्दार्थ धर्म है, अतः समनियत होने के कारण दोनों एक हो सकते हैं। दूसरा कारण इस विचित्र अभिधा को शक्तिस्वरूप मानने का एक और भी हो सकता है और वह यह कि व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट ने भी अभिधा को ही अलंकार स्वरूप बताया— अलंकाराणां चाभिधात्मं त्वयुपगतम्, तेषां भंगीभणिति रूपत्वात्। इस प्रकार इनकी विचित्र अभिधा शक्ति के ही रूप में है।[2] कुन्तक ने लक्षणा का नाम लेने से अपने को बचाया है।

कुन्तक शब्द की अन्य शक्तियों से भी परिचित हैं, किन्तु उपचार से वे सबको वाचक ही कह देते हैं। उपचार लक्षणा ही है। डा० रामपूर्ति त्रिपाठी ने ठीक ही कहा है, 'जो लक्षणा मानेगा नहीं, उसे हक क्या है कि उसके बल पर किसी को कुछ कहे, सुने? दूसरी बात यह भी है कि यदि कुन्तक को लक्षणा स्वीकृत न होती, तो उनके विरोध में कुछ तर्क दिये होते। पर ऐसा कहीं कुछ नहीं है। तीसरी बात यह है कि लक्षक या लक्षणा को उपचारतः वाचक एवं अभिधा कहा जाये, तो इस व्यवहार का क्या प्रयोजन है? प्रसिद्धि या रूढ़ि कोई इस प्रकार की है ही नहीं। रूढ़ि एवं प्रयोजन के न होने पर उपचार संभव ही नहीं और जबर्दस्ती की जाय तो वह नेयार्थ (दोष) है। चौथी बात यह है कि यदि लक्षणा कुछ न हो तो 'उपचारात्तावपि वाचकावेव' में उपचार शब्द का क्या अर्थ होगा? पहला पक्ष कुन्तक ले नहीं सकते और दूसरे में मनमानी है। इसके पीछे कोई परम्परा और समर्थन नहीं। यह कहना कि लोक में लक्षणा की स्थिति कुन्तक मानते हैं, पर काव्य की चर्चा के प्रसंग में नहीं, तो प्रश्न है कि 'वक्रोक्ति जीवित' में काव्य-चर्चा का प्रसंग था या नहीं? यदि है तो उसी प्रसंग में 'उपचारा-

---

1. 'यस्मादर्थ प्रतीतिकारित्व सामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेवा।' (वही : पृ० 37)

2. डा० राममूर्त्ति त्रिपाठी: लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार, पृ० 61-62

त्तावपि' कहा गया है, फिर काव्य चर्चा से बाहर कैसे हुआ? परिणाम यह कि लक्षणा इन्हें माननी होगी।'[1]

वक्रोक्ति के इतिहास में वामन का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने लक्षणा और वक्रोति का स्पष्ट संबंध निर्देश किया है। लक्षणा पांच प्रकार की होती है, पर वामन ने केवल सादृश्य लक्षणा से वक्रोक्ति का सम्बन्ध माना है: 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'।[2] वामन ने यह स्पष्ट कहा है कि लक्षणा के अनेक कारण होते हैं, किन्तु उनमें सादृश्य से की गई लक्षणा ही वक्रोक्ति है:' बहुनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्।' तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति रसाविति (वृत्ति)।[3] इस पर टिप्पणी करते हुए डा० राघवन ने ठीक ही लिखा है कि 'जो लोग सभी सुन्दर अभिव्यंजनाओं को वक्रोक्ति में अन्तर्भुक्त करना चाहेंगे, वे न केवल सादृश्य लक्षणा बल्कि सभी प्रकार की लक्षणाओं को वक्रोक्ति के उद्भव में सहायक मानेंगे। जब अभिधामूला ध्वनि भी वक्रोक्ति में समाविष्ट की जा सकती है, तब यह कहा जा सकता है कि सादृश्येतर लक्षणाएं भी वक्रोक्ति हैं।[4] भोज ने वामन की गलती को पकड़ लिया था और लक्षणा तथा वक्रोक्ति के सबन्ध में कहा है कि लक्षणा वृत्ति ही विदग्ध वक्रोक्ति का जीवित है: 'अभिधेयाविना भूत प्रतीतिर्लक्षणेति या। सैषा विदग्ध वक्रोक्ति जीवितं वृत्तिरिष्येत।[5] भोज ने यह स्पष्ट नहीं किया कि उनका तात्पर्य किस लक्षणा विशेष से है पर यह स्पष्ट है कि भोज का तात्पर्य उक्त कारिका में सभी प्रकार की लक्षणाओं से है। इस बात की पुष्टि कि भोज का तात्पर्य यहां केवल सादृश्यमूला लक्षणा से ही नहीं है, रत्नेश्वर की टीका से भी होती है: शय्यानामक शब्दालंकार पर विचार करते हुए भोज ने (सरस्वती कण्ठाभरण) द्वितीय परिच्छेद में उनके एक भेद 'प्रकीर्णघटना' का उल्लेख किया है। इस पर विचार करते हुए भोज मुख्या, गौणी और लक्षणा वृत्तियों का उल्लेख करते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने भोज के उक्त श्लोक को उद्धृत किया है वे भी यहां लक्षणा से केवल सादृश्यमूला नहीं, प्रत्युत सभी प्रकार की लक्षणाओं को ही ग्रहण करते हैं।

---

1. लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार : पृ० 62
2. काव्यालंकार सूत्र वृत्तिः अनुवादक आचार्य विश्वेश्वर: वृत्ति 4.3.8
3. वही: 4.3.8
4. भोज का श्रृंगारप्रकाश (अंग्रेजी प्रबन्ध) : पृ० 129
5. श्रृंगारप्रकाश, प्रथम भाग : पृ० 223

तदुक्तम्—

'अभिधेया विनाभूत प्रतीतिलक्षणेति या।
सैषा न विदग्ध वक्रोक्ति जीवितं वृत्तिरिष्यते।
सा द्विधा—शुद्धा, लक्षित लक्षणा च।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि भोज ने सभी प्रकार की लक्षणाओं को वक्रोक्ति का प्राण कहा है।

भोज से बहुत ही बाद के आचार्य शारदातनय ने भी भोज के उक्त श्लोक का यही अर्थ समझा है। भोज के साहित्य-सम्बन्धी मतों का संक्षिप्त समाहार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उनके उक्त श्लोक को यों उद्धृत किया है:

अभिधायाविनाभूत प्रीतिर्लक्षणोच्यते।
सैषा विदग्ध वक्रोक्ति जीवित वृत्ति रिष्येत॥
क्रोशन्ति मंचा हत्यादौ सा वृतिरवगम्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥[2]

शारदा तनय ने यहां लक्षणा को क्रोशन्ति मंचा:' द्वारा उदाहृत किया है। इससे यह स्पष्ट है कि भोज का मतलब यहां सभी प्रकार की लक्षणाओं से है। राघवन ने बतलाया है कि बहुरूप मित्र ने शारदा तनय के उपरि उद्धृत अंश को दुहराया है।[3] वे भोज के विदग्ध वक्रोक्ति' वाले उक्त श्लोक को भी उसी तरह उद्धृत करते हैं। इस प्रकार भोज ने वामन की गलती को सुधार दिया है।

'अलंकार रत्नाकर' में लक्षणा को 'काव्य जीवितायमान' कहा गया है[4] भोज ने लक्षणा को काव्यजीवित (वक्रोक्ति) का भी जीवित माना है। चन्द्रालोककार जयदेव ने बतलाया है कि शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक एवं लिंग में रहने वाली लक्षणा का ही अंकुरण अलंकार है।

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
लिङ्गे चेयमलङ्कारा ङ्कुरबीजतयास्थिता।—9.16.

कुन्तक ने वाक्य वक्रता में ही सभी अलंकारों को अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस प्रकार कुन्तक ने यद्यपि लक्षणा का नाम नहीं लिया है, किन्तु लक्षणा उनकी वक्रोक्ति को आधारशिला रही है। वक्रोक्ति का इतने उदार अर्थ में प्रयोग का विस्तार ही तो 'वक्रोक्ति जीवित' है।

---

1. सरस्वती कण्ठाभरण (काव्यमाला) : पृ० 189
2. भावप्रकाश (गायक वाड़) : पृ० 145
3. भोज का श्रृंगारप्रकाश (पाद टिप्पवी में) : पृ० 130
4. डा० राममूर्ति त्रिपाठी: लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार : पृ०445

डा० हरिचन्द शास्त्री ने इसी भक्ति (लक्षणा) को वक्रोक्ति से अभिन्न मानते हुए बताया है कि कुन्तक का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय भाक्त सम्प्रदाय के भी नाम से प्रसिद्ध है। वे कुन्तक को ही भाक्त सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मानते हैं। तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि कुन्तक ने लक्षणा से बचने का प्रयास क्यों किया है? उन्होंने उपचार वक्रता के संदर्भ में एक विलक्षण बात कही है जिससे वक्रोक्तिवाद को बल मिलता है। उपचार सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से घटित होता है। किन्तु सभी सादृश्यमूलक गौणी लक्षणाएं उपचार नहीं हैं। थोड़ा-सा अन्तर होने पर इस उपचार में वक्रता का व्यवहार नहीं होता है।[1] 'गौर्वाहीक:' अर्थात् वाहीक देश-वासी पुरुष गाय के समान मूर्ख या सीधा होता है। यहां वाहीक के लिए 'इस' शब्द का प्रयोग सादृश्यमूलक गौणीलक्षणा से होता है। परन्तु इस प्रकार के चमत्कारहीन उदाहरणों में उपचार वक्रता नहीं होती है। इस प्रकार कुन्तक अपने वक्रोक्तिवाद के पृथक् अस्तित्व की उद्भावना को ठोस शास्त्रीय आधार प्रदान करते हैं। उनकी वक्रोक्ति लक्षणाश्रित होते हुए भी लक्षणा से पूरी तरह बद्ध नहीं है। उनकी वक्रोक्ति का संचरण क्षेत्र लक्षणाचक्र से परे भी है।

वक्रोक्ति और औचित्य

आधुनिक आलोचना की भाषा में वक्रोक्ति कल्पना विलास है, पर जैसा कि लोंगिनुस ने कहा है कि 'कल्पना विलास' में भी संयम आवश्यक है।[2] कल्पना के अतिचार से काव्य वागाडम्बर ग्रस्त हो जाता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति औरऔचित्य के युगपत अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार रस और औचित्य से अनु-शासित यह शुद्ध काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

कुन्तक ने काव्य में अलंकार्य और अलंकार की सत्ता स्वीकार की है। यह अलंकार वक्रोक्ति है। कुन्तक ने अपने काव्य सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए साहित्य आदि कई शब्दों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है। साहित्य के साथ-साथ ही वे औचित्य और सौभाग्य नामक साधारण गुणों का भी उल्लेख करते हैं। औचित्य को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं:

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदोचित्यमुचिताख्यान जीवितम्॥[3]

स्वभावोल्लेख को उचिताख्यान से मुक्त होना ही चाहिए। क्षेमेन्द्र 'औचित्य

---

1. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : पृ० 229
2. काव्य में उदात्त तत्व : पृ० 76
3. हि० व० जी: 1.53

विचार चर्चा' में लिखते हैं : 'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।'[1] अर्थात् उचित का भाव ही औचित्य है। वास्तव में इस अनिवार्य तत्त्व की उपेक्षा जीवन अथवा काव्य में कोई भी विवेकशील पुरुष नहीं कर सकता है। भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी ने प्रकारान्तर से औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है। कुन्तक का स्पष्ट कथन है कि स्वभाव का स्पष्ट रूप से परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है। पदार्थ के उचित रूप से कथन के ही जीवनस्वरूप होने के कारण वाक्य के एक देश में भी औचित्य का अभाव होने से सहृदयों के आल्हादकारित्वा की हानि होती है।[2] इस प्रकार वक्रोक्ति औचित्य का ही दूसरा नाम है।

कुन्तक ने अपने काव्य लक्षण, काव्यगुणों तथा वक्रता भेदों में भी औचित्य को आधारतत्व माना है। उनका काव्य लक्षण है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणी ॥[3]

कुन्तक ने अनेक प्रकार से शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के इसी औचित्य का अत्यन्त मार्मिक आख्यान किया है। कुन्तक का कहना है कि सायास रचना करने से प्रस्तुत के औचित्य की हानि होने से शब्द और अर्थ का परस्पर स्पर्धित्व रूप 'साहित्य' का आभास हो जाता है।[4] कुन्तक के अनुसार प्रत्येक मार्ग में दो सामान्य गुण और चार विशेष गुण होते हैं। सामान्य गुण हैं औचित्य और सौभाग्य जो तीनों मार्गों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहते हैं :

'एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्,
पद वाक्य प्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥[5]

अर्थात् इन तीनों मार्गों में, औचित्य तथा सौभाग्य—ये दोनों गुण पद्वाक्य तथा प्रबन्ध में व्यापक और उज्ज्वल रूप से वर्तमान रहते हैं।

कुन्तक के सभी वक्रता भेदों में औचित्य को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। कुन्तक का कहना है कि वर्णों को प्रस्तुत के औचित्य से युक्त होना ही चाहिए।[6] इसी प्रकार पदपूर्वार्धवक्रता और प्रत्यय वक्रता के सम्बन्ध में भी औचित्य की बात कही गई है। पर्याय वक्रता में वे उचित पर्याय के चयन या पर्यायौचित्य,

1. औचित्य विचार चर्चा: टीकाकार श्री नारायणसिंह: पृ० 4
2. हि० व० : जी० पृ० 163
3. हि० व० : जी० 1.7
4. हि० व० : जी० पृ० 184
5. हि० व० : जी० : पृ० 1.57
6. हि० व० : जी० : पृ० 174

विशेषण-वक्रता में उचित विशेषण के चयन तथा वृत्ति वक्रता में समास-रचना के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। लिंग वक्रता पर विचार करते समय कुन्तक कहते हैं कि जहां अन्य लिंग सम्भव होने पर भी विशेष शोभा के लिए अथ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिंग का प्रयोग किया जाता है, वह लिंग वैचित्र्य वक्रता है।[1] कुन्तक ने स्थान-स्थान पर औचित्य का उल्लेख वस्तु, रस तथा प्रस्तुत के सन्दर्भ में किया है। वे प्रस्तुतौचित्य, स्वभावौचित्य आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

कुन्तक ने प्रत्ययवक्रता के प्रमुख भेदों—कारक, पुरुष, संख्या, काल, उपग्रह आदि के औचित्य को भी अपने विवेचन में स्थान दिया है। कालौचित्य पर विचार करते हुए कुन्तक का कहना है कि 'औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्[2] अर्थात् औचित्य की अन्तरतमता से काल वैचित्र्य को प्राप्त हो जाता है। 'उपग्रह' के सन्दर्भ में उनका कहना है कि कवि औचित्य से परिचालित होकर परस्मैपद अथवा आत्मनेपद में से कोई एक चुन लेता है :

> पदयोरुभयोरेकम् औचित्याद् विनियुज्यते।
> शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रह वक्रताम्॥[3]

कुन्तक ने जीवों और वस्तुओं के स्वभावौचित्य पर भी विचार किया है :

> भावानामपरिम्लान स्वभावौचित्यसुन्दरम्।
> चेतनानां जड़ानां च स्वरूपं द्विविध स्मृतम्॥
> मुख्यमक्लिष्टरत्यादि परिपोष मनोहरम्।
> स्वजात्युचित हेवाक समुल्लेखोज्ज्वलं परम्॥[4]

वे व्यवहारौचित्य पर भी विचार करते है। उनका व्यवहारौचित्य 'लोकवृत्त-योग्यम्' है। इस प्रकार उनकी वक्रोक्ति आद्यन्त औचित्य से अनुशासित है। डा० नगेन्द्र ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता के प्रसंग में भी कुन्तक ने अनेक प्रकार से औचित्य का स्तवन किया है।[5] उनकी प्रकरण वक्रता के अन्तर्गत उत्पाद्यलावण्य के दोनों उपभेदों —अविद्यमान की कल्पना तथा विद्यमान का संशोधन, की आधारशिला औचित्य की कल्पना ही है। स्वयं कुन्तक बतलाते हैं कि औचित्य रहित अर्थ का सहृदयों के हृदय के आह्लाद के लिए अन्य प्रकार से परिवर्तन कर दिया जाता है, जैस उत्तरराघव में मारीच-

---

1. हि० व० जी० : 2.23
2. हि० व० जी० : 2.26
3. हि० व० जी० : 2.31
4. हि० व० जी० : 3.6 और .7
5. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका : पृ० 394

वध। उसी प्रकार प्रकरण वक्रता के तृतीय प्रकार, जिसमें प्रकरणों का प्रधान कार्य से सम्बद्ध उपकार्य-उपकारक भाव रहता हैं, भी औचित्य से मर्यादित है। प्रबन्ध वक्रता के कई भेदों में भी औचित्य की स्थिति स्पष्ट है। उसके दूसरे भेद में 'कवि उत्तर भाग की नीरसता का परिहार करने के लिए, त्रैलोक्य को चकित करने वाले नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाले इतिहास प्रसिद्ध कथा के प्रकरण विशेष पर ही कथा की परिसमाप्ति कर देता है।[1] कुन्तक की नामकरण वक्रता, क्षेमेन्द्र का नामौचित्य ही है।

इस प्रकार हम देखते है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त औचित्य से पूरी तरह अनुशासितहै।

पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का काव्य सम्प्रदाय अथवा आत्मभूत काव्य सिद्धान्त के रूप में विवेचन तो नहीं हुआ, परन्तु वक्रता के मौलिक तत्त्व की मान्यता वहां प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्क्ष रूप में सदा से ही रही है। डा० नगेन्द्र का कहना है कि 'वास्तव में तथ्य और कल्पना का प्रतिद्वन्द्व किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक युग और प्रत्येक देश की चिन्ताधारा में उपस्थित होता आया है। इसका जन्म एक प्रकार से काव्य की सृष्टि के साथ हो जाता है—काव्य के सम्बन्ध में यही पहला विचार है और यही कारण है कि पाश्चात्य सभ्यता के आदिम युग में ही उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी थी।'[2] प्लेटों से पूर्व यद्यपि वहां काव्य शास्त्र का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता तथापि काव्य तथा दर्शन ग्रन्थों में इसके अस्तित्व सम्बन्धं संकेत पर्याप्त परिमाण में मिल जाते हैं। पश्चिम के आदि कवि होमर के काव्य में ऐसा उद्धरण मिलता है, जिसमे काव्यगत वक्रता की पच्छन्न स्वीकृति है। ब्रोसांके ने इसे कला-चेतना का प्रथमसूत्र माना है।[3] प्लेटों ने काव्य को अयथार्थ एवं काल्पनिक मानकर उसका तिरस्कार करते हुए कहा है कि त्रासदी का कवि अनुकर्त्ता है, उसका काव्य सत्य से तिगुना दूर है।[4] प्लेटो ने काव्य के महत्त्व को नही समझा था। वे विचार के सत्य और कल्पना के सत्य को नहीं

1. हि० व० : पृ० 4.18
2. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : पृ० 298
3. होमर कहता है : ढाल सोने की बनी हुई ही, परन्तु (उस पर अंकित) जुती हुई भूमि श्यामल प्रतीत होती थी। यह उसकी कला का चमत्कार था— ए हिस्ट्री आफ एस्थेटिक: बरनार्ड बोसांके : पृ० 12
4. द रिपब्लिक अनुवाद—बेन्जामिन जोवटे : पृ० 354

पहचान पाये। कुन्तक ने इस रहस्य का उद्घाटन वस्तु वक्रता के सन्दर्भ में किया है। कवि इतिवृत्त वर्णन मात्र (अनुकृति) नहीं करता, उसकी दृष्टि तो केवल उन्हीं अंगों तथा रूपों को ग्रहण करती है जो आकर्षक हैं। डा० नगेन्द्र ने इस तथ्य की स्वच्छ मीमांसा की है—'यह मर्मग्रहण ही वस्तु वक्रता है जो पूर्ण अनुकृति की अपेक्षा अधिक पूर्ण तथा सत्य भी है। प्लेटो ने इसी वस्तु वक्रता के रहस्य को, सामान्य रूप से वार्ता तथा वक्रता के भेद को, नहीं समझा है। इसीलिए उन्होंने काव्य का तिरस्कार किया है।[1]

प्लेटो के बाद अरस्तु ने सर्वप्रथम तथ्य तथा कल्पना के भेद और काव्यगत वक्रता के रहस्य को समझा है। काव्य की जिस वक्रता को प्लेटो ने मिथ्या कल्पना मानकर तिरस्कृत किया है, उसे अरस्तू ने काव्य का प्राणभूत सौन्दर्य माना है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'कवि का कर्त्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं, वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता और आवश्यकता के विषय के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है।[2] कुन्तक ने भी यही बात कही है—यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है, फिर भी काव्य में ऐसे धर्म से उसका सम्बन्ध वर्णन किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है।[3] इसी प्रकार अरस्तू ने वस्तुवक्रता का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है—प्रचलित प्रयोग से वैचित्र्य भाषा को एक प्रकार की गरिमा प्रदान करता है। इसीलिए भाषा में वैचित्र्य का रंग देना चाहिए क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है, वह प्रसन्नता अथवा आस्वाद का भी विषय होता है।[4] कुन्तक ने भी काव्य रूप वक्रोक्ति की रचना प्रसिद्ध शैली से भिन्न प्रकार में माना है। उपचार के सन्दर्भ में तो दोनों एक-दूसरे के बहुत अधिक निकट हैं। अरस्तू लिखते हैं—'उपचार का अर्थ है किसी दूसरी संज्ञा का आरोप, यह आरोप जाति का व्यक्तिपर हो सकता है, या व्यक्ति का जाति पर या व्यक्ति का व्यक्ति पर या साम्य अर्थात् समानुपात की परिकल्पना द्वारा।[5] कुन्तक ने भी यही कहा है, 'जहां अन्य (अर्थात् प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ) का सामान्य धर्म अत्यन्त व्यवहित (अप्रस्तुत) पदार्थ पर लेशमात्र सम्बन्ध से आरोपित किया जाता है, वहां उपचार वक्रता होता है।[6] इसी

1. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका : पृष्ठ 216
2. अरस्तू का काव्यशास्त्र : पृ० 25
3. हि० व० जी० 1.9 कारिका की वृत्ति
4. हि० व० जी० की भूमिका में उद्धृत : पृ० 217
5. द पोयटिक्स : पृ० 78
6. हि० व० जी० : पृ० 2.13

प्रकार का साम्य प्रबन्ध वक्रता के कई रूपों में भी है। अरस्तू कहते हैं—'प्रबन्ध काव्यों की रचना इतिहास की भांति नहीं होनी चाहिए।[1] इस सन्दर्भ में कुन्तक का कहना है कि प्रबन्ध काव्य में कवियों की वाणी केवल इतिवृत्त पर आश्रित होकर जीवित नहीं रहती है।[2] अरस्तू के विपर्यास तथा निवृत्ति नामक प्रबन्ध चमत्कारों का अन्तर्भाव कुन्तक के 'उत्पाद्य लावण्य' में सहज हो जाता है।

वक्रता और औदात्य

यूनानी रोमी आचार्यों में वक्रता का सबसे प्रबल समर्थन लौंगिनुस ने किया है। उनके प्रसिद्ध निबन्ध 'परिइप्सुस' का प्रतिपाद्य 'उदात्त' भावना है। यह उदात्त भावना निश्चय ही जीवन और काव्य के असाधारण तत्त्वों पर आधृत रहती है। इस प्रकार उदात्त की परिकल्पना में वक्रता का प्रवेश अनिवार्य रूप से हो जाता है। लौंगिनुस और कुन्तक ने उदात्त भाषा और वक्रोक्ति की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं, वरन् उदात्त-शैली और वक्रोक्ति के आधार तत्त्वों का विवेचन किया है। ये समीक्षाएं रसवादी न होकर कलावादी हैं। समता के इसी आधार पर इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन फलप्रद है।

लौंगिनुस ने मुख्यतया औदात्य के बहिरंग तत्त्व का विवेचन किया है। उनके निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य उदात्त शैली ही है अर्थात् उनका ध्यान मूलतः उन तत्त्वों पर ही केन्द्रित रहा है, जिनके द्वारा काव्य की शैली उदात्त बनती है। स्पष्टतः ये उदात्त के बहिरंग तत्त्व हैं। स्वयं लेखक ने इन्हें 'कला की उपज' कहा है।[3] लौंगिनुस का अभिप्राय है कि औदात्य कवि के कर्तृत्व की देन है। इसका सादृश्य कुन्तक के कविकर्म' में प्रत्यक्षतः दिखलाई पड़ता है। जिसे लौंगिनुस 'कला की उपज' कहते हैं, उसे ही कुन्तक ने 'कवि व्यापार वक्रत्व' की संज्ञा दी है।

औदात्य के तीन बहिरंग तत्त्वों में अलंकारों की समुचित योजना प्रथम है जिसके अन्तर्गत भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही से सम्बन्धित अलंकार आ जाते हैं। लौंगिनुस अलंकार विधान में औचित्य को प्राथमिकता देते हैं। कुन्तक ने भी वक्रोक्ति को पूर्णतः औचित्य से अनुशासित बतलाया है। वक्रोक्ति अलंकृति है पर यह वागाडम्बरत्व से क्षयिष्णु नहीं बन गई है। इसकी सफलता अतिचारमुक्त और अयत्नजत्व में हैं। लौंगिनुस ने कहा है कि कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है।[4] औदात्य के पोषक तत्त्वों में प्रथम अलंकार-योजना वस्तुतः

---

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनु० डा० नगेन्द्र पृ० 61
2. हि० व० जी० : पृ० 495
3. काव्य में उदात्त तत्व : पृ० 53
4. वही : पृ० 82

कुन्तक की वाग्य वक्रता ही है। सभी अलंकार वर्ग इसी में अन्तर्लीन है। औचित्य के पोषक अलकारों में लौंगिनुस ने रूपक आदि के साथ रूप परिवर्तन आदि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है जिससे वचन, काल, पुरुष, लिंग आदि में परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के द्वारा विषय के प्रतिपादन में विविधता और सजीवता आ जाती है। कुन्तक ने पद-परार्ध-वक्रता के अन्तर्गत इन्हीं पद परिवर्तनों का स्वच्छ विवेचन प्रस्तुत किया है। वचन, काल, पुरुष, कारक और लिंग आदि व्याकरणिक कोटियां है, पर कुन्तक और लौंगिनुस दोनों ने ही इन व्याकरणिक कोटियों के कलात्मक औचित्य की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है।

कुन्तक के अनुसार जहां औचित्य की अन्तरतमता से काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वह, काल वैचित्र्यवक्रता' है।[1] पाश्चात्य आलोचना में इसे ही ऐतिहासिक वर्तमान' कहा गया है। इस पर विचार करते हुए लोंगिनुस ने लिखा है कि 'यदि आप बीती बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करें मानो वे वर्तमान में हो रही हों, तो आपकी कहानी आख्यान न रह वास्तविकता का रूप धारण करने लगती है।"[2] रूप परिवर्तन में दूसरा तत्त्व कारक है। कुन्तक का कहना है कि 'जहां सामान्य रूप से कथन किया जाता है, वहां कारक वक्रता होती है। कारकों के इस विपर्यय में कवि का लक्ष्य रमणीयता का सृजन होता है।[3] लोंगिनुस ने कारक में रूप-परिवर्तन का उल्लेख तो किया है पर विधिवत् स्वरूप-निरूपण नहीं। रूप-परिवर्तन का तीसरा तत्त्व है, वचन। कुन्तक के अनुसार काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए, जहां कविजन स्वेच्छया वचन का विपर्याय कर देते हैं, वहां वचन वक्रता होती है।[4] वचन के रूप परिवर्तन पर लोंगिनुस का कहना है कि 'जहां तक वचन का प्रश्न है, मैं यह कहूंगा कि शैली केवल अथवा मुख्यतः उन शब्दों के प्रयोग से ही अलंकृत नहीं होती जो रूप की दृष्टि से एक वचन होने पर भी अर्थ की परीक्षा करने पर बहुवचन सिद्ध होते हैं। अधिक ध्यान देने की बात यह है कि कभी-कभी एक वचन के लिए बहुवचन का प्रयोग कानों पर और भी गहरा असर डालता है और बहुवचन द्वारा अभिव्यक्त संख्याधिक्य से हमें प्रभावित करता है"[5] लोंगिनुस ने उस स्थिति का भी विवेचन किया है, जहां बहुवचन का एकवचन में प्रयोग प्रभाव-वृद्धि में सहायक होता है।' इसके विपरीत

---

1. हि० वक्रो० जी० : 2.26
2. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ० 85-86
3. हि० व० जी० : 2.28
4. हि० व० जी० : 2.29
5. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ० 84

बहुसंख्यक वस्तुओं को एक वचन द्वारा प्रकट करने से कभी-कभी बड़ा उदात्त प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। बहुसंख्य को एक वचन द्वारा प्रकट करने से सामूहिक एकता का भाव अधिक पूर्णता के साथ प्रकट होता है। जहां शब्द एक वचन में हों और उन्हें बहुवचन वाची अर्थ प्रदान किया जाये, वहां बहुत-सी वस्तुओं के लिए एक सुन्दर एक वचन वाची शब्द का प्रयोग करने से विपरीत परिवर्तन के कारण आश्चर्य उत्पन्न होता है।[1] रूप-परिवर्तन का चौथा तत्त्व है पुरुष। कुन्तक के अनुसार पुरुष वक्रता कवियों के ऐसे प्रयोगों में दिखाई दिया करती है, जिनमें भाव परिपोष के लिए मध्यम और उत्तम पुरुष के बदले अन्य पुरुष का प्रयोग रहा करता है।[2] लोंगिनुस का कहना है कि पुरुष का परिवर्तन भी अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करता है और प्रायः श्रोता को यह अनुभव होने लगता है जैसे वह पुरुष विपत्तियों के बीच चल रहा हो।···इस प्रकार प्रत्यक्ष व्यक्तिगत रूप में सम्बोधन के द्वारा श्रोता जैसे स्वयं घटनास्थल पर उपस्थित हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव तब भी होता है जब यह लगे कि तुम हर एक से नहीं बल्कि किसी एक व्यक्ति से बात कर रहे हो। यदि तुम अपने श्रोता को व्यक्तिगत रूप में सम्बोधित कर उसे सजग रखो, तो वह अधिक उत्तेजित और एकाग्रचित्त रहेगा और सक्रिय रूप से तुम्हारे साथ सहयोग करेगा।[3] कारक की तरह लिंग परिवर्तन का भी लोंगिनुस ने विवेचन नहीं किया है।

उदात्त के पोषक बहिरंग तत्त्वों में दूसरा है उत्कृष्ट भाषा। उत्कृष्ट भाषा के अन्तर्गत शब्द चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा-समृद्धि आदि गुण सन्निविष्ट हैं। इस दूसरे तत्त्व का सादृश्य, कुन्तक की वर्ण विन्यास वक्रता, पद-पूर्वार्धवक्रता और पदपरार्धवक्रता में प्राप्य है। ये तीनों वक्रता प्रकार अच्छी भाषा के ही पर्याय हैं। अच्छी भाषा के उत्कृष्ट केन्द्रण को ही कुन्तक ने साहित्य कहा है। लोंगिनुस की साहित्य संबन्धी विचारणा कुन्तक से साम्य रखती है। लोंगिनुस का कहना है कि गरिमामयी पदावली का उपयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, क्योंकि वस्तु और शब्द के बीच पूर्ण सामंजस्य के बिना उदात्त की योजना संभव नहीं है। कुन्तक में यही विचार 'अन्यूनातिरिक्तत्व' के रूप में उभरा है। कुन्तक

---

1. काव्य में उदात्ततत्त्व : पृ० 84
2. हि० व० जी० : 2.30
3. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ 87

का कथन है कि समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वतः स्फुरित होने पर भी मृतकल्प ही रहता है। उसी प्रकार शब्द भी रमणीय अर्थ के अभाव में व्याधिभूत सा प्रतीत होने लगता है।[1] कुन्तक ने शब्द और अर्थ के समभाव को ही साहित्य माना है। इसी प्रकार लोंगिनुस भी कहता है कि रचना 'पदावली के परस्पर सह विन्यास के द्वारा समंजित विधान प्रस्तुत करती है। ऐसी अवस्था में क्या यह मानना उचित नहीं होगा कि सामंजस्य इन्हीं सब साधनों के द्वारा हमें प्रलुब्ध करता है और अनिवार्य रूप में हमें भव्यता, गरिमा, ऊर्जा तथा अपने भीतर निहित प्रत्येक भाव का और प्रवृक्ष करता है और इस प्रकार हमारे मन के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है।[2] लोंगिनुस की इस विचारणा से पूर्ण सहमति है कि साहित्य शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का औचित्य है।

औदात्य का पोषक तीसरा बहिरंग तत्त्व है गरिमामय एवं ऊर्जित रचना विधान। कुन्तक की प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता में हम गरिमामय रचना विधान का प्रच्छन्न सादृश्य देख सकते हैं। रचना विधान की स्थिति शरीर-रचना के समान है। शरीर को हम जिस प्रकार अंगों में काट छांटकर नहीं देखते हैं, उसी प्रकार रचना में भी सभी अंगों का सामंजस्य रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोंगिनुस द्वारा निरूपित उदात्त के पोषक तीनों बहिरंग शैली तत्त्व किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति के भेदों-उपभेदों से साम्य रखते हैं।

औदात्य के विरोधी तत्त्व के रूप में लोंगिनुस ने बालेयता को उपस्थित किया है। बालेय शब्द का अर्थ है बचकाना—जिसमें बच्चों के दुर्गुणों का ही प्राधान्य रहता है, जैसे चापल्य, गरिमा का एकान्त अभाव, संयम का अभाव, एक प्रकार की हीनता, कायरता आदि। क्षुद्र भाषा बालेयता है और बालेयता का प्रतिलोम औदात्य है। अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम औदात्य है। वक्रोक्ति भी विशिष्ट अभिव्यंजना है। जैसे औदात्य का प्रतिलोम बालेयता है, उसी प्रकार वक्रोक्ति का विरोधी तत्त्व वार्ता है। कुन्तक ने तो नहीं, भामह ने इसका अत्यन्त स्वच्छ विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वार्ता बालेयता की ही भांति क्षुद्र अभिव्यंजना का नाम है। क्षुद्रता को अतिक्रान्ति करने वाला तत्त्व है वक्रोक्ति उसी प्रकार औदात्य गरिमामयी वाणी है। लोंगिनुस का कहना है कि 'गरिमामयी वाणी अपनी अभिभाव-क्षमता के कारण अनुनय तथा परितोषकारी वाणी की अपेक्षा सदैव और सभी प्रकार से अधिक समर्थ होती है।'[3] जिसे लोंगिनुस

1. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ० 87
2. वही : पृ० 106
3. वही : पृ० 44

'अनुनय तथा परितोषकारी वाणी' कहते हैं, वह बार्ता से मिलती-जुलती चीज है। लोंगिनुस ने इसी के प्रतिलोम में औदात्य और कुन्तक ने वक्रोक्ति प्रस्तुत की है।

लोंगिनुस ने उदात्त भाषा के पांच प्रमुख उद्गम स्रोतों का निर्देश किया है। इन पांच विभिन्न गुणों के नीचे एक प्रकार से एक सामान्य आधार है, वाक् प्रतिभा।[1] यह कैसा साम्य है कि कुन्तक भी 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' को ही वक्रोक्ति कहते हैं। वैदग्ध्य और वाक् प्रतिभा एक ही चीज हैं। इस प्रकार लोंगिनुस और कुन्तक की स्थापनाएं एक दूसरे से पूर्ण साम्य रखती हैं। वैदग्ध्य की सबसे अधिक पहचान शब्द चयन के क्षेत्र में होती है। प्रसंगानुकूल शब्द चयन ही काव्य में सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है। कुन्तक ने वस्तुवक्रता को परिभाषित करते हुए वस्त का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन करना बतलाया है।[2] तात्पर्य है कि शब्द का सौंदर्य प्रसंग सापेक्ष ही होता है। लोंगिनुस का कहना है कि सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।[3] शब्द का यह सौंदर्य ही पदौचित्य है। उनका कहना है कि 'उचित यही है कि हम विषय के अनुकूल शब्दों का प्रयोग करें।[4]

वस्तुवक्रता अर्थात् स्वभावोक्ति के विवेचन में भी लोंगिनुस और कुन्तक में साम्य है। लोंगिनुस का कहना है कि प्रत्येक वस्तु में स्वभाव से ही कुछ ऐसे तत्त्व रहते हैं, जो उसके अभिन्न अंग होते हैं।[5] इस प्रकार वे वस्तु के तत्त्वों की व्यवस्थित प्रस्तुति को औदात्य का कारण मानते हैं। कुन्तक का दृष्टिकोण भी यही है। वे भी कुछ वस्तुओं को उत्कृष्ट धर्म से युक्त और कुछ को अनुत्कृष्ट धर्म से युक्त मानते हैं।[6] उनका कहना है कि वस्तु के सौंदर्य के वर्णन में उपमा आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को प्रारंभ में पर्याय माना गया और बाद में उनके घनिष्ठ संबंध को स्वीकार किया गया। लोंगिनुस ने भी अतिशयोक्ति को उदात्त का अपरिहार्य तत्त्व माना है। उदात्त शैली के प्रस्तुत तत्त्वों में अतिशयमूलक अलंकारों की योजना भी एक है। अतिशयमूलक अलंकारों में विस्तार और उत्तेजना की अपेक्षा रहती है और ये उदात्त शैली के शोभाकारक धर्म हैं।

---

1. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ० 53
2. हि० व० जी० : 3.1
3. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ० 90
4. वही : पृ० 111
5. वही : पृ० 60
6. हि० व० जी० : पृ० 293

यद्यपि औदात्य और वक्रता में इतना अधिक साम्य है, तथापि इनकी कला दृष्टि को एक नहीं माना जा सकता। लौंगिनुस की खोज महानता की खोज है, जबकि कुन्तक महानता के नहीं, पूर्णता के अन्वेषक हैं। लौंगिनुस का मत है कि 'महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है, क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है।'[1] उनका काव्य महानता है। महानता में छिद्र भी होते हैं, कुन्तक का काम्य पूर्णता है।

औदात्य और वक्रोक्ति का अध्ययन सैद्धान्तिक समीक्षा का एक रोचक प्रसंग है। भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा के दो सिद्धान्त विवेचन और विश्लेषण में एक दूसरे के बहुत ही निकट हैं। आलोचन पद्धति विभिन्न परिवेशों में भी, एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना भी, कितना विचार साम्य रखती हैं, यह इस अध्ययन से पता चलता है। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही नए समीक्षा सिद्धान्तों का अन्वेषण सम्भव है।

लोंगिनुस के बाद रोमी युग की समाप्ति के पश्चात् अंधकारमय मध्ययुग में दांते ने काव्य में उज्ज्वल जनवाणी के द्वारा काव्य में विचित्रता के महत्त्व को स्वीकारा है।[2] तत्पश्चात् पुनर्जागरण काल में नव्यशास्त्रवाद आता है। इस युग में रोमानी वक्रता की प्रतिष्ठापना का स्वर नहीं मिलता। इस युग में मनोविज्ञान को आधार बनाकर काव्य रचना का अध्ययन किया जा रहा था। ऐडिसन ने काव्य में कल्पना शक्ति के महत्त्व की पुनः प्रतिष्ठा करके प्रकारान्तर से वक्रता के महत्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि इन दोनों रूपों—भावपक्ष और कला-पक्ष, को कवि कल्पना के द्वारा अपनी मानसगत भावना को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उसके द्वारा पाठकों की कल्पना प्रभावित होने लगती है।[3] यूरोपीय काव्य शास्त्र में रोमानी युग के आरंभ होने से पूर्व युंग, लेंसिग, शिलर, गेटे आदि ने काव्य-समीक्षा की प्राचीन पद्धति का तिरस्कार करके स्वच्छन्द रोमानी वैचित्र्य को ही स्वीकार किया है। स्वच्छन्दतावादी वर्ड्सवर्थ का कथन महत्वपूर्ण है 'कवि कवियों के लिए नहीं लिखते हैं। जनसाधारण के लिए लिखते हैं। इसीलिए कवि को अपनी कल्पित ऊंचाई से उतरना होगा तथा बौद्धिक सहानुभूति जाग्रत करने के लिए उसे अन्य लोगों की भांति अपनी अभिव्यक्ति करनी होगी।[4] उन्होंने कल्पना जन्य शैली को विकृत दोषपूर्ण, चैतन्यविहीन कहकर तिरस्कृत किया है। वे सरल तथा तात्विक भाषा के पक्षधर हैं इतना होने पर भी उन्होंने स्वच्छन्द मायात्मक

---

1. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र पृ० 305
2. लिट्रेरी क्रिटिसिज्म: एटकिंस : पृ० 168
3. इंगलिश क्रिटिकल एस्सेज : सं० एडमण्ड डी० जोन्स; पृ० 7
4. वही : पृ० 3

कल्पना की अवहेलना नहीं की। वे कहते हैं इन कविताओं का मुख्य उद्देश्य घटनाओं और परिस्थितियों का सामान्य जीवन से चयन करना तथा कल्पना का ऐसा पुट देना था जिससे कि साधारण वस्तुएं भी अद्भुत रूप धारण कर लें।[1] इन पंक्तियों में उन्होंने संयत वक्रता का समर्थन किया है। वे वाग्वैदग्ध्य का नहीं अपितु अतिशयोक्तिपूर्ण, साधारणजन से भिन्न अलंकृत शैली का तिरस्कार करते हैं। वर्ड्सवर्थ के अभिन्न मित्र कॉलरिज ने वक्रता के महत्व की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने कल्पना को काव्य सत्य का महत्वपूर्ण उपकरण मानकर उसे काव्य की आत्मा घोषित किया।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

अभिव्यंजनावाद आत्मा का दर्शन है। यह सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के स्थूल भौतिकवाद की प्रक्रिया में इस सदी के आरम्भ में उत्पन्न हुआ था। अभिव्यंजनावाद की स्थापना है कि कलाकृति की मूल्यवत्ता आत्मा की शक्ति से प्राप्त होती है, न कि शब्दों, वाक्यों अथवा विशेष ढंग के उपस्थापन से। जो आलोचना काव्य के माध्यम अर्थात् भाषा को ही प्रमाण मानकर चलती थी, वह इस बात की कोई संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाती थी, क्योंकि एक कवि की रचना दूसरे कवि की रचना से भिन्न होती है। क्रोचे से पूर्व के सभी कलावादी समीक्षक अभिव्यंजना के बाह्य उपादानों के वर्गीकरण में ही व्यस्त रहे और कवि कर्म की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। क्रोचे पर कलावाद का आरोप लगाया जाता है, जबकि वह पहले समीक्षक हैं जिन्होंने यह स्थापित किया कि प्रत्येक कलाकृति एक स्वायत जगत है और उसकी आलोचना के नियम भी उसी से निःसृत होते हैं। इस प्रकार काव्य संसार की उन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठा की। कलावादी समीक्षा के इस अभाव की उन्होंने पूर्ति की और इस प्रकार कलावाद को उन्होंने सुष्ठु दार्शनिक पीठिका प्रदान की। यहीं पर अभिव्यंजनावाद पुराने कलावाद से नया रूप रंग ग्रहण करता है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त की विशेषता भी यही स्वायत्तता का सिद्धान्त है। कवि-कर्म के इसी पक्ष की स्वच्छ मीमांसा वक्रोक्तिवाद में उपलब्ध हैं। वक्रोक्तिवाद कविकर्म को ही काव्य मानता है। उसकी मुख्य उद्भावना है कि शील और शक्तिमान दो नहीं, प्रत्युत एक हैं। 'कवि की शक्ति उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से उत्पन्न होती है। कविता और कुछ नहीं, कवि का कर्म है अर्थात् कविता उसके आन्तारिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद है, उसकी आत्मा का रंग है, उसके संस्कारों की खुशबू है। कवि की शक्ति उसके स्वभाव से उत्पन्न होती है, कवि की व्युत्पत्ति उसके संस्कार से आती है तथा कवि का अभ्यास उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार

1. बायोग्राफिया लिटरेरिया : पृ० 6

चलता है।'[1] कवि कर्म की इस दृष्टि का प्रसार वक्रोक्तिवाद के रीति निरूपण के क्षेत्र में भी दिखाई पड़ता है। उन्होंने रीति को कवि स्वभाव से जोड़ दिया है और उसे कवि के व्यक्तित्व से सम्बद्ध बतलाया। उन्होंने स्वभाव की महिमा को स्पष्टत: स्वीकार किया है। इस प्रकार क्रोचे जब कला में आत्मा की सत्ता प्रतिष्ठापित करते हैं, तब कुन्तक के कवि स्वभाव से अधिक गहराई में उतरते है।

क्रोचे और कुन्तक के इस सादृश्य में तात्विक अंतर भी है। क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना-प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है—अंत: संस्कार, अभिव्यंजना अर्थात् नंदतिक आध्यात्मिक योजना या कल्पना, सौंदर्य से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द और कलापरक आध्यात्मिक वस्तु का स्थूल भौतिक रूपों (शब्द, स्वर, चेष्टा, रंग-रेखा आदि) में अवतरण। किन्तु क्रोचे का स्पष्ट अभिमत है कि इन सब में मूल प्रक्रिया है दूसरी अर्थात् अभिव्यंजना।[2] यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्रोचे की अभिव्यंजना कोई बाह्य वस्तु नहीं अपितु सहजानुभूति मात्र है। इस प्रक्रिया में दूसरा तत्व अर्थात् अभिव्यंजना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कुन्तक की 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' भी उक्ति को ही प्रधानता देती हैं। यही विचार इन दोनों सिद्धान्तों को समान भूमि पर अवस्थित करता है। क्रोचे सहजानुभूति को अनिवार्यत: अभिव्यंजना रूप मानकर कला में आत्मा की सत्ता को प्रतिष्ठापित करते हैं। वक्रोक्तिकार ने बहुत पहले कवि कर्म के इस पक्ष के महत्व को जान लिया था। वक्रोक्तिवाद कवि कर्म को ही काव्य मानता है।

क्रोचे का कहना है कि 'कला के क्षेत्र में अंतरंग और बहिरंग का पार्थक्य निरर्थक है, संवेदन मात्र कला नहीं है, वरन् उन संवेदनों की रूपात्मक अभिव्यक्ति ही कला है। कला की भांति कला कृति भी अखण्ड वस्तु है। उसकी दृष्टि में कला का विश्लेषण और वर्गीकरण दोनों असंगत हैं।[3] उनका कहना है कि 'कलाकृति को हम भागों में, कविता को दृश्यों, उपाख्यानों, उपमाओं, वाक्यों में, एक चित्र को अलग-अलग आकृतियों और वस्तुओं, पृष्ठभूमि, पुरोभूमि आदि में विभक्त करते हैं—यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देता है, जिस प्रकार जीव को दृश्य, मस्तिष्क, धमनियों, मांसपेशियों में बांट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देता है, उसी प्रकार इस तरह का वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देता है।[4] यही बात कुन्तक ने भी कही है:

---

1. दिनकर : शुद्ध कविता की खोज, पृ० 26
2. एस्थेटिक : अनुवाद : डगलस ऐंसले, पृ० 69
3. वही, पृ० 114
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा : डा० सावित्री सिन्हा, पृ० 266

'अलंकार सहित अर्थात् अलंकरण सहित, सम्पूर्ण अर्थात् अवयव रहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कवितर्मत्व है।[1] इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कविकर्म तत्व और रूप का अलग-अलग सृजन न होकर समन्वित प्रयास ही है। यहां वक्रोक्ति वाद और अभिव्यंजनावाद में साम्य है।

क्रोचे ने सौंदर्य के वर्गीकरण को भी असंगत माना है। उनका कहना है कि कला में सुन्दर से सुन्दरतर की कल्पना संभव नहीं है।[2] कुन्तक ने भी काव्य-मार्गों के विवेचन में यही बात कही है कि उनमें मूलतः प्रकार का भेद है, सौंदर्य की मात्रा का नहीं।[3] अभिव्यंजनावाद में विषय-वस्तु की कोई सत्ता नहीं है, परन्तु वक्रोक्ति वाद में वस्तु को उक्ति से पृथक माना गया है। प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है। आचार्य शुक्ल ने इस धारणा से कि कला में विषय वस्तु की कोई सत्ता नहीं है, अभिव्यंजना ही कला है, अभिव्यंजनावाद का तिरस्कार करने के लिए इसे भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कह दिया है।[4] यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। वक्रोक्ति-वाद, अभिव्यंजनावाद की अपेक्षा कहीं अधिक ठोस एवं महनीय मूल्यों पर आधारित है। क्रोचे कला का मूल्य केवल सौंदर्य को ही मानते हैं। उनके अनुसार कला को कल्याणकारी तथा सत्य बतलाना नितान्त अनुचित है, जबकि कुन्तक 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को कला का मेरुदण्ड मानते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद के समीप होते हुए भी दूर है। इसका स्पष्ट कारण है कि क्रोचे का सिद्धान्त दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थित है, जबकि वक्रोक्तिवाद रस-ध्वनि शास्त्र की आनन्दमयी पीठिका पर अवलंबित है। फिर भी ये दोनों सिद्धांत एक ही आधारभूमि-उक्ति पर अवलंबित होने के कारण समानार्थी जान पड़ते हैं। अतः कह सकते हैं कि अभिव्यंजनावाद के द्वारा बक्रोक्ति की स्थापनाओं को और अधिक मान्यता प्राप्त हुई है।

वक्रोक्ति और आधुनिक अंग्रेजी आलोचना

कुन्तक की वक्रोक्ति में काव्य विश्लेषण की वही उत्कट पिपासा दृष्टिगोचर होती है, जो रिचर्ड्स और एम्पसन जैसे आलोचकों में मिलती है। आइ० ए०

---

1. सालङ्कारस्यालङ्करण सहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। हि० ब० जी० : पृ० 17
2. ऐस्थेटिक : पृ० 79
3. हि० व० जी० : पृ० 160
4. चिन्तामणि भाग-2 : पृ० 98

रिचर्ड्स ने अभिव्यंजनावाद के कारण उत्पन्न नए-नए अतिवादों का खण्डन करके शुद्ध वक्रता की प्रतिष्ठा की है। उनका कहना है कि 'किसी उक्ति का प्रयोग अर्थ-संकेत के लिए हो सकता है, यह अर्थ संकेत सत्य हो सकता है, अथवा मिथ्या। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है, किन्तु भाषा का प्रयोग उन भावगत और प्रवृत्तिगत प्रभावों के निमित्त भी हो सकता है, जो अर्थसंकेतों से उत्पन्न होता है। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है।[1] यह भाषा का रागात्मक प्रयोग स्पष्टतः कुन्तक की वक्रता के प्रथम चार भेदों—वर्ण विन्यास वक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता तथा वाक्यवक्रता का संघात है। इसे काव्य का माध्यम मानकर रिचर्ड्स ने प्रकारान्तर से वक्रता को ही स्वीकार किया है। अलंकार्य और अलंकार की समस्या के प्रसंग में कुन्तक ने शरीर और आत्मा का जो प्रश्न उठाया है, उसमें गहराई है। उनका कहना है कि 'वह शरीर ही यदि अलंकार हो जाये, तो वह दूसरे किसको अलंकृत करेगा। कहीं कोई स्वयं अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता है।[2] अलकार काव्य में बाहर से आयातित नहीं होते। उसे मान लेने पर यह मानना पड़ेगा कि कोई चीज है जिसमें बाहर से अलंकार जोड़ा जाता हैं। अलंकार के बहिरंगत्व की इस स्थापना का डा० रिचर्ड्स ने भी खण्डन किया है। उन्हें इस बात से नाराजगी है कि बहुत दिनों से अलंकार अभिव्यंजना के बहिरग उपादान माने जाते रहे हैं।[3] उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अलंकार अथ च लाक्षणिक प्रयोग काव्य के अपरिहार्य तत्व हैं। कुन्तक ने भी ऐसा ही कहा है कि 'लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कुछ अपूर्व काव्य के अलंकार की रचना की जा रही है।[4] इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य ही अलंकार है, न कि कोई बहिरंग उपादान। इस तरह अलकार ही साहित्य सिद्ध होता है। कुन्तक के लिए जो महत्व 'तद्विद' का है, वही रिचर्ड्स के लिए श्रेष्ठ पुरुष का है। उनका कहना है कि कोई' श्रेष्ठ पुरुष ही सहज और नैसर्गिक ढंग से सम्यक मार्ग ग्रहण कर सकता है।[5] इस प्रकार देखते हैं कि कुन्तक और रिचर्ड्स में प्रर्याप्त साम्य है।

एम्पसन का काव्य सिद्धान्त रिचर्ड्स के ही सिद्धान्तों का पुनरीक्षण, संशोधन और प्रसार है। कुन्तक और एम्पसन—दोनों ने ही शब्द मीमांसा को महत्व दिया

1. प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म : पृ० 267
2. हि० व० जी० : पृ० 1.13
3. द फिलोसफी आफ रहेट्रिक : पृ० 90
4. हि० व० जी० : पृ० 1.2.
5. द फिलोसफी आफ रहेट्रिक : पृ० 287

है। कुन्तक की स्थापना है कि यद्यपि वाचक शब्द प्रसिद्ध ही है, लेकिन काव्यमार्ग में वह भिन्न स्वरूप ग्रहण करता है।[1] रिचर्ड्स की उक्ति और छद्मोक्ति से इसकी समकक्षता स्पष्ट की है। एम्पसन ने शब्दों की शक्ति और अनुभूति के प्रभावों को कविता में संघटित अधिसंख्य उक्तियों की क्रिया शीलता से विछिन्न करने से काव्य की परख को अधिक तीक्षण और प्रतिपन्न बना दिया है। 'वक्रोक्ति जीवितम्' और 'अनेकार्थक अर्थों के द्वन्द्व के सात प्रकार' की तुलना कई दृष्टियों से की जा सकती है। इन दोनों ग्रंथों में भाषा और काव्यसिद्धान्तों के परिष्कार के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। कुन्तक ने छः प्रकार की वक्रता का उल्लेख किया है और प्रत्येक का अपना सौंदर्य है। एम्पमन ने अनेकार्थक अर्थों के द्वन्द्व' में सात प्रकारों का उल्लेख किया है। कुन्तक ने शब्द की गतिशीलता और परिष्कृति को वक्रोक्ति का महत्वपूर्ण उपादान बताया है। एम्पसन भी ऐसा ही कहते हैं—'स्पष्टतया सभी गौणार्थों को प्रासंगिक होना चाहिए, क्योंकि इकाई के रूप में विचार्य सभी चीजों (वाक्यांश, वाक्य और कविता) को ऐकिक होना ही चाहिए। कोई यह कह सकता है कि अनेकार्थ अर्थों के द्वन्द्व को ऐकिक होना है, तो इसके तत्वों को साथ बनाए रखने के लिए शक्तियां भी होंगी।[2]

कुन्तक ने वक्रोक्ति को जगह-जगह औचित्य से अनुशासित बताया है। कविता संदर्भ से प्रेरणा ग्रहण करती है और संदर्भ को शक्ति प्रदान करती है। एम्पसन भी यही मानते हैं कि अनेकार्थक अर्थों का द्वन्द्व अपने आप में पूर्ण नहीं है। यह अपने आप में कोई युक्ति भी नहीं है। न यह ऐसी चीज है, जिसके लिए कवि को जी तोड़ श्रम करना चाहिए। इसकी हरेक नजीर को वस्तु स्थिति की विशिष्ट अपेक्षा के अनुरूप होना चाहिए।[3]

इस हम प्रकार देखते हैं कि काव्य के मौलिक सिद्धान्त पर आधारित वक्रोक्ति को पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी मान्यता मिली है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त का मूल्यांकन

प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन कविता को नए सिरे से परिभाषित करता है। यद्यपि कोई भी परिभाषा अपने युग और समाज से निरपेक्ष नहीं होती तथापि उनका महत्त्व सार्वकालिक और सार्वजनीन होता है। साहित्यिक आंदोलन में एक विशेष काव्यतत्त्व अथवा काव्य के एक विशिष्ट पहलू पर बल होता है। वक्रोक्ति

---

1. हि० व० जी० : पृ० 1.8
2. सेवन टाइप्स आफ एम्बिगुइटी : पृ० 234
3. वही : पृ० 235

भी इसी प्रकार पुर्नपरिभाषा का प्रयास थी। पुर्नपरिभाषा की आवश्यकता उस समय होती है जब पुराने काव्य-सिद्धान्त—आचार्यों की त्रुटि साफ झलकने लगती है, अथवा काव्यबोध का कोई पक्ष अपरिभाषित रह जाता है। वक्रोक्ति सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक काव्य सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत कुन्तक ने वर्ण चमत्कार, शब्द सौंदर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि समस्त काव्यांगों पर विचार किया है। उन्होंने अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस आदि काव्य-सिद्धान्तों का भी इसी में समाहार करने का प्रयास किया है। उन्होंने सभी पूर्ववर्ती काव्य-सिद्धान्तों का लाभ उठाकर, वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्यसौंदर्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

वक्रोक्ति केवल वाक्चातुर्य अथवा उक्ति चमत्कार मात्र नहीं है। आचार्य कुन्तक ने उसे कवि-कौशल एवं कला की प्रतिष्ठा के रूप में प्रस्तुत किया है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में वक्रोक्ति वाद का अर्थ कलावाद है। कुन्तक ने पाश्चात्य कलावादियों की भांति विषयवस्तु का निषेध नहीं किया। विषयवस्तु का जितना सुन्दर विवेचन कुन्तक की वाक्यवक्रता के अन्तर्गत प्राप्य है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने माना है कि काव्यवस्तु स्वभाव से रमणीय होनी चाहिए, पर साथ ही वे कवि-व्यापार को महत्त्व देते हैं। सौंदर्य का उद्घाटन या चयन तो प्रतिभावान कवि ही कर सकता है। अतः वक्रोक्ति में विषयवस्तु और कविकर्म कौशल दोनों को महत्त्व मिला है।

अभिव्यंजना के विश्लेषण क्रम में उन्होंने वक्रोक्ति के बीज रूप में स्थित विचारों का विकास किया है। वे काव्य को अलंकृत शब्दार्थ मानते हैं। वे अलंकार संज्ञा का प्रयोग सौंदर्य के व्यापक विभावन के अर्थ में करते हैं। यह मात्र आलंकारिक अभिव्यंजना का नहीं, बल्कि काव्यात्मक अभिव्यंजना मात्र का आधार है। रीति, गुण, रस एवं ध्वनि आदि सभी मतों का पुनरीक्षण और पुनर्मूल्यांकन भी उन्होंने इसी दृष्टि से किया है। इस प्रकार कह सकते हैं कि वक्रोक्ति सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र की सभी परम्पराओं के नूतन संस्कार का प्रयास है।

कुन्तक की विशेषता है कि वे काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़े। वे काव्य को छोड़कर रस और ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं हुए। उनके आकर्षण का केन्द्र स्वयं रचना है। कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य होने के कारण रस में आलोचकों को काव्य से विलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। रस की अलौकिकता अन्ततः शब्दों से निःसृत होती है। रस तो कई हैं। अनुभूति की इन विभिन्न स्थितियों में काव्य की रचना नहीं होती है। अनुभूति के दर्शन पर आधृत काव्यालोचन का यह सिद्धान्त आलोचक के लिए कठिनाइयां उत्पन्न कर देता है।

आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का ध्यान करते हुए, उन्होंने काव्य की आत्मा की खोज नहीं की और वे अनुभूतिवादी दर्शन से बच निकले। इसी कारण उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बतलाया।

रस का प्रतिमान काव्यास्वाद का प्रतिमान है। कला सिद्धान्त में प्राणतत्त्व है कल्पना और अनुभूति उसका पोषक तत्त्व है। रस सिद्धान्त में मूल तत्त्व है अनुभूति और कल्पना उसका अनिवार्य तत्त्व है। यही स्थिति वक्रोक्ति व रस की है। कुन्तक ने रस को वक्रता का समृद्धतम अंग माना है। काव्य में रस और वक्रता के महत्त्व का विश्लेषण करने पर यह बात सामने आती है कि ऐसी स्थिति तो आ सकती है जब काव्य रस के बिना भी बक्रता के सहभाव में जीवित रह सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति संभव नहीं जब वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव में जीवित रहे। अतः कुन्तक वक्रोक्ति को रस की अपेक्षा काव्य के लिए अधिक आवश्यक मानते हैं।

उन्होंने काव्यभाषा के विषय में भी एक महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनका कहना है कि व्यवस्थित शब्द और अर्थ वक्र-कवि-व्यापार से युक्त होने पर ही काव्यबन्ध होते हैं।[1] इसका स्पष्ट अर्थ है कि साधारण भाषा भी, वक्रत्व के स्तर पर, ऊपर उठकर काव्यात्मक क्षमता को प्राप्त कर लेती है। साधारण भाषा ही वक्रोक्ति सिद्धान्त की आधार शिला है।

कुन्तक के सिद्धान्त पर एक आक्षेप है कि यह विशुद्ध व्याकरणिक विश्लेषण है। कुन्तक के स्वयं बतलाया है कि किस प्रकार वक्रोक्ति के संस्पर्श से व्याकरणिक कोटियां, काव्यात्मक कोटियों में देश, काल, संख्या, पुरुष आदि का कोई महत्त्व नहीं होता। ये व्याकरण रूप उच्चतम काव्य के संदर्भ में काव्यत्व का क्षय किये बिना परिवर्तनीय हैं। अत. व्याकरणिक कोटियों की व्याप्ति भी, वक्रोक्ति सिद्धांत में गहराई तक है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त एक संतुलित काव्य सिद्धान्त है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि के अतिरिक्त किसी भी अन्य सिद्धान्त का विवेचन इतने व्यवस्थित ढंग से नहीं हुआ है। इसके अन्तर्गत काव्यकला का व्यापक एवं गहन विवेचन हुआ है। कुन्तक ने काव्यरचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व से लेकर अधिक से अधिक व्यापक तत्व का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर कर भारतीय सौंदर्यशास्त्र में एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया है। काव्य में कला का गौरव स्वतः सिद्ध है। वक्रोक्ति सिद्धान्त ने इसी-कलातत्त्व की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर भारतीय काव्यशास्त्र में अपूर्व योगदान किया है।

---

1. हि० व० जी० : पृ० 1.7

इस बात का श्रेय आचार्य कुन्तक को दिया जाना चाहिए कि वे विचार सूत्र जो विभिन्न काव्यसिद्धान्तों के अन्तर्गत अव्यवस्थित रूप से बिखरे पड़े थे, उन्हें व्यवस्था प्रदान करके, उन्होंने एक ऐसे काव्यसिद्धान्त को स्थापित किया जो अपने अन्दर सभी को समेट कर काव्यालोचन की नई सरणियों का उद्घाटन करने में आलोचक के लिए सदैव सहायक होगा। सभी काव्यसिद्धान्तों में त्रुटियां हो सकती हैं। समयानुसार उनके आख्यान-पुनराख्यान की आवश्यकता पड़ती रहती है। ऐसा वक्रोक्ति सिद्धान्त के विषय में भी है। निष्कर्षत: वक्रोक्ति सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का एक समृद्धतम सिद्धान्त है जो आधुनिक आलोचनाशास्त्र के निकष पर भी खरा उतरता है।

4

तुलसीदास का ब्रजभाषा काव्य

तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति-विषयक अध्ययन तत्वतः उनकी ब्रजभाषा की काव्य कृतियों पर ही आश्रित है। तुलसीदास के अध्येताओं ने उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता, रचनाकाल, भाषा काव्य सौन्दर्य आदि के विषय में श्रमसाध्य विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यहां पर उस सबका लेखा जोखा प्रस्तुत करने से कोई स्पृहणीय सिद्धि नहीं मिलेगी। अतः यहां पर तुलसी के प्रामाणिक साहित्य का सामान्य परिचय ही दिया जा रहा है। तुलसी की प्रामाणिक रचनाएं निम्न मानी गई हैं—(1) बहुमान्य-वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा-प्रश्न, रामललानहछू (2) सर्वमान्यत-रामचरितमानस, जानकी मंगल, पार्वती-मंगल, गीतावली, श्रीकृष्ण-गीतावली, विनयपत्रिका, दोहावली, बरवैरामायण, कवितावली (हनुमान बाहुक समेत)।[1]

कालक्रमानुसार तुलसी की रचनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है: आरंभकालीन—1. वैराग्यसंदीपनी-लगभग सं० 1628-29, 4. जानकी मंगल-लगभग सं० 1629-30।

मध्यकालीन—स. रामचरितमानस—(सं० 1631), 6. पार्वतीमगल (सं० 1943)

मध्योत्तरकालीन—7. श्रीकृष्णगीतावली (लगभग सं० 1644-60), 8. गीतावली (लगभग सं० 1630-70), 9. विनयपत्रिका (लगभग सं० 1631-79), 10. दोहावली (लगभग सं० 1626), 11. वरवैरामायण (लगभग सं० 1630-80), 12, कवितावली-हनुमान बाहुक (लगभग सं० 1631 80)।[2]

---

1. डॉ० उदयभानुसिह : तुलसी : काव्य : मीमांसा : पृ० 69

2. वही : पृ० 137

तुलसीदास में भाषा नैपुण्य की अप्रतिम विशेषता है। उस युग में हिन्दी कविता के माध्यम रूप में दो भाषायें—अवधी और ब्रजभाषा, प्रतिष्ठित थीं। उन्होंने इन दोनों भाषाओं में काव्य रचना की। तुलसी में भाषा विज्ञान की व्यापकता प्राय है। उनकी कृतियों में अवधी और ब्रजभाषा के पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों रूप मिलते हैं। 'रामललानहछू', और 'बरवैरामायण' पूर्वी अवधी की रचनायें हैं, 'जानकी मंगल' और पार्वती मंगल' पश्चिमी अवधी की। 'रामचरितमानस' की भाषा केन्द्रीय बेसवाड़ी अवधी है। 'रामाज्ञाप्रश्न' भी अवधी में हीं लिखा गया है। 'बैराग्य संदीपनी,' 'गीतावली,' 'विनयपत्रिका' तथा दोहावली' (अधिकांश दोहे की भाषा पश्चिमी ब्रजभाहा है, कृष्ण गीतावली' और 'कवितावली की भाषा का विकास उपर्युत दी गई काल काल क्रमानुसार रचनाओं के अनुसार ही हुआ है। बैराग्य संदीपनी, रामललानहछू और जानकी मंगल उनकी पहली अवस्था की अप्रौढ़ रचनाएं हैं। बाद की रचनाओं में उनकी भाषा उत्तरोत्तर प्रौढ़ होती गई है।

इस प्रबंध में तुलसीदास की ब्रजभाषा की काव्य रचनाओं को आधार बनाकर ही वक्रोक्ति विषयक अध्ययन किया गया है। अतः यहां पर उनकी ब्रजभाषा की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देना अपसंगिक न होगा।

बैराग्य संदीपनी—यह तुलसीदास की सबसे पहली प्रामाणिक काव्यकृति मानी गई है। इसकी रचना सं० 1627 में हुई थी। इसमें केवल 62 पद हैं और दोहा, सोरठा तथा चौपाई का प्रयोग किया गया है। इसमें बंदना, भक्ति और निर्गुण ब्रह्म का अच्छा चित्रण हुआ है। ईश्वरावतार का कारण बतलाने के पश्चात् शरीर को तीन तापों से पीड़ित बतलाया गया है। इसमें प्राप्य रामलक्ष्मण स्तुति विषयक दोहों से यह सिद्ध होता है कि तुलसी ने बहुत पहले ही अपने आपको राम का भक्त बना लिया था। 'संतस्वभाव' का इनमें विशद चित्रण है। उनका विचार है कि संत अधिक वाचल नहीं होते। वे संतोषी, संयमशील एवं समदर्शी होते हैं। संत भावना का प्रस्फुटन भावना से ही होता है। संत भावना भक्ति के सहारे उत्कृष्टता को प्राप्त करती है। अंत में कवि ने बड़ी वितम्रापूर्वक सज्जनों से मूल सुधार करने की प्रार्थना की है। तुलसी की प्रथम रचना होने के कारण बैराग्य संदीपनी की रचना-शैली और विचारधारा में प्रोढ़ता तथा परिपक्वता नहीं हैं, पर उस महान कवि की प्रतिभा के अंकुर इसमें स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

श्रीकृष्ण गीतावली—यह 61 छन्दों की एक छोटी सी कृति हैं। इसमें कृष्ण

1. तुलसीदास की भाषा : देवकी नंदन श्रीवास्तव, पृ० 347-363

की बाल लीला, गोपी-उपालंभ, उलूखल बंधन, इंद्रकोप-गोवर्धन-धारण गौचारण अथवा छाकलीला, यमुना तट पर वंशीवादन, शोभा-वर्णन, गोपी-विरह, भक्त-मर्यादा-रक्षण आदि प्रसंगों से सम्बन्धित्त पद हैं। इसकी रचना शैली प्रौढ़ तथा भाषा एवं भाव परिपक्व हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह उस समय की रचना है जब कवि गीति-रचना में अभ्यस्त हो चुका था। इसका व्यवस्थित विषय निर्वाह इस बात का द्योतक है कि इसके रचना काल का आयाम विस्तृत और विच्छिन्न नहीं है। रामभक्त कवि का यह कृष्ण चरित वर्णन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

गीतावली—यह तुलसी का गौरवग्रंथ है। इसमें कुल 238 पद संग्रहीत हैं। इसमें गीतों का अवलंब लेकर रामकथा को अनुस्यूत किया गया है। गीतावली नाम से ही स्पष्ट है कि यह 'गीतों की अवली' है। अन्य रामकथाओं की भांति यह भी सात काण्डों में विभक्त है। गीतावली में वर्णित रामकथा की परिधि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है उसमें राम के आविर्भाव से लेकर सीता-निर्वासन और लव-कुश के बाल-चरित तक के विविध प्रसंगों का वर्णन है। इसमें राम के शक्ति, शील और सौंदर्य का समन्वित रूप वर्णित है। गीतावली मे प्रसंग चयन की विशेषता यह है कि कवि ने उन स्थलों को विशेष रूप से चुना है जो कोमल भावों से ओत-प्रोत हैं। गीतावली का भाव पक्ष अति समृद्ध है। इसकी कथा-वस्तु व्यापक है और कवि के व्यापक जीवनानुभवों के आधार पर भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति काव्य को सरल बना देती है। इसमें वात्सल्य, शृंगार, करुण और भक्ति इन चार रसों की उत्कृष्ट योजना पाई जाती है। भक्ति दर्शन का निरुपण भी यहां पर अनुपम है। यद्यपि यह 'मानस' और विनयपत्रिका की भांति दार्शनिक अथवा भक्तिरसप्रधान काव्य नही है तथा यहां भी कवि की भक्तिभावना का तिरोभाव नहीं हुआ है। इसका कलापक्ष काव्य सौंदर्य की उच्चतम सरणि पर प्रतिष्ठित है। इसका संगीत तत्त्व, प्रगीत तत्त्व और शब्दार्थ नियोजन तथा आलंकारिक वर्णन विशेष महत्वपूर्ण है। यह तुलसी की उत्कृष्ट कोटि की सफल काव्यकृति है।

विनयपत्रिका— विनयपत्रिका का अर्थ है, प्रार्थना पत्र, अरजी। यह अरजी कवि ने भगवान राम की सेवा में भेजी है। यहां भगवान के दरबार में अरजी भेजने का तौर-तरीका लोकोत्तरगरिमा के अनुकूल है। राम के ईश्वरीय स्वरूप और इसके वर्ण्यविषय से यह स्पष्ट है कि यह पत्रिक भौतिक नहीं है, आध्यात्मिक है। यह व्यक्ति, देश और काल की सीमा से परे है। विनयपत्रिका 279 गीतों का संग्रह है। इसमें विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दना करने के पश्चात् हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता की स्तुति की गई है। तत्पश्चात राम की वंदना है और फिर कवि ने अपने हृदय के भावों को काव्य रस में सिक्त करके भगवान के सम्मुख प्रस्तुत किया है। भक्त भगवान की अनुकम्पा प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और उसे भगवान की दया-

शीलता तथा क्षमा का पूर्ण विश्वास है। उसका यह विश्वासपूर्ण होता है और अन्त में वह भगवान की अनुकम्पा को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। विनय-पत्रिका में प्रतिपादित मूल विषय हैं—प्रार्थना एवं स्तुति, स्थानों का वर्णन, मन के प्रति उपदेश, भक्ति पद्धति, भक्ति की कठिनता, प्रपत्तिवाद, कलिवर्णन, संसार की असारता, ज्ञान और वैराग्य तथा आत्मचरित विषयक संकेत। तुलसी की विनय-पत्रिका भाव एवं शैली की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। भक्ति को रसकोटि में सुप्रतिष्ठित करने में इस कृति का योगदान उल्लेखनीय है। प्रौढ़ कवि अपने विचारों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। भक्तिकाव्य में विनयपत्रिका का स्थान इसकी विशिष्ट शैली के कारण सदैव सर्वोपरि रहेगा।

दोहावली—दोहावली तुलसीदास के फुटकर दोहों का संग्रह है। ये दोहे भिन्न-भिन्न विषयों के हैं। इस ग्रंथ में कुल 573 दोहे हैं। इनमें 22 सोरठे तथा 551 दोहे हैं। इसका रचनाकाल सं० 1626 से सं० 1680 तक माना गया है। दोहा-वली में संग्रहीत अनेक दोहे तुलसी की अन्य रचनाओं में भी मिलते हैं। इनके विषय राम-नाम का महात्म्य, रामभक्ति, वैराग्य, तत्त्वज्ञान, धर्मनीति, व्यवहार एवं कलियुग क्लेश सम्बन्धी भावों का प्रकाशन है। तुलसी का राम के चरणों में अनुराग है, पर उन्होंने राम और शिव दोनों की ही उपासना पर प्रारम्भ से ही बल दिया है। इसमें रुद्र-बीसी का भी जिक्र है। तुलसी ने अपनी वृद्धावस्था तथा रोगग्रस्तता का भी वर्णन किया है। तुलसी के व्यापक जीवनानुभवों का सार होने के कारण यह कृति काव्य सौष्ठव तथा भावों की प्रौढ़ता की दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति है।

कवितावली और हनुमानबाहुक—यह तुलसीदास की अन्तिम महत्वपूर्ण रचना है। इसके नाम में प्रयुक्त 'अवली' शब्द संकलन-वाचक है। यह कवि के द्वारा कवित्त शैली में रचित एक मात्र कृति है। इस ग्रंथ में भी राम नाम का गुणगान किया गया है। इसकी कथा भी रामायण की पद्धति पर सात काण्डों में विभाजित है। इसके बालकाण्ड में 21, अयोध्याकाण्ड में 28, अरण्यकाण्ड में एक, किष्किंधाकाण्ड में 1, सुन्दरकाण्ड में 32, लंकाकाण्ड में 58 तथा उत्तरकांड में 183 छन्द हैं। इसमें विषय का वैविध्य और विस्तार है। यह केवल राम कथा और रामभक्ति तक सीमित नहीं है। उत्तरकांड में कृष्णचरित सम्बन्धी भ्रमरगीत प्रसंग के तीन कवित्त भी संकलित हैं। अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियां भी हैं। 'हनुमान-बाहुक' का वैशिष्ट्य स्वयंसिद्ध है। उसमें की गई हनुमान की स्तुति कवि के सम्पूर्ण साहित्य में अद्वितीय है। भारतवर्ष की श्रेष्ठता का उल्लेख भी यहां प्राप्य है। 'सीतानिर्वासन' और 'लक्ष्मण का परित्याग' ये दो घटनाएं भी कवितावली में हैं। आत्मचरितात्मक उक्तियों की दृष्टि से 'कवितावली' का स्थान अन्यतम है। इसमें 'कलियुग वर्णन' के व्याज से तुलसी ने युगीन परि-

स्थितियों का विशद एवं चित्ताभिभावी निदर्शन किया है। कवितावली की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है; उसकी आद्योपान्त सरसता। इसमें सभी ग्यारह रसों की काव्योचित अभिव्यंजना प्राप्य है। कवितावली की कवित्व सम्पन्नता निर्विवाद है। मानव के सहजभावों और भक्तिदर्शन के उन्नत विचारों की शक्तिमती भाषा में प्रभावशाली व्यंजना इस कृति में मिलती है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इसमें शब्द का लालित्य, भाषा की समर्थता, अर्थ का सौन्दर्य, भाव का उत्कर्ष और विचार की उदात्तता प्राप्य है। यह तुलसीदास की उत्तम काव्य-कृति है। तुलसी का प्रौढ़ कवित्व ही इस कृति में रूपायित है। तुलसी की यह रचना उन्हें हिन्दी साहित्य के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ है।

"तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति" विषयक यह अध्ययन इन्हीं छः काव्य रचनाओं पर आधारित हैं। गीतावली, विनय पत्रिका और कवितावली (हनुमान बाहुक सहित) तुलसीदास की ऐसी कृतियां हैं जिन पर गर्व किया जा सकता है। ये काव्यकृतियां तुलसी को भी हिन्दी साहित्य के उच्चतम सोपान पर प्रतिष्ठित करती हैं। श्रीकृष्ण गीतावली छोटी कृति है पर इसका अपना विशिष्ट महत्व यह है कि तुलसी यद्यपि रामभक्त हैं और राम का महात्म्य निरूपण ही उनका प्रतिपाद्य है, तथापि इस रचना में उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को अपने काव्य का विषय बनाया। यह उसकी समन्वयवादी मेधा का कौशल है। 'वैराग्य संदीपनी' कवि की आरम्भिक कृति है, पर उसमें भी भाव और कला का सौन्दर्य विद्यमान है। "दोहावली" के दोहों की विषय वस्तु का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। कहना न होगा कि मानस का रचयिता तुलसी अपनी ब्रजभाषा की रचनाओं के आधार पर भी हिन्दी जगत में गौरवमय स्थान का अधिकारी है। आगामी अध्यायों में आचार्य कुन्तक निरूपित वक्रोक्ति के भेदों-प्रभेदों का अनुसंधान, तुलसी की इन्हीं ब्रजभाषा की काव्यकृतियों में किया गया है। इन विभिन्न प्रकार की वक्रताओं के कारण तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में एक विशिष्ट सौन्दर्य की सृष्टि हुई है और समस्त काव्य सहृदय के लिए आह्लादकारी बन पड़ा है।

5

वर्णविन्यासवक्रता

आकृति से प्रकृति का पता चलता है। वर्णों की आकृति से तन्निहित अर्थ का बोध होता है तथा काव्य-सौन्दर्य चर्मचक्षुओं से देखा जा सकता है। अतः काव्य का समस्त बाह्य सौन्दर्य वर्णविन्यास पर ही आधृत कहा जा सकता है। उधर वर्ण भी सात्म होते हैं। वे भावों के वाहक भी होते हैं। अतः वर्ण-विन्यास से भाव-योजना के स्वरूप का स्पष्ट बोध होता है। इतना ही नहीं, भाव-गरिमा का सम्बन्ध भी वर्ण-विन्यास के साथ रहता है—उदात्त आत्मा 'सुन्दर शरीर में ही वास करती है। अत-एव उदात्त भावों के लिए उदात्त वर्ण-योजना भी अपने आप में वांछित है।

कुन्तक कविता के विवेचन का प्रथम अवयव वर्ण को मानते हैं। उन्होंने वर्ण-विन्यास-वक्रता को ही वक्रोक्ति का प्रथम भेद माना है। वर्ण का अर्थ उन्होंने व्यंजन से लिया है। उनकी वर्ण-विन्यासवक्रता वस्तुतः व्यंजन-चारुता है। इस व्यंजन चारुता का दूसरा नाम 'अनुप्रास' है। यह कुन्तक ने भी स्वीकार किया है—'एतदेववर्ण-विन्यास वक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम।'[1] आचार्यों ने अनुप्रास को पांच भेदों में विभक्त किया है—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, तथा लाटानुप्रास। आचार्यों ने इस अलकार पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य विचार किया है। भामह ने सरूप वर्ण-विन्यास को अनुप्रास कहा है।[2] भामह ने इसके ग्राम्यानुप्रास और लाटानुप्रास दो भेद किए हैं। उद्भट ने अनुप्रास का लक्षण इस प्रकार दिया है :

> सरूप व्यजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु
> पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।[3]

---

1. हि० व० जी० : पृ० 66
2. काव्यालंकार : 2.5
3. काव्यालंकार सारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या : डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० 256

अर्थात् ग्राम्या, परुषा एवं उपनागरिका—इन तीनों वृत्तियों में यथासंभव रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्ण-विन्यास में जो समान वर्णों का पृथक्-पृथक् उपनिबन्धन होता है, उस अनुप्रास की छवि की कवि विवक्षा करता है।

दण्डी के अनुसार वर्ण व्यंजक वर्णों की आवृत्ति समान श्रुति को अनुप्रास कहते हैं। यह पाद तथा पद में होता है।[1] वामन के अनुसार एकार्थक और अनेकार्थक और अनियत स्थान वाले पद तथा उसी प्रकार के अनियत स्थान वाले अक्षर शेष की आवृत्ति अनुप्रास है—शेषः सक्ष्पोऽनुप्रासः।[2] रुद्रट के अनुसार एक व्यंजन की बहुत बार आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं। ऐसे आवृत्त व्यंजन के बीच एक दो अथवा तीन अन्य व्यंजनों का व्यवधान रहना चाहिए तथा स्वर के व्यवधान के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।[3] रुद्रट ने इसके पांच भेद किए हैं—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा। इनकी व्यंजनयोजना, वृत्तियों के जैसे नाम हैं, वैसी ही होती हैं।

भोज की मान्यता है कि वर्णों की अनतिदूर आवृत्ति से अनुप्रास की सृष्टि होती है।[4] मम्मट ने वर्णसाम्य को अनुप्रास मानते हुए इसके दो भेद किए हैं—छेकगत और वृत्तिगत। वृत्तिगत के, उद्भट के अनुसार ही तीन भेद किए हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला।[5] रुय्यक ने मौनरुक्त्य को अर्थ पौनरुक्त्य और शब्द-पौनरुक्त्य, दो प्रकार का माना है।[5] हेमचन्द भी व्यंजन की आवृत्ति को ही अनुप्रास मानते हैं।।

इस प्रकार वर्णों की अनतिदूर आवृत्ति ही अनुप्रास है। संस्कृत के आचार्यों में भेद-प्रभेदों को लेकर मतभेद रहा है। किसी ने भी यह लक्ष्य नहीं किया कि छेक आदि वर्गीकरण निष्प्रयोजन है। कुन्तक की प्रतिभा ने इन सारे भेदा-प्रभेदों को अपनी वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के इस बीहड़ को कुन्तक ने अपनी स्वच्छ प्रतिभा द्वारा सुरम्यता प्रदान की।

---

1. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च। —हिन्दी काव्यादर्श रामचंद्र मिश्र—1.55
2. काव्यालंकार सूत्र : 1.1.8
3. एकद्वित्रान्तरित व्यंजनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
   आवर्त्यते निरन्तरमथवायदसावनुप्रासः ।। काव्यालंकार, 2.18
4. आवृत्तिर्यातु वर्णनानां नातिदूरान्तरस्थिता। सरस्वतीकंठाभरण 2.70
5. हिन्दी काव्य प्रकाश (चौखम्बा) :डा० सत्यव्रत सिंह 9.78
6. अलंकार सर्वस्व (कु० एस०-एस० जानकी), पृ० 24-26
7. व्यंजनस्यावृत्तिरनुप्रास : काव्यानुशासन (काव्यमाला), पृ० 247

कविकर्म का प्रथम सोपान वर्ण-विन्यास वक्रता ही है। वर्ण-विन्यास में सिद्ध कवि सहज ही सौंदर्य और संगीत की सृष्टि करने में सक्षम होता है। वर्णों के ललित और परुष स्वभाव का सीधा संबंध रसास्वादन से होता है। वर्णों का लालित्य और परुषता का स्वभाव चित की द्रुति और दीप्ति में सहायक होता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहराई जाती है, तो श्रोता आवेग की वक्रता से सहज ही प्रभावित होता है।

वर्ण-विन्यास का प्रथम प्रकार

वर्ण-विन्यास कई प्रकार: का हो सकता है। कुन्तक ने ऐसे सभी प्रकारों पर विचार किया है। उनमें पहला वह है जब कुछ थोड़े व्यवधान के साथ एक या दो या अनेक व्यंजनों का सन्निवेश सौंदर्य उत्पन्न करता है।[4] स्वल्पान्तर से आवृत्ति के संदर्भ में कुन्तक का कहना है कि यह (अर्थात् स्वल्पान्तर) ही संगीत की लय को उत्पन्न करता है तथा वर्ण योजना में विशेष प्रकार के सौंदर्य को जन्म देता है। किन्तु इस प्रकारकी आवृत्ति का बहुत वार होना आवश्यक नहीं है—एक दो बार भी एक से वर्णों की आवृत्ति वर्ण-विन्यासवक्रता दे सकती है।[1]

एक वर्ण की आवृत्ति

सर्वप्रथम एक वर्ण की आवृत्ति को लेते हैं। इस दृष्टि से यदि तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य का अध्ययन करें तो कहना होगा कि यह पर्याप्त समृद्ध है---वर्ण-विन्यास का इस रूप का वैभव उनके काव्य में प्रायः देखा जा सकता है। कतिपय उद्धरण इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त होंगे, देखिए:

1. तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रै ताप।
   सान्ति होई जब सांति पद पावै राम.प्रताप ।। (वै० 6)
2. परम सांति सुख रहै समाई। (वै० 46)
3. जद्यपि शीतल सब सुखद। (वै० 56)
4. सुजन सुचित सुचिलेहु। (वै 62)
5. सखि सखा सब सुबल सुदामा। (कृ० 12.1)
6. ललन ललित लखि। (कृ० 15.1)
7. दमकति दुसह दसहुं दिस दामिनि, भयो तमगगन गंभीर। (कृ०18.2)
8. कूदत कपि कुरंग। (कृ 19.3)
9. सुमन सहित सुरसैया। (कृ० 19.4)

---

1. एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः।
   स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ।। हि० व० जी० : 2.1

10, सत्यकृत, सत्यरत, सत्यव्रत, सर्वदा। (वि० 53.5)
11. नित्यनिर्मम, नित्यमुक्त, निर्मान। (वि० 53.6)
12. बिस्व, बिख्यात, बिस्वेस, विस्वायतन, बिस्वमरजाद, व्यालरिगामी। (वि० 54.1)
13. तपन तीच्छन तरुन तीव्र तापघन तपरूप तनभूप, तम-परत। (वि० 55.4)
14. मान-मद-मदन-मत्सर-मनोरथ-मथन-मोह-अभोधि-मंदर मनस्वी। (वि० 55.4)
15. दीन दयालु, दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुं ताप तई है। (वि० 139.1)
16. सेवक सजग भए समय साधन सचिव सुजान। (गी० 1.5.4)
17. लटकन लसत ललाट लटूरी। (गी० 1.31.4)
18. मधु माधव मूरति दोऊ। (गी० 1.51.3)
19. मुनि, मुनि तिय, मुनिसिसु बिलोकि। (1.56.1)
20. दमकैं दतियां दुति दामिनि ज्यों। (कृ० 1.3)

यहां उद्धरण 1 में त्, 2 में स्, 3 में स्, 4 में स्, 5 में स्, 6 में ल्, 7 में द् 8 में क्, 9 में स्, 10 में स्, 11 में न्, 12 में ब्, 13 में त्, 14 में म्, 15 में द्, 16 में स्, 17 में ल्, 18 में ल्, 19 में म्, 20 में द् वर्ण की आवृत्ति है। इन आवृत्तियों ने अपने-अपने स्थानों पर जिस सहज संगीत की सृष्टि की है वह स्वतः स्पष्ट है।

उपर्युक्त सभी उद्धरण शब्द के प्रारंभ में एक वर्ण की आवृत्ति के हैं शब्दान्त में एक वर्ण की आवृत्ति भी उनकी रचनाओं में परिमाण-बहुल हैं। देखिए:

1. अकिंचन, इंद्रीदमन, रमनराम इकतार। (वै० 29)
2. दुरह दांवरी छोरि थोरी खोरी कहा कीन्हौं। (कृ० 15)
3. महरि तिहारे पायं परौं, अपनो व्रज लीजै। (कृ० 2.3)
4. समर धीर महावीर। (कृ० 60.1)
5. ठुमुक-ठुमुक पग धरनि, नटनि, लरखटनि सुहाई। भजनि, मिलनि, रूठनि तूठनि, किलकनि, अवलोकनि, बोलनि. बरनि न जाई॥ (गी० 1.30.3)
6. इंदिरानंद-मंदिर संवारे। (गी० 137.4)
7. खेलत चलत करत मग कौतुक। (गी० ..54.3)
8: सुनत राजा की रीति, उपजी प्रतीति प्रीति। (गी० 1.11.4)
9. समा नृप गुर नर-नारि पुर, नभ सुर। (गी० 1.88.5)
10. हय हिहिनात भागे जात घहरात गज। (क० 5.15)

11. नाम ले चिलात, बिललात, अकुलात अति। (क० 5.15)
12. बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर, खोरि खोरि धाइ आइ बांधत लंगूर हैं। (क० 5.3)
13. हाट बाट कोट-ओट (क० 5.14)
14. समय पुराने पात परत डरत बात, पालत ललात, रति भार को बिहारु सो। (क० 5.11)

यहां 1 में न्, 2 में र्, 3 में र्, 4 में र्, 5 में न्, 6 में र्, 7 में त्, 8 में त्, 9 में र्, 10 में त्, 11 में त्, 12 में र्, 13 में ट्, 14 में त् वर्ण की आवृत्ति है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक आवृत्ति अपने-अपने स्थान पर लपेट भरे चटुल संगीत की सृष्टि कर रही है।

दो वर्णों की आवृत्ति

अब दो वर्णों की आवृत्ति को लेते हैं। इस प्रकार की आवृत्तियों के उदाहरण तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में एक वर्ण की आवृत्तियों के समान ही प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। उदाहरण के लिए देखिए:

1. सुख दायक ब्रज नायक (कृ० 6.4)
2. कंचन कांचहि (वै० 27)
3. कंचन कांचे (वै० 31)
4. बाल गोपाल के लि क्ल कीरति (कृ० 4.5)
5. मैन मन मोए (कृ० 11.3)
6. बावरो रावरो नाह भवानी (वि० 5.1)
7. जलज नयन, गुन-अयन, मयन रिपु (वि० 9.2)
8. मनुज दनुज (वि० 9.3)
9. मन मानस मराल (वि० 9.5)
10. सरन हरन (वि० 10.1)
11. घर घर अवध बधावने मंगल साज समाज। (1.5.1)
12. सेवक सजग भए समय-साधन सचिव सुजान। (गी० 1.5.4)
13. बार बार बिधु वदन विलोकति। (गी० 1.7.1)
14. चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है (गी० 1.10.1)
15. करो हरि हर छोहु (गी० 1.11.4)
16. भानुकुल भानु को प्रताप भानु मानु सो। (क० 5.28)

इन उद्धरणों मे से 1 में य् क्, 2 में क् च्, 3 में क् च्, 4 में क् ल्, 5 में म् न्, 6 में व् र्, 7 में य् न्, 8 में न् ज्, 9 में म् न्, 10 में र् न्, 11 में घ् र्, 12 में स् ज्, 13 में ब् र्, 14 में र् च्, 15 में ह् र्, 16 में म् न् की आवृत्ति है। ये

सभी आवृत्तियां अपने-अपने स्थानों पर संगीत में विशेष गति का सन्निवेश कर रही हैं ।

दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति

दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति की दृष्टि से भी तुलसीदास का ब्रजभाषा काव्य कम समृद्ध नहीं है । देखिए:

1. कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े खात । (कृ० 2.2)
2. सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मागि । (वै० 8)
3. तुलसी सरले संत जन, ताहि परी पहिचानि
   धन्य धन्य माता पिता, ताहि परी पहिचानि । (वै० 36)
4. बिरले बिरले पाइये माया त्यागी संत (वै० 32)
5. रैनि को भूषन इंदु है, दिवस को भूषन भानु ।
   दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ग्यानु ।। (वै० 43)
6. सुमिरि सुमिरि बासर निसि घुनिए (कृ० 37.2)
7. महरि महर (कृ० 48.2)
8. नगर नागर (कृ० 50.2)
9. ताप तिमिर तरुण तरणि किरणमालिका (वि० 16.1)
10. चारु चंपक-बरन, बसन भूषन, धरन, दिव्यतर भव्य लावण्य सिंधो । (वि० 38.2)
11. लपट-झपट झहराने, हहराने बात, भहराने मट पर्‌यो प्रबल परावनो । (क० 5.8)
12. भानुकुल भानु को प्रताप भानु भानु सो (क० 5.28)
13. तात तात । तौंसियत झौंसियत, झारहीं (क० 5.15)
14. सकल सुआसिनी गुर जन पुरजन पाहुन लोग (गी० 1.5.5)
15. चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है (गी० 1.10.1)
16. पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावों (गी० 1.18.1)
17. बछरू, छवीलों छगन मगन मेरे, कहति मल्हाई मल्हाई । (गी० 1.19.5)
18. गवनिहैं गवहिं गवांइ गरब गृहनृय कुल बतहिल जाइकै । गी० 1.70.9.
19. कानन उजार्‌यो तौ उजारयो न बिगारयो कछु (क० 5.11)
20. समय पुराने पात परत डरत बात,
    पालत ललात रति भार को बिहारु सो (क० 5.1)

उद्धरण 1 में क् ल् द् ठ् ढ्, 2 में स् र् ल्, 3 में त् ल् स् र्, 3 में ध् न् य्, 4 में ब् र् ल्, 5 में म् ष् न्, 6 में स् म् र्, 7 में म् ह् र्, 8 में न् ग् र्, 9 में त् र् ण्, 10 में च् ब् न्, 11 में झ् प् ट् ह् र् न्, 12 में म् न् क्, 13 में त् स् झ् य्, 14 में र् ज् न्, 15 में च् र् क्, 16 में प् ल् न्, 17 में छ् ग् न्, 18 में ग् व् न्, 19 में न् ज् य् र्, 20 में प् र् ल् त् वर्णों की आवृत्ति है। कहना न होगा कि इन सभी आवृत्तियों ने यथास्थान संगीत को विशेष गरिमा प्रदान की है।

वर्ण विन्यास का द्वितीय प्रकार

कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता के द्वितीय प्रकार के भी तीन भेद किए हैं। इनमें पहला है—वर्गान्त से युक्त स्पर्शों की आवृत्ति। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त के ङ्कार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्त योगी कहे जायेंगे। इनकी पुनः पुनः आवृत्ति वर्ण-विन्यास वक्रता के इस रूप को जन्म देती है। जहां पर तकार लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चारित होकर जहां बार-बार निबद्ध हों वहां वर्ण-विन्यास वक्रता के इस प्रकार का दूसरा रूप कहा जाएगा, एवं जहां पर इन दोनों से भिन्न शेष व्यंजन संज्ञक वर्ण रेफ आदि से संयुक्त रूप में निबद्ध हों वहां पर तीसरा रूप है। इन सभी रूपों के लिए यह अनिवार्य है कि इनमें पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए।[1] इस संबंध में यह कह देना असंगत न होगा कि वर्ण-विन्यास वक्रता के इस प्रकार के सभी रूपों में कुन्तक ने संस्कृत काव्य शास्त्र के अन्तर्गत विस्तृत रूप से विचारित गुणों, वृत्तियों एवं रीतियों के चिन्तन के वैज्ञानिक समाहार का ही प्रयास किया है। वे वर्ण-विन्यास के इस प्रकार और उसके तीनों रूपों को वस्तु से निरपेक्ष नहीं बतलाते हैं। उनके मत में वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान विषय के अनुकूल होनी चाहिए। प्रस्तुतौचित्य शोभिनः।[2]

संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार के विचार का प्रारंभ उद्भट से ही हो जाता है। उद्भट ने उन्हें अनुप्रास जाति का माना है। इनमें वर्ण व्यवहार की प्रधानता होती है, इसमें पद-संघटना का विचार नहीं होता। ग्राम्या, परुषा एवं उपनागरिका—इन तीनों वृत्तियों में यथा संभव रस की अभिव्यक्ति के अनुरूप

---

1. वर्गान्त योगिनः स्पर्शाद्विरुक्तास्तलनादयः।
   शिष्टाश्चरादि संयुक्ताः प्रस्तुतौचित्य शोभिनः॥

   हि० व० जी० 2.2

2. हि० व० जी० : 2.2 की कारिका वृत्ति

वर्ण के प्रयोग में समान वर्णों का ही उपनिबन्धन होता है।[1] इसके अनुसार परुषा में श स रेफ संयोग और टवर्ग ह्ग, ह, एवं घ्र जैसे वर्णों की अनेक बार आवृत्ति रहती है। उपनागरिका में समान रूप वाले वर्णों का संयोग तथा वर्गीय अन्त्याक्षर से युक्त स्पर्श वर्ण का प्रयोग होता है। ग्राम्या में उक्त दोनों वृत्तियों से अवशिष्ट 'ल' आदि वर्णों का उपयोग होता है।[2]

रुद्रट ने काव्यालंकार में वृत्ति को समास का आश्रित माना है। इन्होंने अनुप्रास के पांच भेद किए हैं—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता एवं भद्रा। जिस प्रकार उद्भट ने ग्राम्या के सम्बन्ध में शेष वृत्तियों में उपयुक्त वर्णों से बचे हुए वर्णों के उपयोग की बात कही है, उसी प्रकार रुद्रट ने भी भद्रा के लिए कहा है—परिशिष्टा भद्राया।[3]

भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' 12 में प्रकार की अनुप्रास जातियों से भिन्न वृत्तियों का वर्णन किया है। ये वृत्तियां हैं—गम्भीरा, औजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लाथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता, अमिता। ये वृतियां वर्णो की आवृत्ति पर निर्भर न होकर, स्पर्शादि वर्णो के परस्पर संबंध और असंबन्ध से युक्त रचना-संघटन पर निर्भर करती हैं।

1. गंभीरा वृति में प्रायः तवर्ग और पवर्ग के तृतीय और चतुर्थ वर्णो में प और फ का संयोग होता है।
2. ओजस्विनी वृत्ति में प्रायः मूर्धन्य वर्णों में प्रथम चतुर्थ और पंचम वर्णो की दो तीन वार आवृत्ति होती है।
3. प्रोढ़ा में प्रायः मूर्घन्य के अन्त्यवर्णो के साथ संयोग में पूर्व वर्ण दीर्घ होते हैं।
4. मधुरा स्पर्श वर्णों के सानुस्वार प्रयोग से उत्पन्न होती है।

---

1. सरूप व्यंजन न्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥
—काव्यालंकार सारसग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या : राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० 156
2. शषाभ्यां रेफ संयोगिष्ट वर्गेण चयोजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्ल ह्व ह्य द्यैश्च संयुता ॥
सरूप संयोग युता मूर्ध्नि वर्गान्त योगिभिः।
स्पर्शैयुतां च मन्यते उपनागरिका बुधाः ॥
शेष वर्णे यथा योगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृति प्रशंसन्ति काव्येष्वाहत बुद्धयः ॥ —वही : पृ० 257-59
3. काव्यालकार : 2.3, 2.9

5. निष्ठुरा में संयुक्त वर्णों का बार-बार प्रयोग होता है।
6. व्यंजनों के असंयुक्त प्रयोग से श्लथा वृत्ति बनती है।
7. कठोरा प्रायः कण्ठ्य और रेफादि के संयोग से उत्पन्न होती है।
8. मिश्र कठोर वर्णो में ओष्ठय, कण्ठय और मूर्धन्य वर्णो के मिश्रण से बनती है।
9. परुषा ऊष्म और अन्तस्थ के संयोग सेनिर्मित होती है।
10. ललिता प्रायः दन्त्य ओष्ठय, तालव्य वर्णों के साथ अन्तस्थ वर्णों के संयोग से बनती है।
11. अमिता वृत्ति अमित रूप से ककार, लकार. वकार आदि के संघटन से निष्पन्न होती है।[1]

मम्मट वृत्ति के वे ही तीन भेद किये हैं, जिनकी चर्चा उद्‌भट ने की है—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। उपनागरिका में माधुर्य व्यंजक, परुषा में ओज व्यंजक, और कोमला में शेष वर्ण होते हैं। मम्मट ने गुणों, वृत्तियों तथा रीतियों का समन्वय करते हुए लिखा है कि ये तीनों वृत्तियां वामन आदि के मतानुसार क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी, और पाँचाली नामक रीतियां मानी जाती है।[2]

विश्वनाथ में आकर यह चिन्तन पूर्णतया स्वच्छ रूप प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार माधुर्यगुण में ट् ठ् ड् ढ् जैसे कर्ण कटु वर्णो को छोड़कर 'क्' से 'म्' पर्यन्त के वर्ण अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुति मधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं। उसी प्रकार असमस्त रचना, अल्प समासवती रचना और मधुर पद योजना से भी माधुर्य की सृष्टि होती है।[3] ओज में कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क् च् ट् त् प्) और तृतीय (ग् ज् ड् द् ब्) वर्णों का उनके अपने-अपने अन्त्य वर्णों, र् व् छ् ठ् थ् फ् और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्य वर्णों से संयोग (घ्, झ्, ढ्,ध्, घ्,) नीचे ऊपर अथवा दोनों और से किसी वर्ण के साथ संयुक्त

---

1. सरस्वती कण्ठाभरण (काव्यमाला), पृ० 239-42
2. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरूपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैसुपरुषा कोमला परैः॥
केषा चदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतियो मताः॥
—काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर), 9.80.81
3. चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते
मूर्ध्नि: वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्ट ठ ड ढ़ान्विना॥
रणौ लघु च तद्वयक्तो वर्णाः कारणतां मताः।
आवृत्तिरपवृत्तिर्वामधुरा रचना तथा॥
—हिन्दीसाहित्यदर्पण (चौखम्बा)—डा० सत्यव्रत सिंह, 8.24

रेफ, संयुक्त अथवा असंयुक्त ट्, ठ्, ड्,, और द, तालव्य शकार मूर्धन्य षकार के साथ संयोग होता है। इसमें दोर्घ समासवती रचना और औद्धत्यपूर्ण पदयोजना का समावेश होता है।[1] प्रसाद के अभिव्यंजन साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ उनके श्रवण मात्र से ही झलक उठते हैं।[2]

पूर्वोक्त आचार्यों की विचारधारा का कुन्तक ने समाहार करते हुए कहा है कि स्पर्श वर्ण अपने अन्त्य वर्णों से संयुक्त, त् ल् न् द्विरुक्त प्रस्तुत औचित्य को देखते हुए, रेफ से संयुक्त शेष वर्ण इस प्रकार की वक्रता को प्रकट करते हैं। प्रस्तुत के औचित्य की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि कहीं-कहीं कठोर रसों (वीर, वीभत्स, रौद्र, भयानक) के सदर्भ में रस के औचित्य से शोभित होने के कारण उसी प्रकार के वर्णों के प्रयोग की अनुमति दी गई है।[3]

तुलसी के काव्य में इस प्रकार की वर्णवक्रता के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं।

स्पर्श वर्ण का वर्गान्त से योग

यह योग अपने ही वर्ग से हो सकता है क्योंकि हिन्दी संस्कृत उच्चारण शास्त्र की दृष्टि से एक वर्ण के वर्णों का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। जैसे क वर्ग का कण्ठ से इसलिए 'क्' अथवा इसी वर्ग के अन्य किसी वर्ण का सयोग ङ् से ही हो सकता है। यही बात अन्य वर्गों के संबन्ध में भी सत्य है। उदाहरण:

1. अति अनन्यगति इंद्रीजीता। जाको हरि बिनु क्तहु न जीता ।। (वै० 14)
2. मनसा वाचा कर्मन , तुसली बदत ताहि। (वै 26)
3. कंचन कांचहि सम गनै, कामिनि काष्ठ पषान।
   तलसी ऐसे संत जन, पृथ्वी ब्रह्म समान। (वै 27)
4. अकिंचन इंद्रीदमन, रमन राम इक तार।
   तुलसी ऐसे सत जन, बिरले या संसार ।। (वै० 29)
5. बिरले-बिरले पाइय, माया त्यागी संत।
   तुलसी कामी कुटिल कलि केकी केक अनंत ।। (वै० 32)
6. मेरे कहां थाकु गोरस को, नव निधि मन्दिर या मंहि। (कृ० 5.2)
7. हो भले नंग-फग परे गढ़ीबे (कृ० 11.८)

---

1. वर्गस्याद्य तृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौतदन्तिमौ।
   उपर्यधो द्वयोर्वा सरे फौ ट ठ ड ढैःसह ।।
   शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गता।
   तथा समासो बहुलो भटनोद्धत्य शालिनी ।।—वही-8.5.7
2. शब्दास्तद्वयंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ।।—हिन्दी साहित्यदर्पण, 8.8
3. हि० व० जी०, पृ० 174

8. मोरचंदा चारु सिर, मंजु गुंजा पुंज धरें,
बनि बनधातु तन ओढ़ें पीत पट हैं।
मुरली तान तरंग, मौहै कुरंग विहंग,
जौहें मूरति त्रिभग निपट निकट है। (कृ 20.2)

9. नंद नंदनमुख की सुन्दरता कहि न सकत श्रति सेष उमाबर।
(कृ० 21.4)

10. लियो जो सब सुख हरि अंग संग को। (कृ० 25.2)
लोभ अति मत्त-नागेन्द्र पंचाननं भक्तिहितहरन-संसार भारं।। (वि० 46.4)

11. प्रबल भुजदण्ड परचड कोदंड-घर (वि० 50.1)

12. सुभग श्रीवत्स केयूर कंचन हार किंकिनी रहनि करितर रसालं।

13. आजानु भुजदंड कौदंड मंडित वाम बाहु इच्छिन पानिबानमेकं। (वि० 51.7)

14. प्रगटकृत अमृत गो इन्दिरा इन्दु वृंदारकावृन्द आनन्दकारी। (वि० 52.3)

15. लै लै ढोव प्रजा प्रभुदित चले भांति-भांति मरि मार। (गी० 1.2.11)

16. घंटा घंटि पखाउज आउज झांझ, वेनु ड़फतार। (गी० 1।2।13)

17. पगनूपुर औ पहुंचि कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनीत कलेवर पीत झंगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये।
अरविंदु सो आनन्द रूपमरंद अनन्दित लोचन भृंग पिये।
मन मों न बस्यौ अस वालक जौ तुलसी जग फल कौन जिये।(क० 1.6)

18. तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं। (क० 1.2)

19. पदकंजनि मंजु बनी पनहीं, घनुहीं सर पंकज पानि लिए (क० 1.6)

20. छूटे बार, बसन उधारे धूम धुंध अंध। (क० 5.15)

उद्धरण 1. में दकार का, 2. में दकार, 3. में चकार 4. में चकार: दकार, 5. में तकार, 6 में दकार, 7 में गकार, 8 में दकार, जकार, गकार, 9 में दकार 10 में गकार. 11 में डकार, 12 में ककार, 13 में डकार, 14 में दकार 15 में तकार 16 में टकार 17 में जकार, झकार दकार, 18 में जकार, 19 में जकार, ककार, 20 में धकार, आदि स्पर्श वर्णों का अपने अपने वर्गान्त से संयोग है और अधिकांश उद्धरणों में उनकी आवृत्ति भी प्राप्य है। अधिकांश उद्धरणों में वर्गान्त के स्थान पर केवल अनुस्वार का ही प्रयोग मिलाता है, पर क्योंकि उच्चारण शास्त्र की दृष्टि से वह अनुस्वार वर्गान्त का ही द्योतक है, अतः उन्हें उपरोक्त सूची में स्थान दिया गया है।

1. असुर, सुर, नाग, नर, जच्छ गंधर्व, खग, रचनिचर सिद्धयेचापि अनन्ते
संत-संसर्ग त्रैवर्ग-पर परमपद प्राप्य, निष्प्राप्य गतित्वयि प्रसन्ने ।।
(वि० 57.2)
2. वासना-बल्लि खर् कटाकुल विपुल निबिड़ विठपाटवी कठिन भारी।
विषय सुख लालसा दंस-मसकादिखल झिल्लि रूपादि सब सर्प स्वामी ।।
(वि० 59.2.7)
3. गोपाल गोकुल बल्लवी प्रिय गोप गोसुत वल्लभं। (कृ 23.1)
4. दास तुलसी खेदखिन्न आपन्न इह, सोक संपन्न अतिसय समीतं।
(वि० 56.9)

उद्धरण 1. में त् द्वित्व की दो बार, 2. में त् द्वित्व की दो बार, 3. में ल् द्वित्व की दो बार 4. में ल् द्वित्व की दो बार, 5. में न् द्वित्व की तीन बार, आवृत्ति द्रष्टव्य है।

त् ल् न् के द्वित्य के एकल प्रयोग

तुलसीदास में त ल न आदि के एकल द्वित्व प्रयोग अनेक मिलते हैं—वैराग्य संदीपनी—अन्न (39), वृत्ति (48)

विनयपत्रिका—प्रसन्न (9.1), विघुल्लता (28.1), मदमत्त (28.2), वल्लभ (37.4), चित्त (39.5), दीनार्त्त (40.4), गर्त्त (43.5), दत्तमेवाखिल (46.2), मिल्ल (46.9), अविच्छिन्न (49.3) (करिमत 49.5) पन्नागारी (49.6), मत्तम मधुकर (51-5), मृदुबल्लिवत (51.6), सन्निपातं (53.9), मृतिका (54.4), कर्ता (54.7), भर्त्ता (55.6), सुप्रवृत्ति (58.2), करिमत (58.1), करिमत्त (58.1) कर्त्ता (59.5), भर्त्ता (59.5) सन्निपात (81.4), वल्लभ (152.11),

गीतावली—पल्लव (1.21.3)

कवितावली—पल्लव (1.5)

इस प्रकार के प्रयोग तुलसीदास के ब्रजभाषाकाव्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनसे काव्य-सौंदर्य की अभिवृद्धि तथा एक विशिष्ट संगीत की उत्पत्ति होती है।

च्छ की आवृति

कुन्तक ने इस सम्बन्ध में जो उदाहरण दिए हैं, उनमें त् ल् न् के द्वित्व अतिरिक्त 'च्छ' सयोग का भी संकेत किया है। जैसे—

प्रथममरुच्छायः इस श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ पाद।[1] चतुर्थ पाद इस श्लोक का इस प्रकार है:

1. हि० व० जी० 2.6

सरस विसिनीकन्दच्छेदच्छविर्भृगला छनः ।।

इस चरण में कहीं भी त् ल् न् के द्वित्व का प्रयोग नहीं हुआ है। यहां च्छ के संयोग का दो बार प्रयोग हुआ है। इसी कारण इसको भी द्वितीयप्रकार के वक्रता भेद का उदाहरण कुन्तक ने बतलाया है। त ल नादय : आदि पद से च्छ के संयोग का भी ग्रहण किया जा सकता है।[2]

इस प्रकार के उदाहरण तुलसीदास के ब्रजभाषाकाव्य में अनेक स्थलों पर प्राप्य हैं—

1. साप बस-मुनि वधू-मुक्तकृत विप्रहित
जग्य रच्छन दच्छ पच्छकर्ता। (वि० 50.4)

2. सिंधु सुत-गर्व-गिरि ब्रज, गौरीस, भव, दच्छ-मख-अखिल विध्वंसकर्ता ।।
(वि० 49.7)

3. सुन्दर सुठि सुकुमार सुकोमल, काकपच्छ घर दोऊ। (गी० 1.99.4)

उपरोक्त सभी उद्धरणों में च्छ संयुक्त वर्णों का प्रयोग हुआ है कुछ उद्धरणों में आवृत्ति भी है।

क्ख् की आवृति

4. लक्खं में पक्खर तिक्खन तेज जे सूर समाज में गाज गने है।
(क० 6.39)

क्ख् की आवृत्ति उपरोक्त आधार पर ही वर्ण विन्यास का एक सुन्दर उदाहरण है।

त्थ् की आवृति

5. साहेव समर्त्थ दसरत्थ के दयालु देव। (क० 7.13)

6. राय दसरत्थ के समरत्थ तेरे नाम लिए। (क० 7.14)

इन उद्धरणों में त्थ् की आवृत्ति है।

द्ध की आवृत्ति

7. जातु बानोद्धत-क्रुद्ध कालाग्निहर-सिद्धसुर सज्जनानर्दसिंधो।
(वि० 27.2)

इस उद्धरण में द्ध की आवृत्ति है।

संयुक्ताक्षरों की आवृत्ति

कुन्तक ने प्र, ध्व, क्ष आदि के आवृत्त प्रयोग को भी इसी प्रकार की वर्ण-वक्रता के अन्तर्गत लिया है। तृतीय प्रकार (की वक्रताभेद) का उदाहरण इसी (प्रथम-

1. हि० व० जी० 2.6 की कारिका, पृ० 177

रुणच्छाय: आदिश्लोक) का तृतीय पाद (प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे) है।[1]

इस उदाहरण में प्र, ध्व, क्ष आदि संयुक्त वर्णों के प्रयोग के कारण ग्रंथकार ने इसी तृतीय प्रकार के वक्रता भेद का उदाहरण बतलाया है। संयुक्त वर्णों के एकल प्रयोगतथा आवृत्ति को कुन्तक की तलनादय: के अन्तर्गत ही स्थान दिया जायेगा। इस प्रकार के प्रयोग तुलसी के ब्रजभाषा काव्य की श्रीवृद्धि में सहायक हैं। संयुक्ताक्षरों की आवृति मनोहर छटा बिखेरती है:

1. प्रतीति प्रीति गति (कृ० 60.5)
2. लियो रूप दे ग्यान गांठरी भलों ठग्यो ठगु ओठीं (कृ० 41.3)
3. कम्बु कुन्देन्दु कपूरे विग्रह (वि० 10.1)
4. तज्ञ सरवज्ञ जज्ञस, अच्युत विभो, (वि० 10.7)
5. अखिल विग्रह उग्र रूप (वि० 10.7)
6. जुवतिन्ह बीथिन्ह बन्दिन्ह (गी० 1.3.4)
7. जंत्र मंत्र (गी० 1.5.4)
8. दमकति द्वै द्वै दंतुरियां रूरी (गी० 1.31.4)
9. द्वै द्वै दतुरिया लसैं (1.33.4)
10. रामचन्द्र मुखचन्द्र (गी० 1.48.2)

उद्धरण में 1. प्र, 2 में ग्य, 3 में न्द, 4, में ज्ञ, 5 में ग्र, 6 में न्ह, 7 में त्र 8 में द्व 9 में द्व, 10 में द्र संयुक्त वर्णों की आवृत्ति है।

कल्हार शब्द साहचर्येण ल्हाद शब्द प्रयोग

कल्हार शब्द की भांति लयात्मक ल्हाद जैसे शब्दप्रयोग की अनुमति भी कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता के अन्तर्गत दी है। इससे भी काव्यसौंदर्य में अभिवृद्धि होती है। तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में ऐसे प्रयोग प्राप्य हैं:

1. दीन्ही, दीन्हीं, (क० 51.3)
2. मल्हाइ मल्हाई (गी० 1.19.5)
3. झ्लाई मल्हावहीं (गी० 1.22.10)
4. सखिन्ह (गी० 1.22.10)
5. त्याए (गी० 1.69.3)

उपरोक्त सभी उदाहरणों में लय साहचर्य विद्यमान है।

---

1. तृतीय प्रकारोदाहरणमस्यैव तृतीय पद : यथा वा सौंदर्यधुर्यमस्मितम्।
—हिं० व० जी०-2.7, पृ० 177

शिष्टाश्च रादि संयुक्ता

शेष वर्णों य् र् ल् व् श् ष् स् ह का र् आदि के संयोग की आवृति के उदाहरण तुलसीदास में अनेक है:

1. खायो, कै खवायो, के बिगारयो, ढार्यो लरिकारी। (कृ० 16.2)
2. आपु, कंज मकरंद सुधा ह्रद ह्रदय रहत नित बौरे।
   हम सौं कहत विरह श्रम जैहै गगन कूप खनि खौरें ।। (कृ० 44.2)
3. राहु-रवि-सक-पवि-गर्व-खर्वीकरण (वि० 25.2)
4. गान-गुन-गर्व-गन्धर्व-लेता। (वि० 29.3)
5. जयति रन-अजिर गंघर्व-गन-गर्वहर (वि० 39.5)
6. डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व-पब्वे समुद्रसर। (क० 1.11)
7. कानन उजारयो तो उजारयो न बिगारयो कछ् ।। (क० 5.11)

इन उद्धरणों में शेष वर्णों के साथ रेफ के संयुक्त होने से वर्ण-विन्यास का ही चमत्कार उत्पन्न हुआ है। उद्धरण 1 में य् के साध र्, 2 में ह के साथ र् 3 में व् के साथ र् 4 मे व् के साथ र् 5 में व् के साथ र् 6 में व् के साथ र् 7 में में य् साथ र् का संयोग और दो या अधिक बार आवृति हुंई है।

शिष्टाश्च रादि संयुक्ता

शेष वर्णों य, र, ल, व, श, ष, स, ह का 'र' आदि के साथ संयोग। यथा,

1. साधु जानि हंसि ह्रदय लगाए, परम प्रीति महतारी। (कृ० 6.2)
2. कोमल बानी संत की, स्रवत अमृतमय आइ (वि 19)।
3. मांगत दही धरयो जो छीके। (कृ० 10.2)
4. ससि स्रवत सुधा सिगारू। (कृ० 14.2)
5. कहि न सकत श्रुति सेष उभावर। (कृ० 21.4)
6. दुखद भगव्रात उत्पातकर्ता। (वि० 59.5)
7. कूल सुभ-असुभ दुख तीव्र धारा (वि० 59.8)
8. मधुप-मुनिवृन्द कुर्वन्ति पानम्। (वि० 60.3)
9. पढ़िबो पर्‍यो न छठी, छमत रिगु जजुर अथर्व साम को। (वि० 155.1)
10. दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही तें। (वि० 198.1)

इस उद्धरणों में रेफ का शेष शब्दों के साथ संयोग मात्र है, आवृति नही। उद्धरण 1 में य् 2 में स्, 3 में य्, 4 में स् 5 में स्, 6 में व्, 7 में व् 8 में व्, 9 में य् 10 में ल् के साथ रेफ का संयोग काव्य को चारुत्व प्रदान करता है। तुलसीदास का ब्रजभाषा काव्य रेफ के शेष शब्दों के साथ संयोग के प्रयोग से चारुता को प्राप्त करके सहृदयाह्लादकारी बन पड़ा है।

वर्ण-विन्यास वक्रता का तीसरा प्रकार

अव्यवहित व्यंजन विन्यास

अब तक की वर्ण-वक्रता के अन्तर्गत थोड़े-थोड़े अन्तर से वर्णों की आवृत्ति का विधान किया गया है। वर्ण-विन्यास का तीसरा प्रकार वह है जहां कहीं-कही व्यवधान के न होने पर भी केवल स्वरों का वैषम्य होने से समान वर्णों की एक साथ रचना में भी मनोहरता आ जाती है।[1] स्वरों का व्यवधान कोई व्यवधान नही माना जाता। तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में इस प्रकार के प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्य हैं:

एक वर्ण का अव्यवधान

1. कहै कौन रसन मौन जानै कोइ कोई। (कृ० 1.3)
2. सीतल बानी संत की, ससिहू ते अनुमान। (वै० 21)
3. तुलसिदास प्रभु दख्योइ चाहति श्री उरललित ललासहि। (कृ० 51)
4. तुलसी कामी कुटिल कलि, केकी केक अनंत। (वै० 32)
5. जिन्ह के बिमल बिबेक, सेस महेस न कहि सकत। (वै० 34)
6. बिबिध पाप संभव जो तापा। मिटहिं दोष दुख दुसह कलापा। (वै० 46)
7. बरजत सैन नैन के कोए। (कृ० 11.3)
8. छांडो मेरे ललन ललित लरिकाई। (कृ० 13.1)
9. जयति पाकारिसुत-काक-करतूति-फलदानि, खनि गर्त्त गोपित बिराधा। (वि० 43.5)
10. लोकनायक-कोक सोक संकट समन। (वि० 44.2)
11. बिछुरे ससि-रवि मन-नैननि तें पावन दुख बहुतेरो। (वि० 87.2)
12. राम भलाई आपनी मल कियो न काको। (वि० 152.1)
13. लै लै डोव प्रजा प्रमुदित चले भांति-भांति भरि मारा (गी० 1.2.11)
14. संग सिसु सिष्य सुनत कौसल्या भीतर मनव बुलायो। (गी० 11.17.2)
15. सोइये लाल लाडिले रघुराई। (गी० 11.9.1)

उद्धरण 1 में क् का, 2 में स् का, 3 में ल् का, 4 में क् का, 5 में स् का, ब् का 6 में ब् का, 7 में न् का, 8 में ल् का 9 में क् का, 10 में क् का 11 में न् का, 12 में क् का 13 में ल् का, 14 में स् का, 15 में ल् का अव्यवहित प्रयोग हुआ

---

1. क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहर निबन्धना।
सा स्वराणाम् सारुप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम्॥
—हि० व० जी० 2.3

है। इन उद्धरणों में स्वरों का असारूणय भी है।[1] इस प्रयोग में वर्ण-सौंदर्य निखर उठा है। इन स्थलों पर तुलसी का ब्रजभाषा काव्य अनिर्वचनीय सौंदर्य सम्पन्न हुआ है। ये प्रयोग सहृदय को आनन्दित करने में पूर्णतः समर्थ हैं।

दो वर्णों का अव्यवधान

1. बार बार छन छन
   माता ले उछंग गोबिंद मुख बार बार निरखै।
   पुलक्ति तनु आनंदघन छन-छन मन हरषै॥ (कृ० 1.1)
2. कद कूद किलकि क्लिकि ठाढ़े ठाढ़े खात। (कृ० 2.2)
3. नंदलाल बाल जस संत सुर सरबस। (कृ० 16.4)
4. लै लै आई बावरी दांवरी घट घर तें। (कृ० 17.2)
5. आनद बधावनो मुदित गोप गोपीगत। (कृ० 17.4)
6. सिव सिव होइर प्रसन्न करू दाया (वि० 9.1)
7. गिरिजा मन-मानस मराल, कासीस मसान निवासी। (वि० 9.5)
8. यस्य गुन गन गनति विमल मति सारदा। (वि० 11.9)
9. काल कालं, क्लातीत मजरं, हर कठिन कलिकालकान-कृसांनुं। (वि० 12.4)
10. अब चित चेत चित्रकूटहि चलु (वि० 24.1)
11. अनुदिन उदय-उछाह, उमग, जग, घर-घर अवध कहानी। (गी० 1.4.14)
12. घर घर अवध बधावने मंगल-साज-समाज।
    सगुन सोहावने मुदित मन कर सब निज-निज काज।
    निज काज सजत संवरि पुर-नर-नारि रचना अनगनी। (गी० 1.5.1)
13. अजर अमर होहु, करो हरि-हर छोहु (गी० 1.11.4)
14. मूलमूल सुर-बीथि बेलि तम-तोम सुदल अधिकाई। (गी० 1.19.3)
15. तनु तिल तिल करि वारि राम पर लैहों रोग बलाइहौ। गी० 1.2.3
16. छोनी छोनी छाप छिति आये निनिराव के। (क० 1.2)
17. कहैं बारेबूढ़े बारि-बारि बारही। (क० 5.15)
18. लागि लागि लागि (क० 5.15)

इन सभी वर्णो में दो वर्णो का अव्यवधान है। उद्धरण 1 में ब् र्, छ् न्, 2

1. सा स्वराणां असारूप्यात्—हि० व० जी०, 2.3, पृ० 182

में क् द्, थ, ढ़ 3 में स् र् 4 में घ् र् 5 में ग् प्, 6 में स् व् 7 में म् न् 8 में ग् न्, 9 में क् ल् 10 में च् त् 11 में घ् र् 12 में घ् र्, न ज न् र् 13 में ह र् 14 में म् ल् त् म्, 15 में त् ल् 16 में छ् न् 17 में ब् र् 18 में ल् ग्, का एकाधिक बार अव्यवहित प्रयोग है। इस रम्य प्रयोग से तुलसी के ब्रजभाषा भाषा काव्य के सौंदर्य में एक अनुपम निखार के दर्शन होते हैं।

दो से अधिक वर्णों का अव्यवधान

1. सरल बरन भाषा सरल-सरल अर्थमय मानि। (वैं० 8)
2. बिरले-बिरले पाइए, माया त्यागी संत। (वैं० 32)
3. भया सोक भय कोक कोर नद भ्रम भ्रमर नि सुखदाई। (कृ० 29.3)
4. नंद नंदन हो निपट करी सठई। (कृ० 36.1)
5. जयति बिहगेस-बलबुद्धि वेगाति-मद-मथन, मनवथ-मथन ऊध्वंरेता (वि० 29.3)
6. उथपे थपन थपे उथपन पन, (वि० 31.3)
7. जाको है सब भांति भरोसो कपि केसरी-किसोर को। (वि० 31.3)
8. बिनु कारन करुनावर रघुबर केहि केहि गति न दई। (गी० 1.59.2)
9. हुलसि हुलसि हिये तुलसिह गाये हैं। (गी० 1.74.4)
10. लषन कह्यो थिर होहु धर निधर, धरनि, धर, निधर आज। (गी० 1।90.4)

इन उद्धरणों में दो से अधिक वर्णों का अव्यधान से प्रयोग है। उद्धरण 1 में स् र् ल् 2 में ब् र् ल्, 3 में भ् र् म्, 4 में ज् द् न्, 5 में म् थ् न् 6 में थ्, प, न्, 7 में क् स् र् 8 में क र् न् 9. में ह् ल् स् 10 में घ् र् न् वर्णों का अव्यवहित आवृत्त प्रयोग है। इनमें उद्धरण 5, 6 और 23 पूर्णतः कुन्तक द्वारा दिये गये उदाहरण 'सरलतरलतालासिका' से साम्य रखते हैं। इनमें कई वर्णों का एक साथ भिन्नक्रम में अव्यवहित प्रयोग है। यह प्रयोग वर्ण-विन्यास को एक विशिष्ट चारुता प्रदान करता है। तुलसी का ब्रजभाषा काव्य में इस प्रकार के वर्ण-विन्यास से विशिष्ट चारुता आ गई है।

व्यवधान में भी आवृत्ति का सौंदर्य

कुन्तक किसी-किसी स्थिति में व्यवधान में भी आवृत्ति के सौंदर्य को स्वीकार करते हैं।[1]

---

1. 'अपि' शब्दात् क्वचिद् व्यवधानेऽपि'

—हि० व० जी० पृ० 181

1. सीतल बानी संत की ससिहू ते अनुमान (वै० 21)
2. नाहिम रास रसिक रस चाख्यो (कृ० 34.2)
3. प्रचुर भव-भंजनं, प्रनत जन रंजनं दास तुलसी सरन सानुकूल। (वि० 12.5)
4. अघट भटना सुघट-सुघट बिघटन बिकट भूमि पाताल जल गगन गंता। (वि० 25.8)
5. लोक लोकप कोक काकनद-सोकहर हंस हनुमान कल्यानकर्त्ता। (वि० 26.2)
6. लटकन ललित ललाट। (गी० 1.22.7)
7. मुनि मुनितिय मुनिसिसु बिलोकि (गी० 1.561)
8. हित अनहित रत-विरत बिलोकि बाल। (गी० 1.84.5)
9. सोचत सकोचत बानी घरी। (गी० 1.92)
10. घूम घुंध अंध (क० 5,15)

उद्धरण 1. में स् त् 2. में र् स् 3. में ज् न्, 4. में घ् ट् 5 मे ल् क् 6 में ल् ल्, आदि वर्णो की आवृत्ति व्यवधान में हुई है। इस प्रकार का वर्ण-विन्यास तुलसी के ब्रजभाषा काव्य को सौंदर्य एवं चारुत्व प्रदान करने में पूर्णतः समर्थ है।

वर्ण-विन्यास का चतुर्थ प्रकार

पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्तन

जहां रस-समाहित कवि एक सुकुमार वर्ण की आवृत्ति को छोड़कर दूसरे नये-नये सुकुमार वणों की आवृत्ति करता चलता है. वहां चौथे प्रकार की वर्ण-विन्यास वक्रता होती है। यह वर्ण-विन्यास अत्यन्त आग्रह पूर्वक विरचित न हो और नहीं असुन्दर वर्णों से भूषित हो। इस प्रकार के वर्णों के प्रयोग से सौंदर्य-सातत्य बना रहता है। इस प्रकार को वर्ण विन्यास वक्रता के आधार पर ही काव्य की उपनागरिका, परुषा, और कोमला वृत्तियां की कल्पना की गई है।

तुलसीदास में इस प्रकार के वर्ण विन्यास के अनेकशः उदाहरण प्राप्य हैं:

1. देव

दनुज सूदन, दयासिंधु, दंभापहन, दहन दुदपि, दुष्पापहर्त्ता।
दुष्टतादमन, दभभवनदु : खौघर, दुर्गदुवासना, नासकर्ता ॥
भूरि भूषन भानुमन्त भवभंजनामयद, भुवनेस भारी।
मावनातीत भववंद्य भवभक्तहित, भूमिउद्धरन, भूघस घारी ॥
वरद वनदाम वासीम विस्वातमा, विरज, वैकुण्ठ मन्दिर बिहारी।
व्यापक व्योम, बंदारु-वाम्न विभो, ब्रह्मविद ब्रह्म चिताय हारी ॥

सहज सुन्दर, सुमुख, सुमन, सुभ, सर्वदा, सुद्ध, सर्वग्यस्वच्छन्द चारी।
सर्वकृत सर्वभृत सर्वजित, सत्य संकल्प कल्यान्त कारी ॥4॥
नित्य निर्मोह निर्गुन निरंजन, निजानन्द, निर्वान, निर्वानदाता।
निर्भरानन्द, निस्कंप, निस्सीम, निर्मुक्त निरूपाधि, निर्मम
विधाता ॥5॥[1]
महामंगल भूल महिमायतन, मुग्ध मधु मथन, मानद अमानी।
मदनमर्दन, मदातीत मायारहित, मंजु मानाथ, पारी ॥6॥
कमल लोचन कला कोस कोदण्डधर कोसलाधीस, कल्यानरासी।
जातुधान प्रचुर मत्तकरि केसरी भक्त मन पुन्य आरन्यवासी ॥7॥
अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार आनद सिंघो।
अचल अनिकेत अविरल अनामा अनारंभ अंमोद नाद हन बंधो ॥8॥
दास तुलसी खेवखिन्न आपन्न इह सोक संपन्न अतिसय समीतं।
प्रनत पालक राम, परम करुना धाम पाहि मार्मुविमात दुर्विनीतं ॥
वि० 56.1.9

सुकुमार मार्ग से प्रभावित तुलसी की ये पंक्तियां वर्ण-विन्यास की विलक्षण शोभा—पूर्वावृत्तपरि त्याग एवं नूतनावर्तन पूर्णतया महिमा न्वत हैं। पहले पद में द्, दूसरे में म्, तीसरे में व्, चौथे में स्, पांचल म न्, छठे में म्, सातवें में 'क्' आठवें में अ नवें संयुक्ताक्षर 'न्न,' की आवृत्ति की अनवरत' अप्रतिहत और क्रमवद्ध श्रृंखला है जो पाठक को संगीताभिभूत करने में पूर्णतया सक्षम है। वर्ण-विन्यास का ऐसा सुंदर सुकुमार चमत्कार प्रशस्य है।

2. सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन उदधि अपारि।
देख्यों सुन्यो न कबहुं काहु कहुं मीन बियोगी बारि ॥
कहियत काकु कूबरीहुं को सो कुबान बस नारि।
बिष तें विषम विनय अनहित की सुघा सनेही गारि ॥
मन फेरियत कुतक कोटि करि कुबत भरोसे भारि।
तुलसी जग दूजा न दखियत कान्ह कुंवर अनुहारि ॥ कृ० 27.2.4

पहले म्, फिर क्, ब्, क् द् आदि वर्णा की एक के बाद एक आवृत्ति वर्ण-विन्यास की सुष्ठु विलक्षणता हैं। एक वर्ण की तान के बाद दूसरी तान वर्ण-मधुर है।

3. ललन लोने लेरुआ, बलि भैया।

---

1. नाति निर्बन्धविहिता नाप्यपेशल भूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥
—हि० व० जी० 2·4

सुख सोइये नींद बेरिया भई, चारुचरित चार्यो भैया।
कहित मल्हाइ लाइ डर छिन-छिन लगन छबीले छोटे भैया।
मोदकंद कुल कुमुद-चंद्र मेरे रामचन्द्र रघुरैया।
रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया।
तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम धनी भैया ।।गी-1.20

इस पद में ल्, स्, च् छ्, क्, स्, प्, घ् आदि माधुर्य व्यंजक वर्णो का प्रयोग एक के बाद एक किया गया है। यह वर्ण-विन्यास अप्रतिहत सौंदर्य की सृष्टि करता है। तुलसी का व्रजभाषा काव्य वर्ण-विन्यास के इस सुष्ठ प्रयोग से अनुपम आभा से दीप्त हो उठा है।

वर्ण-विन्यास : पंचम प्रकार

यमक रूप वर्ण-विन्यास वक्रता—वर्ण-विन्यास का पंचम प्रकार वह है जिनके आदि या मध्य या अन्य किसी नियत स्थान पर एक या दो या अनेक सदृश श्रुति वाले वर्णों के व्यवहित या अव्यवहित उपनिबध में दिखाई दिया करता है, जिनके अर्थ भिन्न हुआ करता है और जो श्रुतिरंजक होने के साथ-साथ मनोरजक तथा वर्ण्य-विषय के औचित्य से पूर्ण रहा करते हैं।[1] अवश्य ही यमक है। कुन्तक यमक को वर्ण-विन्यास वक्रता का ही एक प्रकार मानते हैं। कुन्तक यमक की विलष्टता का भी विरोध करते हैं। श्रुति पेशलता और औचित्य भी इसके लिए आवश्यक है।

तुलसी में यमक प्रधान वर्ण-विन्यास वक्रता के भी उदाहरण प्राप्य हैं:

1. जोग जोग ग्वालिनी वियोगिनि जान सिरोमनि जानी। (कृ० 43.3)
2. जयति गाधेय-गौतम-जनक-सुख-जनक, बिस्व संकर कुटिल कोटि हन्ता। (वि० 38.3)
3. उठे राम रघुकुल कुल केहरि, गुर अनुसासन पाए। (गी० 1.91.3)
4. मूल-मूल सुर बीथि बेलि तम-तोम सुदल अधिकाई। (गी० 1.19.3)
5. कपि सों कहति सुभाय, अंब के अंबक भरे हैं। (गी० 6.13.3)

(सार्थक वर्णसमूह की आवृत्ति)

6. काढ़ि कृपान कृपा न कहूं। (क० 7.128
7. टूटत पिनाक कें मनाक बाम राम से,

---

1. समान वर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुति पेशलम्।
औचित्वयुक्तमाद्यादि नियतस्थान शोभियत् ।।
यमकं नाम कोऽप्यस्या : प्रकार : परिदृश्यते।
स तु शोभान्तरामावादिह नाति प्रतन्यते ।।

—हि० व० जी० 2.6.7

ते नाक बिनु भए भृगु नायकु पलक में। (क० 6.25)

8. नाक में पिनाक मिस बामता बिलोकि राम,
रोक्यो परलोक, लोक, भारी भ्रम मानि कै। (क० 6.26)

उपरोक्त उद्धरणों में यमक के (यमकाभास। सार्थक का यमक। निरर्थक शब्दों का यमक। सार्थक निरर्थक शब्दों का यमक)—सभी रूपों का प्रयोग द्रष्टव्य है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में इस प्रकार अनेक प्रयोगों का अनुसंधान संभव है। इन प्रयोगों से काव्य का सौंदर्य अनेकशः बढ़ गया है।

साथ में प्रवेश द्रष्टव्य हैं। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में इस तरह के सुष्ठु प्रयोग भावों की प्रेषणीयता में सहायक हुए हैं।

वर्ण-विन्यास की सीमाएं

वर्ण-विन्यास निर्बन्ध नहीं होता है। कुन्तक वर्ण विन्यास की सीमाओं से पूर्ण हैं। परिचित वर्ण विन्यास काव्य-सौंदर्य का एक साधन है, साध्य नहीं। जब कवि इसे साध्य मान लेता है, तब कुकवित्व का जन्म होता है।

1. कुन्तक काव्य वस्तु के औचित्य में ही व्यंजन के सौंदर्य की सार्थकता मानते है। वर्ण-विन्यास की सार्थकता इसी में ह कि वह भावानुरूप हो।[1]
2. वर्ण-विन्यास-वक्रता अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो और न असुन्दर वर्णों से भूषित हो।[2]
3. वर्ण-विन्यास में वैचित्रय होना चाहिए 'उसे पूर्व आवृत्ति वर्णों को छोड़कर नवीन के पुनरावर्तन से मनहोर बनाना चाहिए।[3]
4. यमकादि की वर्ण-योजना के लिए विशेष रूप से और साधारण वर्ण-योजना के लिए सामान्य रूप से प्रसादगुण भी सर्वथा आवश्यक है।[4]
5. वर्ण-योजना श्रुतिपेशल होनी चाहिए।[5]

वर्ण-विन्यास जब कवि उपरोक्त सीमाओं को ध्यान में रखकर करता है, तब वह अपने काव्य में अपनी प्रतिभा के द्वारा अशेष सौंदर्य की सृष्टि करने में समर्थ होता है, नहीं तो उनकी कविता अबोधगम्य असंतुलित एवं दुष्ट हो जाती है।

वर्ण-विन्यास वक्रता का अन्य प्रकार : नाद सौंदर्य

नाद सौंदर्य कविता का सार्वकालिक और सार्वदशिक गुण है। अनुभूति और

---

1. हि० व० जी०—2.2
2. वही 2.3
3. वही 2.4
4. बही 2.6
5. वही 2.4

वर्ण-विन्यास के सामंजस्य का ही नाम नाद सौंदर्य है । वर्ण का अनुरणन एक श्रुति सौंदर्य की सृष्टि करता है । पोप के शब्दों में—"कविता में इतना ही इष्ट नहीं कि उसमें कर्कशता न होने के कारण वह कष्टदायी न हो, यह भी आवश्यक है कि उसके पदों में अर्थ की प्रतिध्वनि हो । जब पश्चिम पवन मन्द-मन्द प्रवाहित हो रहा हो, तो कोमल वर्ण चाहिए, शान्ति गति सरिता के वर्णन के लिए और भी शान्त की छन्द की आवश्यकता होती है । परन्तु जब भीषण टोर करती हुई तुमुल तरंगे तट से टकरा रही हों तब उत्कट उद्धत वर्णों को प्रबल प्रवाह की भांति ही गर्जना सी करनी चाहिए ।[1]

शैली में इसी बात को कहते हैं—ध्वनि और विचार का परस्पर संबंध भी है और उससे भी है जिसका वे निरूपण करते हैं और इन संबंधों के क्रम का बोध सदैव विचारों संबन्ध क्रम के बोध से संपृक्त पाया गया है । अत: कवियों की भाषा में सदैव ध्वनि की एक विधि एवं समंजस आवृत्ति होती आयी है—जिसके बिना वह शब्दों से किसी प्रकार कम अनिवार्य नहीं ।"[2] तात्पर्य यह है कि भावानुकूल भाषा का उपयोग श्रेष्ठ कवियों की विशेषता होती है ।

साहित्य दर्पणकार ने प्रसादगुण का निरूपण करते हुए लिखा है कि वहां पर शब्द सुनने मात्र से ही अर्थबोध को व्यंजित करने में समर्थ होते हैं ।[3] बस यही पाश्चात्य काव्यशास्त्र का नाद-सौंदर्य है ।

आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ सहारा लेती है । श्रुति कटु मान कर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्त विधान, लय, अन्त्यानु प्रास आदि नाथ-सौंदर्य-साधन के लिए ही है ।'[4] शुक्ल जी नाद सौंदर्य की वास्तविक सौंदर्य गरिमा की अनुशंसा करते है । 'नादसौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है । ताड़प त्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है ।"[5]

तुलसी की कविता में नाद-सौंदर्य की छटा सर्वत्र बिखरी हुई है:

1. ठुमकु-ठुमकु पग धरनि, नटनि लरखरनि सुहाई ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच ही बालक राम ठुमक-ठुमक कर चल रहे हैं ।

---

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृष्ठ 106
2. वही, पृ० 173
3. शब्दास्तद् व्यंजना अर्थबोधका : श्रुतिमात्रतः ।—साहित्यदर्पण, 8.8
4. चिन्तामणि भाग 1, पृ० 245
5. वही पृ० 245

2. ललित आंगन खेलें ठुमकु ठुमकुचलें,
झुंझुनु पांय पेंजनी मृदु मुखर ।। गी० 1.33.2
ये पंक्तियां नाद-व्यंजना का विलक्षण उदाहरण है।

3. झरना झरत झिंग-झिंग झिंग जल तरंगिनी।
निर्झरों का झिंग-झिंग अनुरणन अपूर्व ध्वनि सौंदर्य को चित्रित करता है।

4. सोहिलो सुनु सोहिलो रे।
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो सब जग आज। गी० 1.2.1
सोहिलो शब्द के पुनरावर्तन से एक विलक्षण नाद की सृष्टि हुई है। सोहिलो की व्यंजना समवेत रूप में अवध में भीड़ की खचपच, आनन्द की घसमस, और सोहिलो की गूंजती ध्वनि प्रतिध्वनि की अनुगूंज को साकार आकार दे रही है। सोहिलो के नाद द्वारा भाव, अनुभूति और व्यापार के सारे रूप संप्रेष्य बना दिये गये हैं।

5. राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
इस पदसमूह की आवृत्ति में साधक जीव की निर्बलता, साधना मार्ग की कठिनता, रामनाम की महत्ता संमूर्तित हो रही है।

6. ताण्डव नृत्य पर डमरू-डिंडिम प्रवर,
असुभ इव भांति कल्यान रासी।
महाकल्पान्त ब्रह्माण्ड मंडल दवन
भवन कैलास आसीन कासी ।। (वि० 10.5)

ऐसा प्रतीत होता है कि डमरूधारी शिव सामने खड़े ताण्डव नृत्य कर रहे हों।

7. कटितट रहति चारु किंकिन रव, अनुपम बरनि न जाई।
हेम जलज कल कलत मध्य जनु, मधुकर मुख सुहाई ।।(वि० 62.5)

भ्रमर गुंजन तुल्य आभूषणों की अनुरणनात्मक ध्वनि रूपायित हो गयी है।

8. सुभग श्रीवत्स, केयूर, कंकन, हार, किंकिना-रटनि कटि तर रसालं।
(वि० 51.6)

किंकिनी ध्वनि कासौंदर्य यहां भी रूपायित हो गया है।

9. रटत रिरिहा आदि और न कौर हीतं काजु। (वि० 219.1)
रटना और रिरियाना यहां मुखरित हुआ है।

10. महाभुज दण्ड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दे फोरों।
(कं० 6.14.2)

ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः ब्रह्माड को हाथों की चपेट से दबाकर चटाक से फोड़ दिया गया है।

11. लपट-झपट झहराने हहराने बात,
महराने भट परयो प्रबल परावनो। (क० 5.8.2)

आग की लपटों से झुलसना और राक्षसों का व्याकुल होना रूपायित हुआ है।

12. हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज
भारी मीर टेलि पेलि रौंदि खौंदि हारती। (क० 5.15)

हाथी, घोड़ों की क्रियाएं यहां वर्णों के अनुकरण से साकार हो गयीं हैं।

13. रुण्डन के झुण्ड झूमि-झूमि झुकरे से नाचैं।
रुण्डों के झुण्डों की गतिविधियों का साक्षात रूप यहां पर द्रष्टव्य है।
उपरोक्त सभी उद्धरण श्रुति मात्र से ही अर्थ का बोध कराते हैं। जैसे सूखा इंधन शीघ्र आग पकड़ लेता है, उसी प्रकार ये भी हृदय में व्याप्त हो जाते हैं। इस वर्ण-प्रयोग की छाया (कांति एवं श्रव्यता गुण) द्वारा रसों का अनुसरण, अनुगमन अर्थात् वर्ण्य के।

तुलसी के विषय में निश्चय ही ऐसा कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। तुलसीदास वर्ण-सौंदर्य की विच्छिति से पूर्णतया परिचित थे। वर्ण-सौंदर्य की समग्र संभावनाओं को निचोड़कर उन्होंने अपनी कविता की श्रीवृद्धि की। तुलसी के काव्य को पुनः पुनः पढ़ने की इच्छा होती है और हर बार एक नवीन स्फुरण होता है। यह अनुभूति ही उनके काव्य की रमणीयता का महत्तम प्रमाण है। वर्ण-विन्यास में तुलसी का दाक्षिण्य अतिभ है। तुलसीदास का ब्रजभाषा काव्य वर्ण-वक्रता के सौंदर्य से पुरी तरह आप्लावित है। सहृदय को उसमें असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। कुन्तक के द्वारा दिए गए वर्ण-विन्यास-वक्रता के सभी प्रकार यहाँ उपलब्ध हैं। तुलसीदास एक सक्षम कवि हैं जिन्होंने वर्ण-विन्यास वक्रता के सौंदर्य को पहचाना तथा उससे अपने काव्य की शोभा में वृद्धि की है।

3

पद-पूर्वार्ध वक्रता

वर्ण के पश्चात् काव्य का दूसरा अवयव पद है। अनेक वर्णों का सार्थक समुदाय पद होता है। पद के कुन्तक ने दो भाग किये हैं—पदपूर्वार्ध और पद-परार्ध। इन दोनों का वर्णन भी उन्होंने पृथक्-पृथक् ही किया है। व्याकरण में पदपूर्वार्ध का दूसरा नाम प्रकृति भी है। प्रकृति के भी दो प्रकार होते हैं—प्रातिपदित और धातु। मुउन्त का पद पूर्वार्ध प्रातिपदित और तिहन्त क। धातु कहा जाता है। पदपूर्वार्ध वक्रता से तात्पर्य प्रातिपदिक और धातु की वक्रता से है। निश्चय ही पदों में वैचित्र्य का समावेश कविकर्म की एक पहचान है और इससे कविकर्म कौशल का उद्घाटन होता है।

पदपूर्वार्ध वक्रता के आठ मुख्य भेद हैं—रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्तिवक्रता, वृत्ति वक्रता, लिंगवैत्र्यिवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता। कुछ विद्वानों ने प्रत्ययवक्रता और आगमवक्रता को भी परिगणित किया है। इन सब पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं।

रूढ़िवैचित्र्य वक्रता

जहां लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा के कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की, रूढ़ि (शब्द) से असंभव अर्थ के अध्यारोप से युक्त अथवा विद्यमान धर्म के अतिशय के आरो से युक्त (गर्मित रूप में) प्रतीति होती है, वह कोई (अपूर्व सौंदर्यधायक) रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता कही जाती है।[1] यह वक्रता रूढ़ि के वैचित्र्य

---

1. यत्र रूढसंभाव्यधमध्यारोपगर्भता।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ।।
लोकोत्तर तिरस्कारश्लाध्योत्कर्षामिधित्सया।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढ़िवैचित्र्यवक्रता ।। (हि० व० वी० 2.8-8)

पर आश्रित है। शब्द के नियत बोधकत्व रूप धर्म को रूढ़ि कहा जाता है। अर्थ विशेष पर दूसरे अर्थ का अध्यारोप रूढ़ि वैचित्र्य कहा जाता है। वास्तव में कोई चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रूढ़ अर्थ का अन्य अर्थ में संक्रमण कर दिया जाता है। इस प्रकार रूढ़ि दो प्रकार की हो सकती है—एक नियत सामान्य बोधकत्व और दूसरी नियत विशेष बोधकत्व। कविता में अर्थ विस्तार को प्राप्त होता है। कोष के रूढ़ अर्थ से भिन्न काव्य में अर्थ की विच्छिति कुछ और ही होती है। अभिधाशक्ति के द्वारा विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। उसके लिए व्यंजना आदि विशेष उपाय का अवलम्बन करना होगा।

रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता ध्वनिकार के अर्थान्तिर संक्रमित वाक्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का सद्धर्मातिशय तथा असंभाव्य धर्म अध्यारोप रूप में पुनराख्यान है। इसको स्पष्ट करने के लिए कुन्तक ने उदाहरण भी ध्वन्यालोक से ही लिए हैं। इस वक्रता की प्रेरणा है लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशंसा का कथन करना। इसी से असंभाव्य अर्थ का अध्यारोप किया जाता है। कोश के शब्द निर्जीव और रूढ़ होते हैं। लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशंसा के कथन के कारण अर्थ में विक्षोभ उत्पन्न होता है तभी वे काव्य के शब्द बनते हैं। शब्द जब तक नियत सामान्य है, तब तक उसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं होता, जब वह नियत विशेष को पोतित करने लगता है, तब उसमें चमत्कार उत्पन्न होता है। रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता का दूसरा प्रकार है उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप—सद्धर्मातिशयाध्यारोप-गर्भता। विद्यमान में किसी अपूर्व अतिशय अर्थात् अद्भुत रूप की महिमा का आरोप अर्थात् बोध न करना।

इसी प्रकार का रूढ़ि वैचित्र्य पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी वर्णित है। बहुत पहले लोंगिनुस ने कहा था—यह स्वाभाविक ही है कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को इस प्रकार एक के बाद एक एकत्रित कर देने से कोई भी विषय हमारे कानों को कहीं अधिक सप्रभाव प्रतीत होगा। किन्तु यह ऐसे ही प्रसंगों में करना चाहिए, जहाँ विषय के अन्तर्गत विस्तारणा, अतिरिक्त वर्णन, अतिशयोक्ति अथवा आवेग के लिए···इनमें से किसी एक या अधिक के लिए अवकाश हो, क्योंकि हम सभी जानते हैं कि इस प्रकार की अतिविभूषित शैली बहुत ही आडम्बरपूर्ण लगती है।[1]

कुन्तक ने रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता के अन्य प्रकार से दो भेद किये हैं...पहला जहाँ कवि रूढ़ि (शब्द) से वाचक अर्थ (रामादि रूप वक्रता) को स्वयं ही अपने में उत्कर्ष अपकर्ष का समारोप करते हुए वर्णन करता है। दूसरा वह भेद है जहां

---

1. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० 85

कि उस (उत्कर्ष या अपकर्ष) का वक्ता कोई और हो। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में इस प्रकार की वक्रता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

मेरी सुनियो तात संदेसो।
सीय-हहन जनि कहेहु पियासों, ह्वै है अधिक अंदेसो।।
रावरे पुण्यप्रताप अनल महं, अलप दिननि रिपु दहि हैं।
कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहि हैं।
(गी० 3.16.2)

यहीं पर तुलसी के प्रसिद्ध पद को उद्धृत करना भी आवश्यक जान पड़ता है :

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाई।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहिं दसानन आई।।

स्वयं वक्ता के द्वारा अपने उत्कर्ष या अपकर्ष के सूचिन करते हुए इस रूप में कवि द्वारा उपनिबद्ध वक्ता का वर्णन करने वाला यह पद सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता रूप रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता अथवा आनन्दवर्धन के मत में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। इसमें राम शब्द अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। जिसमें सभी देवता रमण करें अर्थात् परब्रह्म। यहां पर राम में शक्ति, सामर्थ्य, साहस एवं आत्मविश्वास विजय की भावना सद्धर्मों के अतिशय का आरोप है।

तुलसी! अब राम को दास कहाय हियें घरु चातक की धरनी।
करि हंस को वेषु बड़ी सब सौं तजि वे बक वायस की करनी।।
(क० 7.32)

यहां पर श्रीराम शब्द में सद्धर्मातिशयाध्यारोप प्राप्य है। राम में शक्ति, साहस, सभी कुछ है। वह सभी आकांक्षाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य रखता है।

दूसरा प्रकार वह है जहां अन्य वक्ता धर्म का अध्यारोप करने वाला होता है। उपरोक्त उदाहरण में ही राम 'दशानन' के विषय में कहता है कि वह अपने दस मुखों से अपने परिवार सहित आकर कहेगा। यहां पर रावण के अपकर्ष को दिखलाया गया है। यह भी तुलसी द्वारा निबद्ध दशानन रावण के अपकर्ष को सूचित करते हुए सद्धर्मातिशयाध्यारोप गर्भता रूप रूढ़िवैचित्र्यवक्रता का उदाहरण है।

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता का एक अन्य प्रकार प्रतिपादित विद्यमान धर्म के अतिशय की अध्यारोप गर्भिता होता है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में इस प्रकार की वक्रता भी प्राप्य है :

मानु अजहू सिष परिहरि क्रोधु!
पिय पूरो आयो अब काहि, कहु, करि रघुबीर विरोधु।।

जेहि ताड़का-सुबाहु मारि, मख राखि जनायो आपु।
कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रगट्यो बिसिप-प्रतापु।।
सकल भूप बल गरव सरित तोरयो कठोर सिव चापु।।
ब्याही जेहि जानकी जीति जग, हरयो परसुधर-दापु।।
(गी० 6.11.3-3)

इस पद में मन्दोदरी रामचन्द्र में विद्यमान धर्म के अतिशय का अध्यारोप करती हुई रावण से कहती है। इसमें 'रघुवीर' शब्द से राम का प्रताप एवं शौर्यातिशय प्रकाशित होता है। अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं :

कुलिसाहि चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहिं चाहि।
चित खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि।।

राम दुष्टों का संहार करने में वज्र से भी कठोर हैं और अपने भक्तों, प्रजा और सन्तों के लिए फूल से भी कोमल। समाज की आवश्यकता के समय कठोरता भी गुण बन जाती है और विनम्रता और कोमलता आदि भी अवगुण। इस पद में राम के लोकोत्तर उत्कर्ष द्वारा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप किया गया है। राम ने कठोरता ऐसा असंभाव्य अर्थ अध्यारोपित किया गया है।

असंभाव्य धर्माध्यारोप अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि (जिसमें शब्द के अमिधार्थ को पूर्णतः छोड़ दिया जाता है—का सुन्दर उदाहरण तुलसी में उपलब्ध है।

हृषीकेश सुनि नाऊं जाउं बलि अति भरोस जिय भोरे।
तुलसीदास इन्द्रिय संभव दुख हरे बनहि प्रभु तोरे।।
(वि० 119.5)

हृषीकेश में जो 'चमत्कार है वह अन्य किसी भी शब्द में हो ही नहीं सकता। इन्द्रिय संभव दुख को दूर करने की शक्ति इन्द्रियों के शासक 'हृषीकेश' में भी है, विष्णु, माधव, केशव आदि में नहीं। यह सद्धर्मातिशय है। विद्यमान अर्थ का उत्कर्ष है। अन्य उदाहरण देखिए—

कोक कोकनद लोकप्रकासी। तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी।
सारथि पंगु, दिव्य रथ गामी। हरि-संकर-विधि-मूरति स्वामी।
(वि० 2.3)

यहां सूर्यनारायण को 'रस-राशि' कहा गया है। यदि वह अपनी किरणों से जल को न खींचे तो वर्षा कहां से हो? फल और अन्न कैसे उत्पन्न हो? भगवान भास्कर प्रातः काल में ब्रह्मरूप, मध्यान्ह काल में शिव रूप तथा सायंकाल में विष्णु-रूप माने गए हैं। यह सद्धर्मातिशय रूढ़िवैचित्र्य वक्रता का उदाहरण है। इसी पद में सूर्य को सारथि-पंगु और दिव्यरथगामी कहा गया है। सारथी के पंगु होने

पर भी वह अपना कार्य कर रहा है। इस प्रकार यहां पर असंभाव्य अर्थ का अध्यारोप है। तुलसी के ब्रज भाषा काव्य में रूढ़िवैचित्र्यवक्रता के अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्य हैं।

पर्यायवक्रता

पदपूर्वार्धवक्रता के दूसरे भेद का नाम कुन्तक ने पर्यायवक्रता दिया है। पर्याय से अभिप्राय है समानार्थक संज्ञा शब्द। जब विशेष संदर्भ में किसी भी शब्द के निकटतम अर्थ पोषक पर्याय शब्द का प्रयोग होता है वहां पर्यायवक्रता हुआ करती है। कुन्तक ने कहा है जो वाच्य (अभिधेय या वर्णनीय अर्थ) का अन्तरतम (निकटतम भाव का स्पर्श करने वाला) उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उस (वाच्यार्थ) को सुशोभित करने में समर्थ (पर्याय शब्द है) ॥10॥ जो स्वयं (बिना विशेषण के ही) अथवा विशेषण (के योग) से भी अपने सौंदर्यातिशय के कारण मनोहर है और जो असम्भव अर्थ के (पात्र) आधार (असंभव सदृश गुणों से युक्त) रूप से भी कहा जाता (वाच्य होता) है (ऐसा जो पर्याय शब्द है) ॥11॥ जो अलंकार से संस्कृत (शोभित) होने (अथवा अलंकार का उपस्कारक शोभाधायक होने) से मनोहर रचना युक्त पर्याय (संज्ञा शब्द) है उस (के प्रयोग) से परमोत्कृष्ट पर्यायवक्रता होती है ॥12॥[1]

दिनकर का कहना है कि प्रत्येक भाषा में शब्द के अनेक पर्याय (समान अर्थवाचक शब्द) होते हैं। सामान्य पाठकों की दृष्टि में वे सभी एक अर्थ के द्योतक माने जाते हैं, कोश में भी उन्हें पर्याय ही माना जाता है। पर कवि की सूक्ष्म दृष्टि में शब्द पर्यायवाची नहीं होते हैं। प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट अर्थ स्वरूप या लक्षण का ही प्रतिपादन करता है--आदमी, पुरुष, मनुष्य—ये सभी अलग अर्थ रखते हैं। कवि के लिए सभी शब्दों की स्थिति ऐसी ही होती है। 'शब्दों के रूप, गुण और ध्वनि से जितना सम्बन्ध कवि को है, उतना किसी अन्य साहित्यकार को नहीं।[2] प्रत्येक शब्द का अपना संगीत होता है, अपनी आत्मा होती है। 'पल्लव' की भूमिका में पंत जी ने लिखा है—भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत भेद

---

1. अभिधेयान्तरतमस्तयातिशयपोषकः।
   रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तिदलहुकर्तुमीश्वरः॥
   स्वयं विशेषणनापिस्वच्छायोत्मर्षपेशलः।
   असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते॥
   अलंकारोपसंस्कार मनोहारिनिबंधनः।
   पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परापर्यायवक्रता॥—हि० व० जी०—21.10.11.12)
2. मिट्टी की ओर—दिनकर, पृ० 151

के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। भू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्षस्थल का कोमल कम्पन, तरंग में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हंसमुख लहरियों का, 'ऊर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का 'हिल्लोल-कल्लोल' से ऊंची-ऊंची बांहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।[1] तात्पर्य यह है कि कविताओं में शब्द अनुभूति के ताप से ज्योतित रहते हैं। कवि किसी भी शब्द को जब चुनता है, तब उसकी आभ्यान्तरिक चेतना को वह परख कर ही ऐसा करता है। इसलिए कविताओं में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं होता और उसी से उसकी अर्थवत्ता खुलती है।

कुन्तक ने पर्यायवक्रता के छः अवान्तर भेदों का वर्णन किया है। पहला भेद यह है कि इसमें पर्याय अपने वाच्य अर्थ का अन्तरतम होता है। तात्पर्य यह है कि अभिधेय उसका अत्यन्त निकटस्थ होता है। अन्तरतम होने से विवक्षित वस्तु को वह शब्द जिस प्रकार से प्रगट करता है, उस प्रकार कोई नहीं करता है। इसे 'अभिधेयान्तरतम पर्यायवक्रता' की संज्ञा दी गई है। यहां कुन्तक की परख बड़ी गहरी है सभी शब्द वाच्य वस्तु के अन्तरतम नहीं होते हैं। कुछ ही होते हैं। वस्तु सही शब्द से ही विकृत होती है। अतः कविता में शब्दों की खोज वस्तुओं के सही नाम की खोज है।

तुलसीदास को पर्यायवक्रता के प्रयोग में पूरी सिद्धि प्राप्त है। हम कुछ उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करना चाहते हैं। तुलसीदास ने नयन शब्द के विभिन्न पर्यायों में सूक्ष्म भेद किया है। तुलसी ने नयन के विलोचन, लोचन, आंख, दृग, आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है। प्रत्येक में अभिधेय का एक विशिष्ट अन्तरतम भाव छिपा है। कवि की विशेषता इन शब्दों के अर्थ को नहीं, अपितु इनके भाव को पढ़ने की शक्ति में है:

1. गुरुपद रजमृदु मंजुल अंज। नयन अमिय दृग दोष विभंजन॥

(मा० 1.2.1)

2. तेहि करि विमल विवेक विलोचन! बर नऊं रामचरित भवमोचन॥

(वही)

3. आंखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि के बनवास दियो है।

(क० 2.21)

---

1. पल्लव (भूमिका), पृ० 29.30

4. तनकी दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरे। (क० 1.3)
5. जौं विधि पुरब मनोरथ काली। करउं तोहि चख पूतरि आली।
(मा० 2.2.32)

नेत्र के इन कहों पर्यायों में रूप एवं व्यापारगत सूक्ष्म अन्तर है। दृग शब्द बड़ी-बड़ी दोषरहित आंखों का और इनकी स्पष्ट देखने की क्रिया का वाचक है। इसीलिए गुरुपद रजरूपी अंजन से दृष्टि दोष को मिटाते रहने की साधना बताई गई है। भूतल, शैल और वन में स्पष्ट कौतुक देखने के निमित्त साधक, सिद्ध और सुजान से भी दृगों में अंजन आंजने की बात कही गई है। नयन लोचन और विलोचन परस्पर एक दूसरे के पूर्ण समानार्थी हैं, पर क्रमशः पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे में भावोत्कृष्टता आती चली गई। लोचन में नयन से सौंदर्य और कोमलता अधिक है। इसे मानस, गीतावली और कवितावली आदि किसी भी ग्रंथ में देखा जा सकता है। जो नेत्रों में और भी कोमलता का आधान करना पड़ा है वहां बीच के व्यंजन का भी लोप करके 'लोचन' कर दिया है। (गी० 1-51-1) 'वि' उपसर्ग युक्त विलोचन का लोचन से विशिष्ट एवं श्रेष्ठ होना स्वाभाविक है, पर यह श्रेष्ठता सौन्दर्य और मार्दव की उतनी नहीं है जितनी दृगदोष से मुक्त दृष्टि अथवा देख सकने की शक्ति की है। कवि ने 'गुरु-पद नख मनिगन जोती' के प्रभाव से उत्पन्न दिव्यदृष्टि का परिणाम ,उधरहिं बिमल बिलोचन ही के' को ही बताया है। आंखों से तात्पर्य बड़ी-बड़ी बरौनी युक्त खुले गोलकों से है। ऐसी खुली आंखों में ही किसी को रखा जा सकता है। लक्ष्मण ने परशुराम से इन्हीं आंखों को मूंदने के लिए कहा था कि कोई दिखाई न पड़े। दृग और आंख में अन्तर धर्म का उतना नहीं है जितना रूप का है। दृग के साथ विशालता का ही रूप है जबकि आंख के साथ कोमलता और रमणीयता का भी है। दृग की देखने की शक्ति भी आँख की शक्ति से ज्यादा है। तुलसी ने आंख के विभिन्न पर्यायों में समुचित पर्यायों को सही स्थान पर रखा है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण तुलसी के काव्य में यत्र-तत्र बिखरे हैं। इसे स्थालीपुलाक न्याय की संज्ञा दी जा सकती है।

उपरोक्त पर्याय प्रसंगानुकूल अपने वाच्यार्थ के अन्तरतम है। इन पर्यायों के चयन में तुलसी का प्रतिभा-कौशल चमक उठा है। कौशल के ऐसे अर्थ दो प्रकार के हैं—जातिवाचक अथवा भाववाचक संज्ञा पदों का चुनाव और व्यक्तिवाची संज्ञा के पर्यायों का चुनाव। पहले प्रकार का कौशल भी दो प्रकार का है, वह जिसमें प्रसंगानुकूल पर्याय ग्रहण ही इष्ट है और दूसरा वह जिसमें प्रयुक्त पर्याय से प्रस्तुत प्रसंग के अर्थसाम्य की व्यंजना अभीष्ट है।

आचार्य कुन्तक ने पर्यायवक्रता का दूसरा अवान्तर भेद किया है—'तस्या-

तिशय पोषकः' । तुलसीदास ने उन पर्यायों को समुचित स्थान दिया है जो वाच्य के अतिशय के पोषक हों। स्वाभाविक सुकुमारता से सुन्दर पदार्थ भी उस विशेष पर्याय शब्द से उत्कर्ष के पुष्ट किये जाने पर सहृदयों के हृदय के लिए अत्यन्त चमत्कार-जनक हो जाता है।

तुलसीदास ने रावण के लिए रावणात्व के पोषक प्रसंगानुकूल पर्यायों— दसानन, दसमुख, भुजबीस, दस जीहा, दसकंध आदि का प्रसंगानुकूल चयन किया है। इससे कवि ने कार्य व्यापार में जान डाल दी है।

कुन्तक ने पर्यायवक्रता का तीसरा अवान्तर भेद किया है कि कोई पर्याय शब्द स्वयं अथवा अपने विशेषण के सम्पर्क से, अपने अभिधेय अर्थ को, रम्य छायान्तर के स्पर्श से विभूषित करता प्रतीत हो। यह वाच्यार्थ से भिन्न रमणीय श्लिष्टत्व आदि रूप सौन्दर्य विशेषण के संयोग से सम्पन्न होता है, जैसे:

1. प्रिय पाहुने जानि नर-नारिन नयननि अयन दये।
   तुलसीदास प्रभु देखि लोग सब 'जनक' समान भये ।। (गी० 1.63.5)

यहां पर 'जनक' शब्द में 'विदेह' अर्थ की छाया से विशेष चारुत्व आ गया है।

2. स्वारथ-रहित परमारथी कहावत हैं,
   में सनेह-बिवस विदेहता बिवाके हैं। (गी० 1.64.2)

जनक जी स्वार्थरहित और परमार्थ परायण कहलाते थे परन्तु इस समय वे स्नेहवश होकर विदेहता को भूल गये । विदेहता में श्लिष्टत्व से सौन्दर्य है।

3. प्रानहूते प्यारे सुत मांगे दिये दसरथ,
   सत्यसिंधु सोच सहे, सूनो सो भवनु भौ ।। (गी० 1.66.2)

सत्यसंघ दशरथ जी ने अपने प्राणप्यारे पुत्रों को तत्काल दे दिया। दशरथ के अभिधेय अर्थ में सत्यसिंधु। सत्यसंघ विशेषण और पर्याय से विशेष सौन्दर्य आ गया है क्योंकि राम और लक्ष्मण के ही माध्यम से दशरथ ने सत्य की रक्षा। यज्ञ आदि की रक्षा की थी। अतः दशरथ सत्य के सागर कहलाये। सत्यसंघ का एक अर्थ होगा सत्य की प्रतिज्ञा वाले वचन को पूरा करने वाला। इससे दशरथ के अर्थ में एक नया सा सौन्दर्य आ गया है। दशरथ ने कैकयी को दिए वचन का भी निर्वाह किया था। (नागरी प्रचारिणी सभा के संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में इसका अर्थ—रामचंद्र और जनमेजय दिया हुआ है)।

इस प्रकार रम्य छायान्तर के स्पर्श से तुलसीदास के काव्य में अभीष्ट सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है।

पर्यायवक्रता का चौथा भेद है अभिधेयार्थ की अपनी छाया या सुकुमारता से पेशल अर्थात् मनोहारी हो (स्वच्छायोत्कर्ष पेशलः)। जैसे:

1. सुवत चली प्रमदा प्रमुदित मन (गी० 1.71.1)

स्त्री के लिए प्रमदा का प्रयोग अपनी ही छाया से मनोहरता प्रदान करता है।

2. सो है सुखमासागर संग अनुज राजकुमार । (गी० 1.82.1)

यहां राम के लिए सुखमा सागर शब्द अपनी सुकुमारता से ही सौन्दर्य की वृद्धि कर रहा है।

3. अनुकूल नृपहि सून पानि है ।
नीमकण्ठ, कारूण्यसिंधु, हर दीनबन्धु दिनदानि है। (गी० 1.80.1)

यहां पर शिवजी के पर्याय अर्थसौर्न्य में वृद्धि करते हैं।

पर्यायवक्रता का पांचवा अवान्तर भेद कुन्तक ने किया है—असंभाव्यार्थ पात्रत्वगर्भ। इसके लिए कुन्तक ने व्यंग्य से बोधन 'महीपाल' और असंभाव्यार्थ प्रतिपादक प्रजानाथ' पर्यायों का प्रयोग किया है। तुलसीदास में इतने ही सटीक अनेक उदाहरण मिल जायेंगे:

1. आनि पर ब्रिधि बाम तेहिं राम सों। सकत संग्राम दसकंध कांध्यों।
(क० 6.4)

यहां पर दस कंधों वाले रावण की असमर्थता व्यंजित है।

2. ब्रह्मानन्द हृदय, दरस-सुख लोयननि अनभये उभय राम जाने हैं।
तुलसी विदेह की स्नेह की दसा सुभिरि, मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं।
(गी० 1.61.4)

यहां पर बिदेह का विदेहत्व सांसारिकता से ऊपर होने में है। पर यहां उनके विदेहत्व की रक्षा करने की असमर्थता व्यंजित है। यहां वह विदेह नहीं, अपितु स्नेह लिप्त है।

3. भये बिलोकिबिदेह नेह बस बालक बिनु पहिचानि है। (गी० 1.80.4)

यहां पर भी विदेह स्नेह वश हो गये हैं।

पर्यायवक्रता का छठा अवान्तर भेद है कि कहीं पर्याय स्वयं अलंकार युक्त होता है और कहीं अलंकार की ही शोभा उसके आश्रित रहती है। (अलंकारोप-संस्कार मनोहारि निबन्धनः)। ध्वनिवादियों ने इसे पर्याय ध्वनि और अलंकार-वादियों ने परिकरालंकार नाम से अभिहित किया है। उदाहरण के लिए गीता-वली के निम्नलिखित उदाहरण में 'अहेरी' शब्द मृगयाशील राम को व्यंजित ही कर रहा है, श्लेष के बल पर राम को उल्लिखित नहीं करता:

तुलसिदास सब सोच पोच मृग मन-कानन भरि पूरि रहे रही।
अब सखि सिय संदेह परिहरु हिय, आइ गए दोउ वीर अहेरी ।।
(गी० 5.49)

तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में पर्यायवक्रता के श्रेष्ठ प्रयोग उपलब्ध हैं। उन्होंने शब्दों के चयन में कविकर्म कौशल का परिचय दिया है। सही पर्याय के प्रयोग से काव्य का सौन्दर्य स्वयमेव निखर उठा है।

उपचार वक्रता

उपचार वक्रता अभिव्यंजना शैली की महत्वपूर्ण विशेषता है। भावों और विचारों की वाहक भाषा ही होती है। उसी के समुचित विनियोग और प्रयोग से भावबोध संवेदनीय और प्रेषणीय बनता है। अतः अभिप्रेत अर्थ चित्र की गत्वर प्रेषणीयता से समन्वित रूप विधान निश्चय ही साहित्यकार और विशेषतः कवि के कलाकर्म में सर्वावश्यक उपकरण होता है। यह काव्य की अर्थव्यंजना का शृंगार करता है और काव्य आत्मा-रस को सहज आस्वाद्य बनाता है। इसीलिए प्रतिभाशाली कवि काव्यशिल्पगत अभिव्यंजना सौन्दर्य में मार्मिकता लाने के लिए अप्रस्तुत की योजना करता है। वह अमूर्त पदार्थ के क्रियाश्रयत्व न होने पर भी उसे मूर्त रूप दे देता है। और मूर्त पदार्थ को स्पष्टता से बचाने के लिए उसको गाम्भीर्य से युक्त करने के लिए अधिक सूक्ष्म एवं अमूर्त रूप में प्रस्तुत कर देता है। ऐसा वह प्रस्तुत वस्तु के सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत की योजना करके करता है और सादृश्य रूप काव्य को अधिक रमणीयत्व प्रदान करता है। इसी सादृश्य रूप अप्रस्तुत योजना की प्रतिष्ठा कुन्तक ने उपचार वक्रता के अन्तर्गत की है। कुन्तक ने उपचार वक्रता को इस प्रकार परिभाषित किया है—जहां प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ से अत्यन्त व्यवहित अप्रस्तुत पदार्थ में रहने वाली नाम मात्र की समानता को किसी धर्म के अतिशय को प्रतिपादन करने के लिए उपचार या गौणी वृत्ति से वर्णन किया जाता है, उसको उपचार वक्रता कहते हैं।[1]

उपचार वक्रता का मूलाधार सादृश्य है यह सादृश सदृश वस्तुओं का नहीं अपितु असदृश वस्तुओं का विचित्र सदृश भाव है। उपचार का सौंदर्य दूरान्तर अर्थात् अत्यन्त भिन्न वस्तुओं के सदृश भाव में रहता है।[2] दूरान्तरत्व उपचार की आवश्यक शर्त है। दूरान्तर शब्द मुख्यतया देशकाल विषयक व्यवधान का बोधक होने पर भी उपचार से स्वभाव के व्यवधान का बोधक होता है। और पदार्थों का वह स्वभाव विप्रकर्ष अर्थात् व्यवधान विरुद्ध धर्म के आयास रूप होता है।[3] उपचार अनुमान पर आश्रित है जबकि देशकाल का व्यवधान मूर्त रूप से उपस्थित पदार्थों में ही संभव हो सकता है इसलिए जब पदार्थ मूर्त रूप में उपस्थित नहीं है तो उनमें देशकाल विषयक व्यवधान नहीं माना जा सकता। अतः दूरान्तर शब्द स्पष्टतः भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ का प्रतिपादन करता है जैसे मूर्तिमत्व अमूर्तत्व की

---

1. यत्र दूरान्तरे न्यस्यात् सामान्यमुपचर्यते।
   लेशेनापि भवत् काञ्चिद् वकुतमुद्रिक्तवृत्तिाम्।। हि० व० जी०-1.13
2. वही, पृ० 223
3. वही, पृ० 224

अपेक्षा, द्रवत्व घनत्व की अपेक्षा और चेतनत्व अचेतनत्व की अपेक्षा अत्यन्त व्यवधानयुक्त है।[1] आचार्य विश्वनाथ ने दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में उनके अधिकाधिक साधर्म्य अथवा सादृश्य के कारण उनकी परस्पर भिन्नता की प्रतीति के स्थगित हो जाने को उपचार बताया है।[2] इसको और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जहां भी समानाधिकरण्य हो वहां उपचार ही रहा करे। शुक्लः पटः में समानाधिकरण्य है पर उपचार नहीं, क्योंकि यहां 'शुक्ल' और 'पट' रूप पदार्थ गुण और द्रव्य होने के नाते भले ही भिन्न हों किन्तु ऐसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं जैसे कि अग्नि और माणवक (अग्निमाणवकः) रूप पदार्थ है।[3] अतः शुक्लः पटः आदि प्रयोगों में केवल शुद्धा लक्षणा मानी जाती है, गौणी लक्षणा तो उपचार पर निर्भर है। रुय्यक के अनुसार उपचार वक्रता के अन्तर्गत ध्वनि का समस्त प्रपंच समाविष्ट किया जा सकता है।[4] (उपचार वक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृत एवं।) किन्तु रुय्यक की यह मान्यता आंशिक रूप से ही स्वीकार्य हो सकती है क्योंकि उपचार शब्द को सम्पूर्ण ध्वनि अथवा व्यंग्य का पर्याय नहीं माना जा सकता। ध्वनिभेदों के गौणीलक्षणा तथा सादृश्य विधान से संबंधित भेद ही उपचार वक्रता के अन्तर्गत गृहीत हो सकते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने भी उपचार की महिमा पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'विट' उपचार के ही समानान्तर है। एडिसन ने 'विट' पर विस्तृत चिन्तन किया है। वे लिखते हैं—प्रत्येक प्रकार का विचार साम्य उपचार नहीं है। केवल वही साम्य इसके अन्तर्गत आता है जिसमें आह्लाद और विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो। उपचार के लिए ये दो गुण अनिवार्य हैं—विशेषकर विस्मय। कोई भी सादृश्य अथवा साम्य वर्णन तभी उपचार के अन्तर्गत आ सकता है जब समान तथ्य और प्रकृत रूप में एक दूसरे के बहुत अधिक निकट न हों, क्योंकि जहां साम्य सर्वथा स्पष्ट है वहां विस्मय की उद्बुद्धि नहीं होती।...इस प्रकार यदि कोई कवि यह कहे कि उसकी प्रेयसी का वक्ष हिम की तरह उज्ज्वल है तो उसमें कोई उपचार नहीं है, लेकिन जब वह हल्की उसांस के साथ यह भी जोड़ देता है कि वह उतना ही ठंडा भी है, तब वह उपचार में रूपान्तरित हो जाता है।[5] एडिसन के इस मन्तव्य से स्पष्ट है कि वे 'विट' का सौंदर्य मूलतः दूरान्तर में ही मानते हैं। लक्षणा में भी उपचार का ही सौंदर्य रहता है इसीलिए अरस्तू ने लक्षणा में भी दूरान्तर

---

1. हि० व० जी०, पृ० 226
2. हि० व० दर्पण, डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० 66
3. हि० सा० द०, पृ० 66
4. अलंकार विमर्शिनी—टीकाकार जयरथ, पृ० 8 सन् 1939 ई0
5. अरस्तू का काव्यशास्त्र—सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 55 (द्वितीय संस्करण)

पर विशेष बल दिया है। उन्होंने लिखा है—लक्षणा किसी वस्तु पर इतर संज्ञा का आरोप है जो जाति से प्रजाति, प्रजाति से प्रजाति पर साम्य अर्थात् समानुपात के आधार पर हो सकता है।[1] इस प्रकार उपचार वक्रता के बहुविध वैचित्र्य हैं। अमूर्त पर मूर्त, मूर्त पर अमूर्त, अचेतन पर चेतन के आरोप एवं रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में उपचार ही सरसता प्रदान करता है।[2]

तुलसीदास ने रूढ़ उपमानों का प्रयोग खूब किया है पर अनेक भावात्मक स्थलों पर उनके द्वारा प्रयुक्त उपमान कलात्मक एवं नवीन भंगिमा से युक्त हो गये हैं। उनकी अभिव्यंजना शैली चित्रात्मक है जिसे प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उन्होंने साम्यमूलक अलंकारों का खूब प्रयोग किया है। इस प्रयोग में उन्होंने कल्पना के सहारे सर्वथा नवीन, विलक्षण तथा कलात्मक उपमान योजना का विधान किया है जो सादृश्यनिर्वाह एवं औचित्य की दृष्टि से स्पृहणीय हैं। कहीं-कहीं तो यह उपमान विधान केवल स्थूल पदार्थों तक ही सीमित न रहकर समूची परिस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें काव्य की कलात्मकता, प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता सजीव हो उठती है।

अमूर्त का मूर्त विधान

उपचार वक्रता का प्रथारूप है—अमूर्त को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना।[3] यह वैचित्र्य विधान कलापक्ष का प्रमुख अंग है। सूक्ष्म भावों की अनुभूति जब विशेष गम्भीर हो जाती है या जब सूक्ष्म भावों की गंभीर व्यंजना करना अभीष्ट होता है तब सूक्ष्म भावों को मूर्त गोचर बना दिया जाता है। जो हृदय का केवल भावमात्र है उसमें यदि मूर्त प्रत्यक्षीकरण की योग्यता लाई जाय, तो स्वभावतः उसकी प्रभविष्णुता बढ़ जायेगी।[4] तुलसी ने अपने काव्य में अमूर्त का मूर्त विधान अनेक जगह किया है—

1. पटकों नीच-नीच मूषक ज्यों, सबहि को पायु बहावौं। (गी० 6।8।6) (अर्थ-नीच मृत्यु को मूषक के समान पटक दूं और इस प्रकार सभी का पाप काट दूं। फिर किसी को मरने का भय न रहे) पटका जाना वाच्यार्थ का बाधक है। पटके जाने का लाक्षणिक प्रयोग ही ग्राह्य है। यहां मृत्यु की मूर्त रूप में अभिव्यक्ति

---

1. अरस्तु का काव्यशास्त्र—सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 55
2. हि० व० जी० 2.14
3. वही, पृ० 226
4. काव्य में अभिव्यंजनावाद-लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० 156, चतुर्थ संस्करण,

हुई है। साथ ही वक्ता के शौर्य एवं आत्मविश्वास की व्यंजना भी हुई है। मूर्त को पटका जा सकता है। पटके जाने का धर्म उपचार से मृत्यु पर आरोपिता है।

2. बाल-बिनोद-मोद-मंजुल मनि, किलकनि-खानि खुलावौं।
तेह अनुराग ताग गुटबे कहं, मति-मृगनयन बुलावौं।।
(गी० 1.18.3)

बालक्रीड़ा वात्सल्य अनेक भावों की मूर्त्त अभिव्यक्ति यहां हुई है।

3. बात केलि बात बस झलमलत।
सोभा की दियरि मानो रूप-दीप दयो है। (गी० 1.10.6)

बालकेलि को वायु कहा गया है जो सौंदर्यरूपी दीपक को कंपाती है। सौन्दर्य, बालक्रीड़ा, शोभा आदि को दीपक, दीपशिखा तथा दीपाधार आदि के द्वारा मूर्तित किया गया है। 'झलमलत' के द्वारा दीप्ति और कान्ति का चित्र साकार हो उठा है।

4. महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बांचो।।
(गी० 2.62.4)

पुण्यात्मा व्यक्ति की महिमा को मृगीरूप में व्यक्त किया गया है।

5. परमारथ पहिचानि मति लसति विषय लपटानि।
निकसि चिता ते अधजरति, मानहुं सती परानि।। (दो० 253)

इस दोहे में तुलसी ने पूरी स्थिति को मूर्तता प्रदान की है।

6. कहत हिय मेरी कठिनई लसि गई प्रीति लजाई।
(गी० 7.30.3)

लज्जा मानवीय भावना है। उसका प्रति पर आरोपण है। लज्जित होने की जो भावना यहां उभरती है वह सम्पूर्ण स्थिति को मूर्त्तकर देती है।

7. काको नाम घोखेई सुमिरत पातक पुंज पराने। (वि० 236.5)

पापपुंजों का पलायन—यह पलायन क्रिया के द्वारा गतिशील मूर्तरूप हो गया है। प्रधावन चेतन व्यापार है। इसका पातक पुंज पर आरोप करके गत्वरता प्रदान की गई है। शरीर धारी भावनाओं को भी तुलसी अप्रस्तुत बनाते हैं।

8. काल तोपची तुपक महि, दारु अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमी पाल (दो० 515)

तोप का यह रूपक अनीति आदि की भयानक विस्फोटकता को भी पूरी तरह रूपायित करता है।

9. कुलिस-केतु-जव-जलज रेख बर, अंकुस मन-गज-बसकारी।। (वि० 63.4)

मन के लिए प्रयुक्त 'गज' उपमान, मन की प्रबलता, उसकी दुर्दमनीयता, दुर्नियंत्रणीयता को सहज ही गोचर बना देता है।

10. जो पै जिया धरिहौ अवनुन जनके।
तौ क्यों करत, सुकृत-नखते मौ पै बिखुल बृन्द अध-बनके।
(वि० 96.1.2)

पुण्य के लिए लघ्वाकृति नख तथा अघ के लिए वन के उपमान का प्रयोग दोनों के आकार, तथा सामर्थ्य को स्पष्ट कर देते हैं। नख का लघुत्व तथा उसकी अल्प शक्ति पुण्य की न्यूनता को मूर्त्तित करते हैं तथा वन शब्द से पाप की विशालता एवं दीर्घता स्पष्ट होती है। जैसे नख से वन नहीं कट सकता, उसी प्रकार अल्पपुण्य विशाल पापराशि का नाश नहीं कर सकता। यहां साधर्म्य की व्यंजना स्पष्ट है।

11. जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न।
त्यों-त्यों सुकृत-सुभट कलि भूपहि निदरि लगे बहु काढ़न ॥
(वि० 21.1.2)

यहां कलियुग का मूर्त्त रूप है।

12. हों निज उर अभिमान-मोहमद खल मंडली बसावौं। (वि० 142.10)
अभिमान, मोह, मद को मूर्त्त रूप प्रदान किया गया है।

13. तुलसी सुदरिद्र सिरोमनि, सो सुमिरें दुख-दारिद होहिं न ठाढ़े।
(क० 7.154.3)

दुःख और दारिद्रय खड़े नहीं रह सकते।

मूर्त का अमूर्त विधान

उपचार वक्रता का दूसरा मनोहारी रूप है मूर्त का अमूर्त विधान।[1] जब कोई प्रतिभाशाली भावुक कवि मूर्त वस्तु में निहित सूक्ष्म अर्थ का उद्घाटन करना चाहता है अथवा पाठक में गंभीर मनोवृत्ति को जगाना चाहता है तब वह वस्तु की मूर्तिमत्ता की उपेक्षा करके उसको भावात्मक सत्ता में परिणत कर देता है। सूक्ष्म भावों का गोचर विधान थोड़ी सी सावधानी के साथ किया जा सकता है पर मूर्त को सूक्ष्म भाव बनाने में बड़ी सतर्कता चाहिए। इस संबंध में सूक्ष्म में स्थल की सारी विशेषताएं लक्षित होना आवश्यक नहीं प्रत्युत जिस विशेषता के लिए मूर्त वस्तु प्रसिद्ध हो, उसकी अवस्थिति अनिवार्य है। यदि किसी मूर्त वस्तु में अनेक गुण हों तो उसको भावात्मक बनाते समय किसी एक ही प्रयोजनीय गुण पद दृष्टि रखनी चाहिए।[2] तुलसी में मूर्त के अमूर्त विधान के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं:

---

1. हि० व० जी, पृ० 226
2. काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० 161 (चतुर्थ संस्करण)

1. तुलसीदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भये। (गी० 1.63.5)

लोग मूर्त्त हैं, जनक विदेहावस्था है। मूर्त के ऊपर अमूर्त का आरोप किया गया है।

2. राजिव-नयन, विधु बदन टिपारे सिर नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर-ठौर है। ठगौरी अमूर्त है। प्रत्येक अंग में ठगौरी है। मूर्त को अमूर्त्तत्व प्रदान किया गया है।

3. ललित सकल अंग, तनु धरै के अनंग।
नैननि को फल कैधों, सिय को सुकृत सारु।

यह राम के शारीरिक सौन्दर्य को नेत्रों का फल और सीता के पुण्यों का सार माना गया है। अमूर्त का कितना सुन्दर अप्रस्तुत विधान है।

4. सुख की सींव अवधि आनन्द की,
अवधि विलोकिहौं पाइहों ?

यहां अयोध्या को सुख की सीमा और आनन्द की अवधि कहा गया है।

5. रघुबर बाल कबि कहौं बरनि।

× × ×

मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि।
जनु सुभग सिंगाद् सिसु तरु फरयो है अद्भुत फरनि। (गी० 1.27)

यहां राम के शरीर को 'शृंगार का पौधा' कहा गया है। और आभूषणों को उसे पौधे के फल। इतनी मनोहारी कल्पना और नवीन अप्रस्तुत योजना तुलसी का ही काव्यकौशल हो सकता है।

6. दसरथ-सुकृत-विबुध-बिरवा विलसत। (गी० 1.30)

यहां राम को दशरथ के पुण्यों का पौधा बताया गया है।

7 मानो भख-रुज निसिचर हरिबे को सुत पावक के साथ पठये पतंग।। (गी० 1.53)

यहां पर विश्वामित्र को अग्नि माना गया है।

8. दादुर मुदित भरे सरित सर, महि उमगि जनु अनुराग। (गी० 7.18.3)

यहां पर पृथ्वी उमंग से भरी है मानो अनुराग चारों ओर छा गया हो। मही की उमंगें, और अनुराग की उमंगें में मूर्त का अमूर्त विधान है। साथ ही अचेतन पृथ्वी को चेतन बताया गया है।

अचेतन पर चेतन का आरोप

उपचार वक्रता का तीसरा भेद है अचेतन पर चेतन का आरोप।[1] जड़ पदार्थों

---

1. हि० व० जी०, पृ० 226

में प्राण प्रतिष्ठा का उन्हें चेतन रूप देने की प्रक्रिया पाश्चात्य काव्य शिल्पनिधि में मानवीकरण के नाम से अभिहित की गई है। मानवीकरण में उपचार का ही सौन्दर्य है। जब कवि अधिक भावुक हो जाता है तो उसकी मानसिक सवेदना का विस्तार हो जाता है। उसकी दृष्टि जड़ एवं स्थूल वस्तुओं के प्रति भी रागात्मक हो जाती है और वह जड़-जगत् के पेड़ पौधे, फूल पत्ते आदि प्राकृतिक पदार्थों के क्रिया-कलापों में मानवीय चेतना का रूप देखने लगता है। अचेतन पर चेतन के इस आरोप के द्वारा कविता में मार्मिकता बढ़ जाती है। तुलसी सौन्दर्य के सूक्ष्म द्रष्टा, सृष्टा हैं। उनकी सौन्दर्यमयी कल्पना ने अचेतन पदार्थों में भी चेतना का संचार कर दिया है। अचेतन पर चेतन का आरोप उपचार वक्रता का अत्यन्त रमणीय रूप है—

1. काको नाम धोखेइ सुमिरत पातक पुंज पराने। (वि० 236.5)

पातक समूह में भाग जाने की मानवीय क्रिया का आरोप।

2. तुलसी सुदरिद्र सिरोमनि, सो सुमिरें दुःख-दारिद होहिं न ठाढ़े। (क० 7.154.3)

खड़ा होनन मानवीय व्यापार है।

3. मानो मख रुज निसिचर हरिबे को सुत पावक के साथ पठये पतग ॥ (गी० 1.53)

जाना मानवी व्यापार है। 'पावक' अचेतन है उस पर चेतन का आरोप किया गया है। 'पतंग' ने भेजा है। पतंग पर भी चेतन का आरोप है।

रूपकादि अलंकार—रूपकादि अलंकारों में सरसता का संचार उपचार वक्रता से ही होता है। अन्तर इतना है कि उपचार के प्रथम भेद की तरह रूपक में दूरान्तर उतना नहीं रहता है।

पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन-भंवर भुलावौं।
बाल-विनोद-मोद-मजुल मनि किलकनि-खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहबे कहं मति मृग नयननि बुलावौं।
तुलसी भनित भली भामिनि उर सौं पहिराई फुलावौं।
चारु चरित रघुवर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं ॥
(गी० 1.18.1.3)

राम के कर, चरण, मुख और नेत्रों पर कमलवा, अपने नेत्रों पर भ्रमर का, बालकेलि पर मणि का, हास्य पर रूपखानि का, अनुराग पर धागे का, बुद्धि पर मृगनयनी का, कविता पर कामिनी का—अभेदोपचार से धर्म मात्र का ही नहीं अपितु उस पदार्थ का अध्यारोप हे।

'रूपकादि अलंकृतिः' वाले में भेद उपचार वक्रता कारण है, रूपकादि अलंकार की सरसता कार्यरूप है। तात्पर्य यह है कि उपचार वक्रता रूपकादि सभी अलंकारों का प्राण स्वरूप है। प्रश्न उठता है कि 'पत्रदूरान्तरे' से इस भेद का क्या पार्थक्य है? पहले प्रकार में स्वभाव का भेद होने से सामान्य रूप से नाम मात्र के तनिक से साम्य को लेकर ही अतिशयत्व के प्रतिपादन के लिए केवल उस धर्म का अध्यारोप किया जाता है। और इस द्वितीय प्रकार में अदूर विप्रकृष्ट अर्थात् थोड़े से अन्तर के कारण सादृश्य से उत्पन्न प्रत्यासक्ति के योग्य अभेदोपचार से केवल उस पदार्थ के धर्ममात्र का ही नहीं अपितु उस पदार्थ का ही आरोप किया जाता है और दूसरी व्याख्या के अनुसार उपचार वक्रता मनाने पर धर्ममात्र का नहीं, अपितु उस पदार्थ का ही अध्यारोप किया जाता है। इस प्रकार उस आरोप्यमाण और आरोप-विषय में अभेद व्यवहार होता है। यही रूपकालंकार का बीज है।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में उपचार वक्रता का सौन्दर्य खूब निखरा है। तुलसी एक प्रतिभाशाली कवि हैं और उन्हें इस सौन्दर्यशास्त्रीय उद्भावना का पूरी पहचान है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए सर्वत्र किया है।

विशेषण वक्रता

विशेषणों का सौन्दर्य श्रेष्ठ कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता है। काव्य सौन्दर्य बहुत कुछ विशेषणों के प्रयोग पर निर्भर होता है। बहुत बड़े वाक्य में कही जाने वाली बात को एक छोटा सा विशेषण अधिक रमणीयता पूर्वक स्पष्ट कर देता है। उचित विशेषण का निर्वाचन सच्चे लेखक की कला का निष्कर्ष है। वाक्य विन्यास में विशेषण को किस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है इस बात का अपना ही विशिष्ट प्रभाव हुआ करता है।

कुन्तक के अनुसार 'जहां विशेषण के माहात्म्य या प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वहां विशेषण वक्रता होती है।[1] विशेषण मूलतः एक व्याकरणिक कोटि है। विशेषणों का प्रयोग दो प्रकार होता है एक विशेष्य के साथ और दूसरे क्रिया के साथ।[2] काव्य में विशेषण व्याकरणिक कोटि से ऊपर उठ जाता है। विशेषण का माहात्म्य असंदिग्ध है। श्रेष्ठ काव्य में विशेषणों के प्रयोग से विषयवस्तु का सौन्दर्य अतिशययुक्त हो जाता है। यह अतिशयत्व काव्य में दो प्रकार से प्रस्फुटित होता है—एक तो स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रकाशत्व रूप द्वारा और दूसरा अलंकार के सौन्दर्यातिशय का परिपोषकत्व रूप

---

1. हि० व०, 2.15
2. संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण—पं० कामता प्रसाद गुरु, पृ० 49

द्वारा। स्वयं कुन्तक कहते हैं कि जिसके द्वारा अपने माहात्म्य से रस, वस्तुओं के स्वभाव और अलंकार लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त बनाए जा सकते हैं उसी को विशेषण कहना चाहिए।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि विशेषण से काव्यवस्तु और काव्य-शिल्प दोनों में रमणीयता निखर आती है।

विशेषण वक्रता कवियों की शैली की एक बहुत बड़ी विशेषता है। पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि 'काव्य के सौन्दर्य की स्फूर्ति कभी-कभी एक नन्हे से विशेषण से इस ढंग से हो जाती है कि उसके लिए अनेक लम्बे वाक्यों का विन्यास भी समर्थ नहीं होता।[2] अर्थात् सटीक विशेषणों से कवि के मनोदेश के रहस्य खुलते चले जाते हैं। विशेषण विशेष अर्थ गर्भित होते हैं। यही कारण है कि कवि वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए जिन विशेषणों का चुनाव करता है, उसका पर्यायवाची विशेषण विवक्षित धर्म विशेष का विधायक नहीं हो सकता। विशेषणों का समुचित और सुन्दर प्रयोग कवि की शक्ति को द्विगुणित कर देता है। विशेषणों के प्रयोग में कवि की सतर्कता विशेष रूप से अपेक्षित है। विशेषणों की चित्रोपमता और भावोद्दीपन क्षमता वातावरण एवं विषय के अनुकूल उनके युक्तियुक्त चुनाव के आश्रित रहती है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कदाचित इसीलिए कहा था—'समुचित विशेषणों से युक्त विशेष्य इस प्रकार होता है जैसे अत्यधिक गुणों से युक्त सुहृदों से गुणी सज्जन की शोभा होती है।[3] इस सम्बन्ध में करुणापति त्रिपाठी का कथन भी उल्लेखनीय है—यदि विशेषणों का समुचित प्रयोग न हुआ तो उसकी युक्ति का यथार्थ ज्ञान पाठक को न हो पावेगा, पाठक उसकी युक्ति की उस सुन्दर और कोमल अनुभूति या भावना की रमणीयता का अवलोकन न कर पायेगा जिसके आनन्द से आप्लावित होकर उसे लोक के सम्मुख रखना चाहता था।[4] अतएव विशेषणों का समुचित प्रयोग कवि की विवक्षित अभिलाषा को व्यक्त कर पाठक पर गंभीर प्रभाव डाल सकने में समर्थ हो सकता है।

आधुनिक समीक्षा में दिनकर विशेषणों के सौन्दर्य के विषय में लिखते हैं—कविता में जो प्रज्वलन वाला गुण है, प्रेरणा के आलोक में शब्दों को सजीव बना देने वाली शक्ति है, उसका सबसे बड़ा चमत्कार विशेषणों के प्रयोग में देखा जाता है। विशेषणों के प्रयोग'में आधी सफलता और आधी असफलता नहीं होती। कवि

1. हि० व०, पृ० 236
2. भारतीय साहित्यशास्त्र (दूसरा भाग)—बलदेव उपाध्याय—पृ० 386, प्रसाद परिषद काशी, द्वितीय संस्करण, सं० 2012 वि०
3. औचित्य विचार चर्चा—अनु० चौ० श्री नारायण सिंह, छंद सं० 23
4. शैली—करुणापति त्रिपाठी, पृ० 65

या तो पूर्ण रूप से सफल अथवा असफल हो जाता है। इसलिए जहां यह जानने की आवश्यकता हो कि दो कवियों में कौन बड़ा और कौन छोटा है वहां केवल यह देखा जाये कि दोनों में से किसने विशेषणों का प्रयोग किया है तथा किसके विशेषण प्राणवान और किसके निष्प्राण उतरे हैं। शब्दों के सम्यक् प्रयोग की जैसी पहचान विशेषणों में होती है, वैसी संज्ञा और क्रिया में नहीं।[1]

विशेषणों की महिमा कविता में तब सिद्ध होती है जब वे वाक्य में पूरी तरह गूंजते हैं। महिमभट्ट ने लिखा है, जो विशेषण एक मात्र विशेष्य के स्वरूप का ज्ञान करता हो, वह निस्सार होता है। वे यह भी कहते हैं कि जिसका अर्थ सामने न आता हो—जो एक प्रकार से प्रतिभाशून्यता के कारण आ गया हो, उसका कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिए। उनके अनुसार ऐसे विशेषणों का प्रयोग अवाच्य वचन दोष से युक्त होता है। वह केवल छन्द पूर्ति मात्र के काम का होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।[2]

सौंदर्य के प्रति तुलसी का लगाव था। गीतिकाव्य में तुलसी के सम्मुख राम का शक्ति, शील और सौन्दर्य का रूप प्रमुखतः विद्यमान था। इसी सौन्दर्य प्रियता और सौन्दर्य-बोध ने उन्हें विशेषणों के समुचित प्रयोग के लिए विशेष प्रभावित किया। तुलसी प्रयुक्त विशेषण काव्योचित हैं और उनमें इन्द्रियगोचर सम्मूर्तन की अद्भुत क्षमता है। उनके चाक्षुष बिम्ब प्रशंस्य हैं। तुलसी की विनयपत्रिका में तो कई-कई पंक्तियां एक ही विशेष्य में विशेषण के रूप में द्रष्टव्य हैं। गीतावली और कवितावली में भी कई-कई विशेषण एक साथ आते हैं। वस्तुतः ब्रजभाषा काव्य मुख्यतः गीत, काव्य है और इनमें तुलसी के पास सौन्दर्य चित्रण करने के लिए पर्याप्त अवकाश था। तुलसी के काव्य में विशेषणों का वैशिष्ट्य इस बात में है कि उनके मूल में कवि की अपनी भावना और दृष्टिकोण निहित है, इसलिए उन्होंने उक्ति में विशिष्ट अर्थगांभीर्य बनाए रखने के लिए विशेषणों का समुचित प्रयोग किया है। ये विशेषण कवि के मनोदेश का रहस्य खोल देते हैं।

स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रकाशकत्व रूप-विशेषण—तुलसी ने लघुता के लिए बड़े ही सुन्दर-सुन्दर विशेषणों का प्रयोग किया है।

1. छोटी-छोटी गोड़िया अंगुरियाँ छबीली छोटी।
   नख जोति मोती मानो कमल दलनि पर।।

---

1. काव्य की भूमिका, पृ० 145
2. हिन्दी व्यक्तिविवेक—2.111.2, पृ0 481

पियरी झीनी झंगुली सांवरे सरीर खुली।
बालक दामिनी ओढ़ी मानो बारे वारिधर ॥[1]

छोटे-छोटे चरण हैं, उनमें नन्हीं-नन्हीं छबीली अंगुलियां हैं, जिनकी नखद्युति ऐसी जान पड़ती है मानो कमलदल पर मोती सुशोभित हों। सांवरे शरीर पर अति झीनी पीतवर्ण झंगुलिया ऐसी सुशोभित होती है मानो किसी छोटे बादल ने बाल विद्युत ओढ़ रखी हो।

उपरोक्त विशेषणों से विशेष्य के रूप की कोमलता, मसृणता और सुघड़ता का चाक्षुष बिम्ब दृष्टिगत होता है। राम बालक हैं, इसलिए छोटी-छोटी, विशेषण तो सार्थक हैं ही, अप्रस्तुत बादल को भी छोटा और विद्युत को भी छोटा दिखाना, अपने आप में एक विशिष्टता है। 'कवीली' विशेषण रमणीय एवं प्रभावशाली बन पड़ा है। यह विशेषण राम के रूप सौन्दर्य का पूर्ण परिचय देने में समर्थ है:

2. मिलो बर सुन्दर सीतिहि लायक,
सांवरो सुभग, शोभाहूं को परम सिरु।
मनहू को मन मोटे, उपमा को है ?
सोहे सुखमासागर संग अनुज राजकुमारु।
ललित सकल अंग, तनु धरे के अनग
नैननि को फल कैंधो, सिय को सुकृत सारु ॥
सरद-सुधा-सदन छबिहि निंदे बदन,
अरुन आयत नव नलिन-लोचन चारु ॥

इस पद में राम और लक्ष्मण के स्वाभाविक शारीरिक सौन्दर्य को रूपायित करने वाले सुंदर विशेषणों का प्रयोग विशेष रमणीथ है। तुलसी की विशेषणों के चयन में अपनी एक अद्‌भुत विशेषता है। तुलसी ने अनेक रूपवाची अस्पष्ट आकार वाले रूप को भी एक रूपवाची और स्पष्ट आकृति वाला बना दिया है। उस रूप को चाक्षुष और संवेद्य बना दिया है। तुलसी की यह काव्यकला विशेषणों के माध्यम से ही अभिहित हुई है। इस पद में राम के लिए शोभा का शृंगार देहधारी अनेक नयनों का फल, सीता के पुण्यों का सार आदि विशेषण स्पष्ट आकृति को प्राप्त हो गए हैं। तुलसी इन विशेषणों के प्रयोग से अपने चित्रांकन और भावांकन दोनों को ही सुष्ठुता प्रदान करने में सफल हुए हैं। दिनकर ने तो विशेषणों के सम्यक् प्रयोग को ही कवि-प्रतिभा का पर्याय मान लिया है। और यह

1. गीतावली—1.33.1, 2
2. साहित्यमुखी—पृ० 82, काव्य की भूयिका, पृ० 145, मिट्टी की और, पृ० 151

काव्य-प्रतिभा तुलसी में सर्वत्र विद्यमान है।

तुलसी की सौन्दर्य चेतना पूर्णतः निष्कलुष और पवित्र है। उनके अभिजात संस्कार उन्हें मर्यादित रख सके हैं।

पूजि पारवती भलेपांय परिकै।
सजल सुलोचन, सिथिल तनु, पुलकित, आवै न वचन, मन रह्यो प्रेम मरिकैं।
(गी० 1.72.1)

यह पुष्पवाटिका प्रसंग है। तुलसी सीता के मानसिक एवं शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करना चाहते हैं। उनके शब्दकोष में सुन्दर, समयानुकल और भावानुकूल विशेषणों का अभाव नहीं है। मांसल सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए उन्हें पर्याप्त अवकाश था, पर उनका दृष्टिकोण मर्यादावादी था—जगत मातृ-पितृ संभु भवानी। तेहि सिंगारु न कहौं बखानी। अतः उनकी सौदर्य चेतना पूर्णतः निष्कलुष एवं पवित्र बनी रहती है। वह सीता के लिए सजल सुलोचन, सिथिल तनु, पुलकित, आवे न वचन, मन रह्यो प्रेम मरिके आदि विशेषण-विशेषण—का प्रयोग करके अपने विचारों को पूर्णतः संवेद्य और रमणीय बनाते हैं। उनमें प्रेषणीयता का सौंदर्य भी कम नहीं हुआ है। सीता के प्रेम भरे मन की व्यंजना स्वयं ही हो गई है।

भोर जानकी जीवन जागे।
सूत मागध प्रबीन, बेनु-बीना धुनि द्वारे, गायक सरस राग रागे॥
स्यामल सलोने गात, आलस बस जंभात प्रिया प्रेम रस पागे।
उनींदे लोचन चारु, मुख-सुखमा सिंगार हेरि हारे मार भूरि भागे॥
सहज सुहाई कवि, उपमा न लहैं कवि, मुदित विलोकन लागे।
तुलसिदास निसिबासर अनूपरूप रहत प्रेम अनुरागे॥ (गी० 7.2.1.3)

यह गीतावली के उत्तरकाण्ड में रामरूप वर्णन प्रसंग है। राम के लिए स्यामल सलोने गात, आलस बस जंभात प्रेम रस पागे, उनींदे लोचन चारु, मुख-सुखमा सिंगार हेरि मार भूरि भागे आदि विशेषण राम के सौंदर्य को चारुत्व प्रदान करते हैं। तुलसी का यह सौंदर्य वर्णन पूर्णतः मर्यादित है। कालिदास इस अवसर का लाभ उठाकर मुखर मांसल सौन्दर्य को रूपायित कर सकता था, पर तुलसीदास ने 'प्रेमरस पागे' करके सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार को रमणीयता प्रदान कर दी है। इससे प्रभाव की दृष्टि से कोई कमी नहीं आई है।

तुलसी के काव्य में क्रियामूलक विशेषणों की भी अनुपम छटा है। यह उनके विशेषणों की एक समृद्ध विशेषता है। इस प्रकार के विशेषणों से विशेष्य के स्वभाव एवं क्रिया का रूप पूर्णतः स्पष्ट हो आता है।

जानी है ग्वालि परी फिरि फीकें।
मातु काज लागी लखि डाटत, बायनो दियो घर नीकें। (कृ० 10)

यहां पर ग्वालिनी फीकी पड़ गई है। यह 'फिरि' क्रियाविशेषण, पहले ग्वालिनी के क्रोध और उपालंभ फिर उसकी झें का स्पष्ट परिचायक है। उसकी कृष्ण के प्रेम में चेतनाहीनता का भी द्योतक है।

काहे को कहत बचन संवारि। (कृ० 53)

यहां पर काहे क्रियाविशेषण से उद्धव की अज्ञानता तथा प्रभावहीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

कबहूं, कपि ! राघव आवहिंगे ? (गी० 5.10)

'कबहूं' क्रिया विशेषण का प्रयोग यहां पर अत्यन्त रमणीय बन पड़ा है। यह सीता की विरहजन्य अवस्था, आतुरता तो स्पष्ट है ही उसके मन की उत्कण्ठा भी अभिव्यक्त है कि कब समय आयेगा जब वह अपनी भ्रमजनित, भेदबुद्धि का स्पष्टीकरण दे पायेगी तथा भगवान राम उसे माफ करेंगे।

जहं-जहं प्रभु विचरत, तहं-तहं सुख, दंडकवन, कौतुक न थोर। (गी० 3.1.2)

जहं-जहं और तहं-तहं क्रिया विशेषण वातावरण का निर्माण तो करते ही हैं, राम के सान्निध्य से प्राप्त सुख की भी व्यंजना करते हैं।

धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसे तुलसी उर आछे। (गी० 3.3)

राम के विभिन्न क्रिया-व्यापार तुलसी के हृदय में बस गए हैं। ये क्रिया-बिशेषण काव्य को विशिष्ट रमणीयता प्रदान करते हैं।

कहां जाऊं, कासों कहौं, को सुने दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की॥ (वि० 179.1)

यहां पर कहौं, कासों, को आदि जाऊं, कहौं सुनें आदि क्रियाओं के क्रिया-विशेषण हैं। इस प्रकार क्रिया-विशेषणों की माला सी गुम्फित हो गई है। इस प्रकार के काव्य सौन्दर्य के सुन्दर उदाहरण तुलसी में अनेक स्थलों पर प्राप्य हैं।

प्रत्येक पदार्थ की चरन सीमा होती है। यही बात विशेषण के संबंध में भी कही जा सकती है। विशेषण अनन्त है। प्रत्येक वस्तु के नापतोल के बराबर एक विशेषण उपलब्ध हो, यह सम्भव नहीं है। यही कारण है कि कवि विशिष्ट भाव को व्यक्त करने के लिए उपयोगों प्रत्ययों की सहायता से नए विशेषण गढ़ लेता है। डॉ०रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है कि 'अनुभव, के वैशिष्ट्य की सही से सही पकड़ के लिए विशेषणों का प्रयोग किया जाता है पर विशेष्य की हर मात्रा और परिमाण के लिए अलग-अलग विशेषण सुलभ हों, यह जरूरी नही हैं। तब कवि अपने चुने हुए विशेषणों को आवश्यकता के अनुरूप तराशता है।[1] तुलसी ने भी ऐसा ही किया है। तुलसी को अनेक अवसरों पर जब टकशाली शब्द भंडार से उपयुक्त

---

1. मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा—रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 130, लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण, सन् 1975 ई०

विशेषण नहीं मिल पाए तो उसने शब्दशिल्पी का कार्य भी सम्पन्न किया है। उसको अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए कहीं कभी भी शब्दों का अकाल नहीं पड़ा। तुलसी की वाणी कहीं भी अवरूद्ध नहीं होती।

तुलसी के देवी-देवताओं की महानता, विशालता और विराटता को रूपायित करने वाले विशेषण काव्य को अनूठा सौन्दर्य प्रदान करते हैं:

> अन्तर जामिनी, भवभामिनी, स्वामिनी, सों हों, कहीं चाहौं बात, मातु
> अंत तो हों लरिकैं।
> मूरति कृपालु मंजु माल दे बोलत भई, पूजो मन कामना भावतो बरू बरिकै।।
> (गीं० 1.72.2)

सीता पार्वती पूजन के लिए गई है। पार्वती के लिए अन्तर जामिनी (मनोभावना को जानने वाली) भवभामिनी (शंकर प्रिया) और स्वामिनी (सम्पूर्ण जगत की स्वामिनी) विशेषण पार्वती की शक्ति, सार्मथ्य, महानता सीता की मनोकामना को पूरा करने के संदर्भ में विशेषण महत्व रखते हैं। इन विशेषणों के प्रयोग से कवि अपनी बात को पाठक तक पहुंचाने में समर्थ हुआ है तथा काव्य का लास्य अद्भुत निखार को प्राप्त कर सका है। अर्न्यामिनी विशेषण में यह भी निहित है कि सीता को कहने की आवश्यकता नहीं है, उसके मन की बातों को वे स्वयं जानती ही हैं। मूर्ति के लिए कृपालु और माला के लिए मंजु वरू के लिए भावतो विशेषण सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार को संवेद्य बना देते हैं। कृपालु का तात्पर्य है कि सीता का मनचाहा अवश्य पूरा होगा। मंजु से माला का सौन्दर्य तो रूपायित होता ही है, आगे के क्रिया व्यापार पर भी प्रकाश पड़ता है कि सीता जयमाला डालेगी। वर के लिए भावतो का प्रयोग विशेष सौन्दर्य के लिए है।

विनय-पत्रिका से देवी-देवताओं की स्तुति में तुलसी ने जितने पदों की रचना की है। उन सभी ऐसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है जो उनके विराट रूप के परिचायक हैं:

गणेश जी के लिए—

> गाइये गनपति जगबन्दन। संकर-सुवन, भवानी नन्दन।।
> सिद्धि सदन, गज बदन, विनायक। कृपा-सिंधु, सुन्दर सब लायक।।
> मोदक-प्रिय मुद-मंगल-दाता। विद्या-वारिधि, बुद्धि विधाता।।
> मांगत तुलसी कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।। (वि० 1)

गणेश जी के लिए जगबन्दन (सारे संसार में वन्दनीय), शंकरपुत्र, पार्वतीपुत्र, सिद्धि सद न, गजमुख, विनायक (अनिष्टों। विघ्नों के नायक) उनकी कृपा से

कोई विघ्न बाधा नहीं सताती है), कृपासिंधु, सुन्दर, सबलायक (सर्वगुण सम्पन्न), मोदक प्रिय, मुदमंगलदाता, विद्यावारिधि, बुद्धि-विधाता आदि सुन्दर और सटीक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। ये गणेश के रूप को विराटत्व तथा उसकी शक्ति को महान तथा सामर्थ्यवान और उसके सौन्दर्य को अप्रतिम रूप प्रदान करते हैं। शंकर और पार्वती अपने-अपने क्षेत्रों में महान सामर्थ्य वाले है। इन दोनों का पुत्र—उसकी शक्तियां कितनी महान होंगी—यह भाव सम्प्रेषित हुआ है। विनायक विशेषण का प्रयोग अपने में विशिष्ट गरिमा लिए है, जो विघ्नों के स्वामी होंगे, उन्हीं से तो विघ्न दूर होंगे। विषमेव विषस्य औषधम्। कांटे से कांटा निकाला जा सकता है। सुन्दर सब लायक आदि विशेषणों से गणेश का स्वाभाविक सौन्दर्य अत्यन्त मनोहर रूप से प्रकाशित हो उठा है।

अलंकार के छायातिशय के परिपोषकत्व रूप विशेषण

कभी-कभी विशेषण अलंकार के सौन्दर्य को परिवृद्ध कर अपना महात्म्य सिद्ध करते हैं:

लोचन लोल चलैं भृकुटी, कल काम-कमानहुं सो तुन तोरे। (क० 2.26)

यहां प्रसिद्ध उपमान कामदेव की कमान का निरादर वर्णित होने से प्रतीप अलंकार है।

यहां प्रतीप अलंकार 'लोल' और 'चलै' (चलायमान) विशेषणों से पुष्ट हुआ है

कीर के कागर ज्यों नृप चीर, विभूषन उपप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई।।
संग-सुबन्धु पुनित-प्रिया, मनो धर्म-क्रिया-धरि देह सुहाई।
राजिव लोचन राम चहे तजि वाच को राज बटाऊ की नांई ।। (क० 2.1)

ज्यों क्रिया-विशेषण के बार-बार प्रयोग से उपमा अलंकार अत्यधिक पुष्ट हुआ है। नांई का प्रयोग काव्य को रमणीय प्रदान करता है। तीसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार की शोभा 'सु' तथा 'पुनित' विशेषणों। से बढ़ गई है क्योंकि ये विशेषण धर्म और क्रिया को संवेद्य बनाने में सहायक हैं।

रुण्डन के झुन्ड झूमि-झूमि झुकरे से नाचे। (क० 6.31)

यहां ध्वन्यर्थ व्यंजना है। झूमि झूमि क्रिया-विशेषणों के प्रयोग से सौन्दर्य वृद्धि हुई है।

जनम अनेक किए नाना विधि करमकीच चित सान्यो। (वि० 88.4)

यहां रूपक अलंकार है। अनेक और नाना विशेषण अलंकार के छायातिशय के परिपोषक हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विशेषण वक्रता की दृष्टि से तुलसी का काव्य

अतिसमृद्ध है। तुलसी द्वारा प्रयुक्त कारकगत एवं क्रियागत विशेषण स्वाभाविक सौन्दर्य के परिपोषक हैं, अलंकारों के सौन्दर्यवर्धक हैं काव्यचित गरिमा से मण्डित हैं, तथा इन्द्रियगोचर सम्मूर्तन करने में समर्थ हैं। अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव तथा अनुभूति के लिए तुलसी ने उपयुक्त विशेषणों का चयन किया है।

विशेषण विपर्यय

तुलसी के काव्य की एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्यात्मक विच्छित्ति विशेषण विपर्यय है। मूलतः यह पाश्चात्य काव्य का अलंकार है। किसी विशेष्य से स्वभावतः सम्बन्धित विशेषण को किसी दूसरे विशेष्य के साथ जोड़ना ही विशेषण विपर्यय है। विशेष्य से तात्पर्य कारक अथवा क्रिया दोनों से ही है। इसके मनोविज्ञान की मीमांसा डा० नामवर सिंह ने की है—भावावेग में वचन अपने आप बंकिम हो उठते हैं और विशेषण उलट-पुलट हो जाते हैं। एक विशेषण जिस विशेषता के लिए रूढ़ है, उसका प्रयोग प्रायः किसी अन्य विशेषता के लिए हो जाता है। निसन्देह विशेषणों के इस विपर्यय में भावावेग के साथ ही कल्पना का बहुत अधिक हाथ रहता है। जमीन आसमान के कुलाबे मिलाना कल्पना का ही काम है, कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा से भानुमती का कुनबा जुड़े या नहीं, लेकिन कल्पना अवश्य जोड़ती है। एक विशेषण को उठाकर दूसरी जगह रख आने का साहस कल्पना के बूते का है। इसीलिए छायावाद में विशेषण विपर्यय बहुत हुए।[1] प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार ऐसे स्थलों पर प्रायः साध्यव साना लक्षणा कार्य करती है अवश्य ही यहां अभिधा बाधित हो जाती है और इसका स्थान लक्षणा ले लेती है:

बांध्यों हौं कर्म-जड़ गरब निगड़ मूढ़, सुनत दुसह हौं तो सांसत्ति सहत हों।
(वि० 76.2

पहले जड़ कर्मों ने अभिमान रूपि बेड़ियों से कस लिया था। यहां पर जड़ विशेषण का प्रयोग कर्म के साथ हुआ है। कर्म चेतन और जड़ अचेतन चेष्टाहीन, स्तब्ध, नासमझ शीतल। यह विशेषण विपर्यय का सुन्दर उदाहरण है।

सीदत तुलसिदास निसवासर पार्‌यो भीम तम-कूप। (वि० 144.5)

तुलसीदास रात दिन भीषण अंधकार कूप में पड़ा हुआ दुःख भोग रहा है। भीम विशेषण का प्रयोग विराटत्व उच्यता के लिए होता है। यहां अविधा रूपी रूप की गहराई और भीषणता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

बंधु-बैर कपि-विभीषन गुरु गलानि गरत। (वि० 134.5)

ग्लानि के लिए गुरु विशेषण का प्रयोग हुआ है।

निरखहि मनहि करत हठि हरित अवनि रमनीय। (गी० 7.19.2)

---

1. छायावाद, पृ० 95।

यहां पर पृथ्वी के लिए हरी भरी प्रयोग रम्य बन पड़ा ।

कबहुंक अंब अवसर पाई ।
मेरियो सुधि धाइबी कछु करुन-कथा चलाई ॥ (वि० 41.1)

यहां कथा के लिए करुण विशेषण का प्रयोग हुआ है। करुण मानव का विशेषण है। करुणारस परमात्मा का द्रवस्वरूप है उस व्यक्ति की वैयक्ति सम्बन्धी कथा पर, इस विशेषण का विपर्यय मनोहारी बन पड़ा है।

कोक कोकनन्द, लोकप्रकासी। तेज प्रताप-रूप-रस-रासी। (बि० 2.3)

यहां सूर्य के लिए 'रस-राशि' विशेषण का प्रयोग किया गया है। रस-राशि तो समुद्र होता है। यह विशेषण विपर्यय मनोहारी है।

बावरो रावरो नाह भवानी। (वि० 5.1)

बावला व्यक्ति होता है, सांसारिक जीव होता है, परमात्मा नहीं है। विशेषण विपर्यय का यह प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है।

तुलसिदास हरि-चरन-कमल वर, देहु भक्ति अविनासी। (वि० 9.5)

अविनाशी विशेषण यहां भक्ति के साथ अत्याधिक सार्थक है। अविनाशी की कल्पना भक्त के लिए होती है यह भक्ति पर विपर्यास है।

उथपे-थपन पन थपे उथपन पन' विबुध वृन्द वन्दि छोर को (वि०31.3)

उथपे और थपे वृक्ष आदि के उखाड़ने और लगाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। यहां पर इन विशेषणों का प्रयोग विस्थापित और स्थापित के लिए विभीषण, सुग्रीव तथा रावण और बालि के लिए किया गया है। यह विशेषण-विपर्यय का सुन्दर उदाहरण है।

विरोधमूलक विशेषण

तुलसीदास ने विरोधमूलक विशेषणों का प्रयोग करके काव्य को चमत्कारमय बना दिया है। भिन्न पात्रों या वस्तुओं के रूप, गुण, अथवा क्रिया के सामान्य विशेषणों के प्रयोग द्वारा तुलसी काव्य में कलात्मक रमणीयता मिलती है।

तुलसी अकाज काज रामहि के रीझे-खीझे (वि० 76.6)

तू दयालु दीन हों, तू दानी, हों, भिखारी हों, प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी।
नाथत अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ? मो समान आरतनहि आरतिहर तोसो।
ब्रह्म तू हो जीव, ठाकुर हों चेरो, तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितू मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे। ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन सरन पावे। (वि० 79)

छोटो-बड़ो, खोटो-खरो, जग जो जहं रहत । अपने-अपने को भलो, कहु को न चहत ।। (वि॰ 133.2)

राम सों बड़ों है कौन, मोसो कौन छोटो ? राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ।

मैं पतित, तुम पतितपावना दोउ वानक बने । (वि॰ 160.1)

हों प्रसिद्ध पातकी तू पास पुंज हारी । (वि॰ 79.1)

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुवीर । अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु विषम भवमीर ।। (दो॰ 179)

तुलसीदास ने अनेक स्थानों पर विरोधमूलक विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे तुलसीदास के व्रजभाषा काव्य की आभा जगमगा उठी है ।

चमत्कारहीन विशेषण

विशेषणों का गौरव किसी विच्छत्ति को जन्म देने में है। जब विशेषणों का प्रयोग वस्तु के अत्यन्त सहज भाव को अभिव्यक्त करने में किया जाता है, तब कोई चमत्कार नहीं होता ।

सीतल सुखद छांह जेहि कर की, मेटत ताह पाप माया ।

निसिबासर तेहि कर सरोज की, चाहत तुलसीदास छाया ।।

यहां शीतल सुखद छांह का विशेषण है। शीतलता और सुखदता छांह का सहज धर्म है। अतएव इसमें कोई चमत्कार नहीं ।

भलो लोक परलोक तासु जाके बल ललित ललाम को ।

तुलसी जग जानियत नाम ते, सोच न कूच मुकाम को । (वि॰ 156)

ललित और ललाम ये दोनों ही सुन्दर के बोधक हैं ।

तुलसीदास के काव्य में विशेषणों का प्रयोग भावों की पूर्णता के लिए हुआ है। सामान्य भाषा की अपेक्षा काव्य में भाववेग अधिक होता है और इसके उतार-चढ़ाव के लिए ही विशेषणों का प्रयोग होता है। विशेषण सम्पूर्ण पदकाव्य में झंकार उत्पन्न करते हैं। परन्तु अधिक विशेषणों का प्रयोग कवि प्रतिभा का स्खलन है और इससे भाव स्फीति का जन्म होता है। प्रतिभावान कवि कम से कम विशेषणों के प्रयोग से अपने कथ्य को रूपायित कर देता है। तुलसी राम-महिमा का गान भक्तिभाव से कहते हैं वे उसके रूपों का अनेक प्रकार वर्णन करते हैं और इस-लिए विशेषणों का भी प्रयोग प्रचुरता से करते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इनका काव्यकौशल कम हो गया है। वस्तुतः तुलसी एक प्रतिभावान कवि हैं और उनके विशेषण एक विशिष्ट गरिमा लिए होते हैं। विशेषण वक्रता की दृष्टि से तुलसी का काव्य अति समृद्ध है।

संवृति वक्रता

पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का पांचवां भेद संवृत्ति वक्रता है। "जहां वैचित्र्य कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण किया जाता है, वहां संवृति वक्रता होती है।[1] यह वक्रता सर्वनाम पर आश्रित है।" सर्वनाम वह विकारी शब्द होते हैं जो सर्व (सब) नामों संज्ञाओं नाम के बदले प्रयुक्त होते हैं—सर्वस्य नाम सर्वनाम।[2] संज्ञा शब्दों में सर्वनाम का यह भेद है कि वे वस्तुओं तथा उनकी विशेषताओं और निश्चिता साक्षात् नहीं बताते हैं, लेकिन उनका निर्देश करते है। संज्ञा से सर्वनाम का यह विभेद ही उनकी विचित्रता का कारणहै 'पर सर्वनाम में एक विशेष विलक्षणता है जो संज्ञा में नही पाई जाती है। संज्ञा से सदा उसी वस्तु का बोध होता है जिसका वह (संज्ञा) नाम है, परन्तु सर्वनाम से, पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार किसी भी वस्तु का बोध हो सकता है। 'लड़का' शब्द से लड़के का ही बोध होता है, घर सड़क आदि का नहीं। परन्तु 'वह' कहने से पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार लड़का, घर, सड़क, हाथी, घोड़ा आदि किसी भी वस्तु क बोध हो सकता।[3]

कुन्तक ने अभिव्यंजना के इस अंग को मनोवैज्ञानिक भित्ति पर खड़ा किया है। भावों की सम्प्रेषण प्रक्रिया में कवि के सम्मुख ऐसी अनेक स्थितियां उत्पन्न होतीं है, जिसका संकेत मात्र करते वह चुप रह जाना चाहता है। वह कभी-कभी स्वानुभव संवेद्य वस्तु का ज्यों का त्यों कथन करना श्रेयस्कर नहीं समझता क्योंकि साक्षात् कथन से चारुत्व नष्ट होता है, वस्तुः कला का सौन्दर्य पूर्ण उद्घाटन में नहीं रहता, वरन् संवरण में रहता है। अधखुले नेत्र अच्छे लगते हैं। पाठक की चेतना में जिज्ञासा को उत्पन्न करके ये सर्वनाम उसे खुद विचारने और कल्पना करने के लिए विवश कर देते हैं। इस प्रकार पाठक काव्य व्यापार का एक अंग बन जाता है और वह कवि के अनुभवों का तारतम्य अपने अनुभवों से मिलाता है। इसी से सर्वनाम का आकर्षण और अधिक बढ़ जाता है।

काव्य का प्रत्येक अवयव औचित्य के द्वारा ही निखार पाता है। सर्वनाम के प्रयोग में भी विशेष सावधानी की आवश्यकता अपेक्षित है। श्रीकरुणापति त्रिपाठी का कहना है कि "सर्वनामों का प्रयोग भी संभल कर ही करना चाहिए—जहां पुनः पुनः सर्वनाम के प्रयोग से जी ऊब रहा हो, वहां संज्ञा का प्रयोग न कर केवल सर्वनाम के प्रयोग की उदारता भी न दिखानी चाहिए। तात्पर्य यह है कि परिस्थिति के अनुसार सर्वनाम का प्रयोग मितव्ययी पुरुष को भांति करना

1. हि० व० जी० पृ० 2-16
2. हि० व० जी०, पृ० 237
3. हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु, पृ० 73

चाहिए ।[1]

कुन्तक ने संवृति वक्रता के छः अवान्तर भेदों का उल्लेख किया है। इसका प्रथम भेद वहां होता है जहां किसी सुन्दर वस्तु का वर्णन संभव होने पर भी साक्षात् कथन से कवि इसलिए बचता है कि उससे उसका सौन्दर्य परिमित हो जाएगा। ऐसी स्थिति में सामान्य वाचक सर्वनाम उसे आच्छादित करके उसके कार्य को कहने वाले उसके अतिशय के बोधन परक किसी अन्य वाक्य से उसकी प्रतीति कराई जाती है ।[2]

1. सहज सलोने राम-लषण ललित नाम, जैसे सुने तैसेई कुंवर सिरमौर हैं ।
(गी० 1.73.2)

यहां कवि का अभिप्रेत राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य का वर्णन करना है। उनके सौन्दर्य का वर्णन संभव भी है तथापि तुलसीदास उनके सौन्दर्य का सटीक वर्णन करके उसे परिमित नहीं करना चाहता। इसीलिए 'तैसेई' सर्वनाम का उपयोग कर वह उनके सौन्दर्य की अपरिसीम विच्छित्तियों का संकेत कर देता है।

2. चाहि चुमकारि चूमि लालत लावत उर, तैसे फल पावत जैसे सुबीज बये हैं।
(गी० 1.12.1)

3. को जाने, कौने सुकृत लह्यौ है लोचन लाहु, ताहि तें बारह बार कहति तोही।
(गी० 2.16.3)

कौन जाने, कहां ते आई, कौन की को ही ।। (गी० 2.19-4)

यहां कवि का अभिप्रेत राम के सौन्दर्य की अभिव्यंजना है। किन्हीं पुण्य प्रतापों के फल-स्वरूप वह लोचन लाभ मिल रहा है। सुकृतों की महत्ता और रामादि के सौन्दर्य का परिमित न करने की इच्छा से कौन आदि प्रश्नवाचक सर्वनामों के प्रयोग द्वारा उस भाव को कवि ने सङ्कृत कर दिया है। दूसरी पंक्ति की रमणीय विच्छित्ति अप्रतिम है। राम के सौन्दर्य के प्रभाव का उस सुन्दरी के ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि वह अपनी सुध-बुध खो बैठी। उसी के वर्णन के लिए कवि ने कौन, कहां, कौन, का आदि सर्वनामों की माला सी गूंथ कर उसके सौन्दर्य प्रभाव की असीमता को संवृत कर दिया है। इस सुन्दर पद में हार्दिक तन्मयता और मुग्धावस्था व्यंजित हुई है।

4. सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछै करि नैन दैसेन तिन्हें समुझाई कछु मुसुकाई चली। (क० 2.22)

यह तुलसी की काव्यकला का सुन्दरतम प्रतिमान है। यहां कछु समुझाई में

1. शैली—करुणापति त्रिपाठी, पृ० 98, संवत् 1998 ई०
2. हि० व० जी०, पृ० 237.38

जो भाव व्यंजित है वह न जाने कितनी पंक्तियों/पदों में कवि व्यक्त कर पाता जिसे उसने 'कछु' सर्वनाम से आच्छादित करके, इस भाव सौन्दर्य को भावाकाश की असीम ऊंचाइयों पर पहुंचा दिया है। इससे कथन में विशेष चारुत्व आ गया है।

5. मेरे जान इन्हें बोलियों कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ री।

(गी० 2.77.3)

जनक द्वारा किये गये ठाठों का सौन्दर्य अतिशयतापूर्ण है। उसको सीमित न करने की इच्छा से कवि 'इतौ' के प्रयोग से ठाठों के सौन्दर्य के प्रभाव-फलक अधिक विस्तृत कर देता है। इससे काव्य के चारुत्व में वृद्धि हुई है।

तुलसी जेहि आनन्द मगन मन, क्यों रसना बरने सुख सोरी।

(गी० 1.105.6)

यहां सुख का सौन्दर्यानुभव अपनी चरमसीमा पर है। उसे कवि ने 'सो' सर्वनाम द्वारा संवृत करके चारुत्व प्रदान किया है।

संवृति वक्रता के दूसरे प्रकार में, अपने स्वभाव सौन्दर्य के चरम सीमा पर आरूढ़ होने के कारण अतिशय युक्त वस्तु का शब्दों द्वारा वर्णन करना असंभव है। वहां सौन्दर्यातिशय अनिर्वचनीय होता है। कवि उसे शब्दबद्ध करने में अपने को असमर्थ पाता है। इस बात को दिखाने के लिए सर्वनाम से वस्तु को आच्छादित करके उसके कार्य को कहने वाले और उसके अतिशय के प्रतिपादक किसी दूसरे वाक्य द्वारा प्रकाशित किया जाता है।[1]

1. सारद-सेस-संभु निसि-बासर चिंतत रूप न हृदय समाई।
   तुलसिदास सठ क्यों करि बरनै यह छवि, निगम नेति कह गाई।।

(गी० 1.108.10)

राम का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य इतना महिमामण्डित है कि शारदा, शेष और शंभु भी उसकी थाह नहीं ले पाते। तुलसीदास उस। अप्रतिम एवं अवर्णनीय सौन्दर्य के लिए 'यह छवि' का प्रयोग करता है। उसकी छवि के कुछ ऐसे अंश हैं जो किसी की पकड़ में नहीं आते।

2. नेकु, सुमुखि चितलाई चितौरी
   राजकुंवर-मूरति रचिबे की रुचि सुबिरंचि श्रम किया है किनौरी।

(गी० 1.77.1)

यहां पर कवि ब्रह्मा ने राजकुंवर की मूर्ति गढ़ने में कितना श्रम किया होगा

---

1. हि० व० जी, पृ० 239

उसका वर्णन करने में असमर्थ है। यह राम के सौन्दर्यातिशय का प्रभाव है। इस सौन्दर्य को कवि 'कितौ' द्वारा संवृत करके काव्यसौन्दर्य को बढ़ा देता है। ब्रह्मा की रचना प्रक्रिया की कुछ रेखाएं हैं जो कवि की पकड़ से बाहर हैं।

3. नख-सिख-सुंदरता अवलोकत रह्यो न परत सुख होत चित्तौरी।
(गी० 1.77.2)

राम के सौन्दर्य अवलोकन का सुख चरम सीमा पर है। कवि उसका वर्णन करने में असमर्थ है। वह अपने भावों को 'जितौ' सर्वनाम से आच्छादित करके, काव्यसौन्दर्य में एक विशेष विच्छित्ति से भर देता है।

4. या सिसु के गुन-नाम-बड़ाई;
को कहि सकै, सुनह नरपति श्रीपति समान प्रभुताई। (गी० 1.16.1)

राम के नाम और गुणों का माहात्म्य अपनी चरम सीमा पर है। उसका वर्णन करना असंभव है। कवि 'को' प्रश्नवाचक सर्वनाम के प्रयोग से इसे संवृत करके काव्य-सौन्दर्य में अवर्णनीय अर्थ वृद्धि करता है।

संवृति वक्रता के तीसरे प्रकार में सुकुमार वस्तु उसके कार्य के अतिशय के कथन के बिना ही केवल संवृति मात्र से रमणीय होकर चरम सीमा पर पहुंच जाती है।[1] तुलसी ने इसके रम्य प्रयोग किए हैं:

1. सखि ! जब तें सीता-समेत देखे दोऊ भाई।
तब तें परे न कल, कछू न सोहाई।। (गी० 2.40.1)

यहां पर राम-लक्ष्मण सीता के सौन्दर्य का चित्रण/वर्णन कवि का उद्देश्य है। तुलसी ने 'कछु' का प्रयोग करके वर्णन को संवृत कर दिया है। इससे सुकुमार वस्तु-राम-लक्ष्मण का सौन्दर्य रमणीयत्त्व को प्राप्त हो गया है। यह संवृति वक्रता का सुन्दर उदाहरण है।

2. अवध गए घौं फिरि, कैधों चढ़े विंध्य गिरि, कैधों कहुं रहे, सो कलू न काहू कही है (गी० 2.31.1)

राम वनगमन के मार्ग का निर्देश करना कवि का उद्देश्य है। अपने कथन के सौन्दर्य को 'सौ कछू' से संवृत्त करके काव्य-सौन्दर्य को कवि ने द्विगुणित कर गया है।

3. आजु को भोर, और सो, भाई। (गी० 2.51.1)

'और' सर्वनाम से संवृत करके कवि ने भोर का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए कौशल्या की विरह वेदना को अभिव्यक्ति दी है। अतिशय कथन के बिना ही काव्य-सौन्दर्य रमणीयत्व को प्राप्त हो गया है।

---

1. हि० व० जी०, पृ० 240

4. यह संवृति वक्रता का चौथा प्रकार है, जिसमें कोई वस्तु केवल अपने अनुभव द्वारा संवेदन करने योग्य है, वाणी से नहीं कही जा सकती है, इस बात को प्रदर्शित करने के लिए संवरण की जाती है।[1]

1. जीवन-जनम लाहु, लोचन फल है इतनोई, लह्यो आजु सही, री।
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल, न जाति कही, री ।।
(गी० 1.106.2.4)

राम-सीता युगल के दर्शन का सुख स्वानुभव संवेद्य है। स्त्रियों ने उसे पूरा-पूरा प्राप्त कर लिया है। वह पूर्ण है। पूर्णानन्द स्वानुभव संवेद्य है। उसकी महत्ता को वर्णित करने के लिए कवि ने 'इतनोई' से संवृत करके काव्य-सौन्दर्य की उच्चतम सीढ़ी पर पहुंच गया है।

2. सुधा के स्नेह हू के सार ले संवारे विधि, जैसे भावते हैं, भाँति जाति न कही ।।

राम-लक्ष्मण-सीता का सौन्दर्य स्वानुभव संवेद्य है। उसका वर्णन कवि के लिए असंभव है। उस सौन्दर्यं की अभिवृद्धि करने के लिए कवि ने 'जैसे' सर्वनाम का प्रयोग किया है। यह संवरण काव्य में चारुत्व की वृद्धि करता है।

3. तुम्हारे बिरह भई गति जौन।
चित दे सुनहु, राम करुणानिधि ! जानौं कछु, पै सकों कहि हों न ।।
(गी० 5.20)

राम के विरह में जानकी जी की गति अवर्णनीय है। वह केवल अनुभव संवेद्य है। कुछ लक्ष्मण भी जानते हैं, पर उस कुछ को कहने में असमर्थ हैं। 'कछु' के द्वारा भावोत्कर्ष करने के लिए संवरण किया गया है। इस प्रकार की संवृति वक्रता का यह सुन्दरतम उदाहरण है।

4. तुलसीदास स्यामसुन्दर-विरह की दुसह दसा सो मो पै परति नहीं बरनि।
(कृ० 30)

गोपी की कृष्ण विरहजनित व्याकुलता स्वानुभव संवेद्य है। उसके वर्णन में वह अशक्य है। उस दशा के वर्णन के लिए 'सो' के द्वारा संवृत करके कवि ने काव्य को रमणीय बना दिया है।

संवृति-वक्रता का पाँचवां प्रकार वह है, जिसमें दूसरे की अनुभव संवेद्य वस्तु का वर्णन करना संभव नहीं होता, इसलिए संवरण-क्रिया का प्रयोग किया जाता है।[2]

मूरति की सूरति कही न परै तुलसी पै जाने सोई जाके उर कसकै करक सी।
(गी० 1.44.2)

---

1. हि० व० जी०, पृ० 240-41
2. हि० व० जी०, पृ० 241

संवृति वक्रता का यह सुन्दरतम उदाहरण है। कवि के लिए राम-सौन्दर्य को शब्दबद्ध करना असंभव हो गया है। इसका प्रभाव, वही जान सकता है जिसके हृदय, मानस और चित्त में उस सौन्दर्य की अनुगूंज है। इस सौन्दर्य को काव्यात्मक रमणीयता प्रदान करने के लिए कवि ने 'सोई' सर्वनाम से उसे संवृत कर दिया है। अलंकार सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कहते, वे विद्यमान सौन्दर्य को ही उत्कृष्ट बनाते हैं। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं। राम निसर्ग सुन्दर है। उसका लावण्य वर्णनातीत है। कवि ने अपनी असमर्थता प्रकट करके घनीभूत प्रभाव की मर्मस्पर्शी व्यंजना की है।

स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन तुलसी को तैसों-तैसों मन भयो जाकी जैसिये सगाई है।[1]
(गी० 1.71.4)

राम, लक्ष्मण, सीता सखियों और तुलसीदास पुष्पवाटिका में राम-सीता के मिलन पर जैसा अनुभव किया होगा, वह परानुभव संवेद्य है। कवि उसका वर्णन करने में असमर्थ है। इस भावना को सौन्दर्य प्रदान करने के लिए कवि तैसो-तैसो सर्वनाम के प्रयोग से संवृत कर देता है।

संवृति वक्रता का छठा प्रकार वह है, जिसमें कोई वस्तु स्वभाव अथवा कवि की विवक्षा से किसी दोष से युक्त महाचातक के समान कहने योग्य नहीं होती, वहाँ केवल आच्छादन के द्वारा ही सौन्दर्य को निःशेष होने से बचाया जाता है।[2] संवृति वक्रता का यह प्रकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कवि अपनी वस्तु के सौन्दर्य में दोष के भय से संवरण करता है जबकि अन्य भेदों में सौंदर्य की अतिशयता को कम न किये जाने के कारण संवरण किया जाता है।

1. राघौ जू श्री जानकी-लोचन मिलिबे को मोद कहिबे को जोगु न, मैं बाते सी बनाई हैं।
स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन तुलसी को तैसो-तैसो मन भयौ जाकी जैसिये सगाई हैं॥ (गी० 1.71.7)

यहां राम और सीता के मिलन के सौन्दर्य का वर्णन स्वभावतः अश्लील हो सकता था। उसे तुलसीदास राम-सीता के प्रति श्रद्धावश महापातक के समान अकथ्य मानता है। अपनी बात के सौन्दर्य को बनाए रखने के लिए और कुरुचि आदि को रोकने के लिए तुलसीदास लोचन मिलन की प्रसन्नता और उसके प्रभाव 'तैसो, तैसौ' सर्वनाम द्वारा संवृत कर लेता है। नयन-मिलन वासनाजन्य संभोग है। उसके वर्णन की निर्धिनता को कवि बचा जाता है।

---

1. हि० व० जी०, पृ०24।
2. वही।

2. तुलसिदास प्रभु कहौं ते बातें जे कहि भजे सबेरे। (क० 3.4)

श्रीकृष्ण ने ग्वालिनी को निश्चय ही ऐसे शब्द कहे होंगे जिनके वर्णन से अश्लीलत्व, कुरुचि, घृणा अथवा वीभत्सता झलकती होगी। कवि की विवक्षा से किसी दोष से युक्त महापातिक के समान वे सब बातें अकथ्य हैं। यदि कवि उन सबका वर्णन करे तो उनका सौन्दर्य निःशेष हो जायेगा। अतः कवि 'जै' सर्वनाम से आच्छादित करके काव्य को अधिक रमणीयत्व प्रदान करता है।

3. भूत भव ! भवत् पिशाच-भूत-प्रेत-प्रिय आपनो समाज, सिव ! आपु नीके जानिए।

नाना वेष वाहन विभूषन बसन, बास, खान-पान, बलि पूजा विधि को बखानिए।

शिव के समाज—भूत-प्रेत एवं पिशाच के वेष, वाहन, भूषण, वस्त्र, निवास-स्थान, खान-पान, बलि और पूजा-विधियों आदि के वर्णन की भयानकता, बीभत्सता और कुरुचि आदि के वर्णन से काव्य सौन्दर्य को निःशेष होने से बचाने के लिए और काव्य को अधिक चारुत्व प्रदान करने के लिए 'को बखानिए' का प्रयोग किया है।

तुलसी काव्य में सर्वनामों का प्रयोग संवृति के लिए अनेक स्थानों पर हुआ है। उनके द्वारा अपरिमित सौन्दर्य, अनिर्वचनीय सौन्दर्य, अतिशय रहित सुकुमार सौन्दर्य, स्वानुभव संवेद्य कथन, परानुभव संवेद्य अनुभूति एवं महापातक के समान अकथनीय विषयों के लिए सर्वनाम का प्रयोग उनकी सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने भावोद्दीप्त स्थलों पर—राम सीता मिलन, आदि अवसरों पर संकेतों से ही काम लिया है जिससे कविता के अर्थों की परतें धीरे-धीरे खुलती हैं। अर्थ के सायास उन्मीलन के कारण काव्य का तथा उक्ति का सौन्दर्याकर्षण बढ़ जाता है।

पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता

अभिव्यंजना के विभिन्न सौन्दर्याभिधायक उपादानों में 'प्रत्यय' भी एक अवयव है। 'जहाँ अपने प्रभाव से प्रस्तुत (अर्थ या प्रकरण) के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य को प्रकाशित करता हुआ, पद के बीच में आया हुआ प्रत्यय कुछ अन्य प्रकार के ही सौन्दर्य को प्रकट करता है, वहां प्रत्ययवक्रता का ही सौन्दर्य होता है।[1] प्रत्यय में कभी-कभी औचित्य की पुष्टि करने की इतनी अधिक क्षमता रहती है कि उसके कारण पूरा पद रसस्निग्ध तथा भावपूर्ण बन जाता है।'[2]

---

1. हि० व० जी०, 2.17
2. डॉ० बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० 301

पद के मध्य में प्रत्ययवक्रता की प्रकृति संस्कृत भाषा के अधिक अनुकूल पड़ती है। अतः ब्रजभाषा में इसके उदाहरण नहीं मिलते। तुलसीदास संस्कृत भाषा के विद्वान थे तथा उनके काव्य में समासप्रधान पद्यावली का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं तो उनकी पदयोजना पूर्णतः संस्कृत की प्रकृति से अनुशासित है। अतएव उनके काव्य में अनेकशः ऐसे स्थल उपस्थित हैं जहां पद के मध्य में प्रत्यय का सौन्दर्य प्रस्तुत विषय का वर्द्धक हुआ है:

1. ताण्डवित-नृत्य पर, डमरू-डिंडिम प्रवर, असुम इव भांति कल्यानरासी। (वि० 10.5)
2. सिरसि संकुलित कल-जूट पिंगल जटा पटल सुत कोटि विद्युच्छटामं। (वि० 11.2)
3. जयति निरुपाधि भक्ति भाव-जंत्रित-हृदय, बन्धुहित चित्राकूटाद्रि चारी।
4. जयति भरत सौमित्रि-सत्रुघ्न सेवित, सुमुख, सचिव-सेवक सुखद, सर्वदाता।
5. कालकलिजनित-मल मलिन सर्वंनर, मोह-निसि निब्रिहिजमनान्धकारं। (वि 22.9)
6. तुलसिदास प्रभु मोहजनितभ्रम, भेद बुद्धि कब बिसरावहिंगे? (गी० 5.10.5)
7. चितवत चकितकुरंग-कुरंगिनि, सब भए मगन मदन के भोरे। (गी० 3.2.5)
8. प्रिया-प्रीति प्रेरित बन-बीथिन्ह विचरत कपट-कनक-मृग संग। (गी० 3.4.1)
9. अरुन-कंज बरन चरन सोकहरन, अंकुस-कुलिस-केतु-अंकित-अवनि। (गी० 3.5.1)
10. सुन्दर स्यामल अंग, बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मेखनि। (गी० 3.5.2)
11. ब्रह्मादि संकर-गोरि पूजित पूजिहों अब जाइकै। (गी० 3.17.2)
12. प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये। (गी० 3.17.5)
13. गाल मेलि मुद्रिकां, मुदित मन पतन पूत सिर नायो। (गी० 5.1.1)
14. सुनि सुग्रीव समीत नमित-मुख, उतरु न देन चह्यौ है। (गी० 3.2.3)
15. बिलखित कुमुदनि, चकोर चक्रवाक हरष मोर, करत सोर तमचुर, गुंजत अति न्यारे। (गी० 1.39.1)

16. निरखि परमसोभा चकित चितवहिं मात। (गी० 1.40.5)

17. अरुन बनज लोचर कपोल, सुभ, ग्रुति मंडित कुंडल अति सुन्दर।
(कृ० 21.3)

18. बिकुरत श्री ब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति गई। (कृ० 24.1)

उपरिउद्धृत पंक्तियों में प्रत्यय वक्रता का चमत्कार द्रष्टव्य है। संकुतित का 'क्त' पद मध्य में आकर शिव की पिंगल जटाओं की आभा जो सौ करोड़ बिजलियों की आभा के समान है, उसकी सौन्दर्य वृद्धि का रहा है। ताण्डवित का 'इतच्' पद मध्य आकर नृत्य की शक्ति को और अधिक उत्कट बना देता है। काल-कलि जनित का 'क्त' कलियुग की भीषणताओं और मलिनताओं से सभी मनुष्यों के मन पर पड़े दुष्प्रभाव को घनीभूत करता है। नविड़ुज का जने 'क्त' मनांधकार की सघनता को प्रखर रूप से रूपायित करता है। मोहजनित भ्रम का 'क्त' सीता के हृदय की वेदना और पश्चात्ताप को प्रकट करता है। चकित का 'क्त' हिरण और हिरणियों के समूह की भीरुता और आश्चर्यवत्ता तथा मोहजन्य मूढ़ता को प्रकट करता है। प्रेरित का 'क्त' राम विषम परिस्थितियों में थकित हो जाने पर भी स्वर्णमृग का पीछा करने के लिए प्रेरित सा करता प्रतीत होता है। अंकित का 'क्त' पृथ्वी पर पड़ अकुश, वज्र और ध्वजा आदि चिह्नों को साकार रूप प्रदान करता ह्। स्यामल का 'लच्' और पीत का 'क्त' राम अगों और वस्त्रों की शोभा का द्विगुणित कर रह ह। पूजित का 'क्त' राम की महत्ता को प्रकट करता है। पुलकित का 'क्त' राम की प्रसन्नता का अभिघायक है। मुदित का 'क्त' हनु-मान क मन की प्रसन्नता में वृद्धि करता है। समीत और नमित का 'क्त' सुग्रीव के मन में उठते हुए भावों को रेखाँकित करते हैं। बिलखित का 'क्त' कुमुदिनियों और चकोरों की विह्वलता, व्याकुलता को प्रत्यक्षीकृत करता है। चकित का 'क्त' माता के ऊपर राम के सौन्दर्य के घनीभूत प्रभाव को प्रकट करता हैं। मण्डित का 'क्त' कुण्डलों के साथ कानों के सौन्दर्य में भी अभिवृद्धि करता है।

प्रत्ययवक्रता के इतने सुन्दर प्रयोग से तुलसीदास का काव्य रसस्निग्ध तथा भावपूर्ण हो गया है तथा यह प्रयोग वातावरण निर्माण में सक्षम बन पड़ा है।

आगम वक्रता

यह पदमध्य में आने वाली प्रत्ययवक्रता का ही एक अवान्तर भेद है। आगम आदि के स्वभाव से सुन्दर यह प्रकार रचना की शोभा को बढ़ाने वाली किसी अपूर्व शब्द वक्रता को उत्पन्न करता है।[1] आगम मुख सुख के कारण होता है। शब्दों के आगम से कवि एक विशिष्ट भाव झंकृति को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

---

1. हि० व० जी०, 2.18

आरम्भ में यह भाषा की लोक प्रचलित विच्छिति रही होगी जिसे बाद में व्याकरण ने आत्मसात कर लिया। तुलसीदास को भाषा, भावों की झंकृति से बड़ा मोह है। तुलसीदास में कठोर ध्वनि भावों के चित्रण में भी आगम का प्रयोग हुआ है और कोमल ध्वनियों के चयन में भी।

1. नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं, निर्मलं, निर्गुनं, निर्विकारं।

(वि० 12.3)

यहां पर करुणाकर, गंगाधर, निर्मल, निर्गुण, निर्विकार कहने से भी काम चल सकता था। पर नुम् के आगम से कथ्य की अभिव्यंजना में सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है।

2. दुष्प्राप्य, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर्क्य, दुष्पार, संसार हर सुलभ मृदु भावगम्यं।

(वि० 53.4)

यहाँ पर ष् या स् का आगम की एक अपूर्व गूंज को उत्पन्न करने में समर्थ है। परमात्मा को प्राप्त करने की कठिनता यहां व्यंजित है।

3. सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति, पाप ताप माया। (वि० 132)

छांह में नुम् का आगम छाया की मसृणता, सुखदता और शीतलता की अभिव्यंजना में वृद्धि करता है।

4. तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्म जालं (वि० 46.8)

यहाँ पर इन पदों में मुम् और नुम् का आगम सौन्दर्य की वृद्धि करता है।

5. सुपच खल मिल्ल जनमनादि हरिलोकगत नामबल विपुल मति मलिन परसी। (वि० 46-9)

यहां भील के स्थान पर भिल्ल का प्रयोग भील की दुष्टता के घनीभूत प्रभाव को अभियंजित करता है।

6. काश्यांतुमरणान्भुक्ति (वि० 4)

मुम् और नुम् के आगम से शब्द सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

7. (अ) त्याए संग कौशिक, सुनाए कहि गुनगन, आए देखि दिनकर कुल दिनकर। (गी० 1-69.3)

(ब) सुत सुरपतिहिं बंदि करि ल्यायो। (गी० 6.3.2)

8. क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि ? कौन मानि है साची ?
महिमा मृगी कौन सुकृति की खल-बच-बिसिषन बांची ?

(गी० 2.62.2)

साँची और बाँची में के आगम से भरत की दयनीयता और विह्वलता की व्यंजना से काव्य सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

9. तुलसिदास सुर-सिद्ध सराहत, धन्य विहंग बहुभागी। (गी० 3.8.3)

बिहंग में 'इ' के आगम से भावासौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

10. छन भवन, छन बाहर, बिलोकति पंत भूपर पानिकैं। (गी० 3.17.3)

शबरी की प्रतीक्षा समय की ह्विलता को प्रकट करने में पंथ में 'नुम्' के आगय ने सौन्दर्यवृद्धि की है।

11. छंगन, मंगन, अंगना खेलत चारों भाई। (गी० 1.30.1)

यहाँ पर कगन मगन का प्रयोग भी संभव था, पर चन्द्रबिन्दु के आगम से रामादि भाइयों के क्रीड़ा समय के लालित्य में मसृणता आ गई है।

12. छोटी-छोटी गोड़ियां अंगुरियां, छबीली छोटी, नख-जोति मोती मानो कमल दलनि पर।

ललित आँगन खेलैं, ठुमुक-ठुमुक चलें, झुंझुनु-झुंझुनु पांय पैंजनी मृदु मुखर। (गी० 1.33.1)

यहाँ पर चन्द्रबिन्दु के आगम से पैंजनी-स्वर झंकृत हो उठा है। पांय में विशेष सौन्दर्य है।

13. जहां बन पावनो, सुहावनो, बिहंग मृग, देखि अति लागत खेत खूंट सो। (क० 7.14)

विहग के स्थान पर बिहंग का सौन्दर्य सर्वथा स्पष्ट है।

14. बरक्खत, करक्खत, वज्जत, गज्जत, उच्चरत, जुद्ध, क्रुद्ध, विछरत। (क० 6.47)

इन शब्द पदों में क्, ज्, का आगम वातावरण निर्माण में पूर्णतः सफल हुआ है। स्पष्ट ही काव्य सौन्दर्य में निखार आ गया है।

15. जाय सो सुमट समर्थ पाड़ रन रारि न मंडै। जाय सो जती कहाय विषय बासना न छंडे। (क० 7.116)

मंडै; छंडै में नुम् के आगम से सौन्दर्यवृद्धि सर्वथा स्पष्ट है।

16. पूँछति ग्रामवधू सिय सौं 'कहौ साँवरे से, सखि रावरे को हैं। (क० 2.21)

पूंछति और सांवरे से काव्य-सौन्दर्य में जो निखार आया है वह पूछती और सावरे से न आ पाता।

17. वेद पुरान बिहाई सुपंथ, कुमारग कोटि कुचाल चली है। (क० 7.85)

सुपंथ में जो सौन्दर्य है वह सुपथ में सम्भव नहीं था।

18. मुनि-मख-रच्छन-दच्छ, सितारन, कुरुनाकर। (क० 7.112)

यहाँ पर च् के आगम से संगीत सा गूंजता प्रतीत होता है।

19. चिक्कन कुटिल अलक-अवली-छवि कहि न जाई सोभा अनूप वर। (क० 21.1)

यहां पर चिक्कन में 'क्' आगम से कुटिल अलकावली का चिकनापन बढ़ गया है।

आगम वक्रता के ऐसे सुन्दर प्रयोग तुलसी के ब्रजभाषा काव्य की सौन्दर्य वृद्धि करने में सर्वत्र सहायक हुए हैं।

वृत्ति वक्रता

सामान्यत: वृत्ति से तात्पर्य कोमला, परुषा और मधुरानामक वृत्तियों से लिया जाता है किन्तु कुन्तक निरुपित वृत्तिवैचित्र्य में वृत्ति का अर्थ समास, तद्धित्, सुब्धातु (नामधातु) आदि से है। अत: वृत्तिवैचित्र्य वक्रता का चमत्कार अव्ययीभाव आदि (समास, तद्धित, कृत आदि) वृत्तियों के सौन्दर्य से प्रकाशित होता है।[1] कुन्तक ने अव्ययीभाव समास के चमत्कार को प्रमुखता दी है। यह सौन्दर्य श्रेष्ठ कविता का अभीप्सित गुण है, क्योंकि इसके प्रयोग से संक्षिप्तता, कोमलता तथा मसृणता का सहज सन्निवेश हो जाता है। तुलसी के काव्य में वृत्ति वक्रता के चमत्कार की मनोहारी छटा बिखरी पड़ी है। तुलसी के गीतिकाव्य में अभीप्सित भावों को शब्दबद्ध करने के लिए राम के तथा अन्य देवी-देवताओं का गुणगान करने के लिए समास पद्धति का सहारा लिया गया है। तुलसी काव्य में समास, तद्धित, कृत, नामधातु आदि वृत्तियों का सौन्दर्यपूर्ण उत्कर्ष पर है।

अव्ययीभाव समास का चमत्कार वृत्तिवैचित्र्य वक्रता का महत्वपूर्ण अंग है।

1. जननी निरखति बान धनुहियां। बार-बार उर नैननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियां। (गी० 2.52.1)
2. बार-बार कर भींजि, सीस धुनि गीधराज पछताई।
   तुलसी प्रभु कृपालु तेहि औसर आइ गए दोउ भाई॥ (गी० 3.12.4)
3. फिरत न बारहि बार प्रचारयो। चपरि चोंच चंगुल हय हति, रथ खंड-खंड करि डार्यो। (गी० 3.8.1)
4. परस्पर पति-देवरहि का होति चरचा चालु। देवि ! कहु केहि हेत बोले बिपुल बानर भालु। (गी० 5.3.3)
5. अबुध, असैले, मन-मैले महिपाल भये, कछुक उलूक कछु कुमुद चकोर हैं। (गी० 1.73.5)
6. तुलसिदास सुर-सिद्ध सराहत, धन्य विहंग बड़भागी। (गी० 3.8.3)
7. तुलसी सिय बिलौकि पुलक्यो तनु, भूरिभाग भयो भायो। (गी० 5.1.4)
8. चल्यो भाजि, फिर-फिरि चितवत मुनिमख-रखवारे चीन्हें। (गी० 3.3.3)
9. जहं-जहं प्रभु विचरत तहं-तहं सुख दण्डकवन कौतुक न थोर। (गी० 3.1.2)

---

1. हि० व० जी० पृ० 2.19

10. बार-बार बर बारिज लोचन भरि-भरि बर वारि ऊर ढारति ।
(गी० 5.19.2)

11. चहुंदिसि बन संपन्न बिहंग मृग बोलत सोभा पावत । (गी० 2.50.2)

12. जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ वन-प्रतिबिम्ब तरंग ।
(गी० 2.50.5)

13. अति उदार अवतार मनुज बपु धरे ब्रह्म अज अविनासी ।
(गी० 7.38.1)

14. बिकटी, भ्रकुटी बहरी अंखियां, अनमोल कपोलन की छवि है ।
(क० 2.13)

उपर्युक्त पदों में अव्ययीभाव समास का चमत्कार सौन्दर्य है । यहाँ 'बड़भागी' और 'भूरिभाग' का सौन्दर्य द्रष्टव्य है । 'अबुध' 'असैले' आदि का प्रयोग रमणीय है । प्रतिबिम्ब, जहं-जहं, तहं-तहं, खण्ड-खण्ड, आदि के प्रयोग से कथन का सौन्दर्य निखर उठा है । अनमोल, अविनासी आदि प्रयोगों ने तुलसी के ब्रजभाषा काव्य को अद्‌भुत सौष्ठव प्रदान किया है ।

अव्ययीभाव समास तो उपलक्षण मात्र है । वृत्ति-वक्रता का क्षेत्र तो अधिक व्यापक है । इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कथन उल्लेखनीय है—'समास वक्रता से अभिप्राय एक तो चमत्कारपूर्ण समस्त शब्दों का हो सकता है, प्रत्येक मर्मज्ञ कवि कतिपय पृथक् शब्दों के समास से ऐसे नवीन शब्दों का निर्माण कर लेता है जिसका वैचित्र्य अपूर्व होता है ।·· समास वक्रता से दूसरा अभिप्राय उस सौन्दर्य का हो सकता है जो समास की पदरचना पर आश्रित रहता है, जिनके अनेक भेदों का विवेचन वामन ने अपने श्लेष, औदार्य आदि शब्दगुणों के अन्तर्गत किया है । यहां चमत्कार मूलतः शब्द रचना पर ही आधृत है—अर्थ से इसका विशेष संबंध नहीं है । हमारा अनुमान है कि अन्य प्रकार की समास वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय ऐसे ही रचना-चमत्कार से है ।[1] तात्पर्य यह है कि वृत्तियों का सौन्दर्य अव्ययीभाव समास के अतिरिक्त समस्त शब्दो के द्वारा निर्मित नवीन शब्दों एवं समास रचना में भी लक्षित होता है ।

प्रतिभाशाली कवि भाषा में रमणीयता लाने के लिए नए-नए प्रयोग किया करता है । इन प्रयोगों से अभिव्यंजना में अनिर्वचनीय सौन्दर्य आ जाता है । तुलसी ने व्यापक पैमाने पर नए शब्दों का निर्माण करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है ।

1. सुद्ध बोधायतन सच्चिदानन्द घन सज्जनानन्द वर्धन खरारी ।
(वि० 55.2)

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका— डॉ० नगेन्द्र, पृ० 253.54

बोधायतन शब्द का निर्माण बोध और आयतन से हुआ है। यह समस्त पद राम की ज्ञान और विवेक की काष्ठा को स्पष्ट रूपायित करता है।

2. कोक-कोकनद लोकप्रकासी। तेज प्रताप रूप-रस रासी। (वि० 2.3)

रस राशि समस्य शब्द का प्रयोग अनुपम है। सूर्य अपनी किरणों से जल को खींचकर वर्षा करता है। रस-राशि सटीक शब्द है। यह तुलसी की काव्य-प्रतिभा का उज्ज्वल उदाहरण है।

3. बंदि छोर बिरुदावली, निगमागम गाई। नीको तुलसीदास को तैरियै निकाई। (वि० 35.6)

बंधनों से छुड़ाने वाले के लिए बंदि-छोर समस्त शब्द का चमत्कार रमणीय है।

4. अंजन-केस सिखा जुवती तहं, लोचन सलम पठावां।

अग्निशिखा के लिए अंजन-केश शिखा समस्त शब्द का निर्माण कथन को उत्कृष्टता प्रदान करता है।

तुलसी ने दो शब्दों के समास से नए शब्दों का सृजन किया है। पर्यायवक्रता का चमत्कार किसी सीमा तक समास वक्रता के चमत्कार पर आधृत है।

डॉ० नगेन्द्र ने कुन्तक के वक्तव्य की सही समीक्षा की है और इससे समास-वक्रता के अपेक्षाकृत व्यापक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन होता है। तुलसी में इस प्रकार के भव्य प्रयोग अनेक प्राप्य हैं। विनयपत्रिका का पूर्व भाग तो सामाजिक शब्दों के शब्द विन्यास का चरम निदर्शन है और उससे देवी देवताओं की शक्ति, सामर्थ्य, गुणग्राहकता तथा दयालुता का सही बोध हो जाता है।

1. गाइये गनपति जगबन्दन ! संकर सुवन, भवानी नंदन ।।
सिद्धि—सदन, गजबदन, बिनायक। कृपासिन्धु सुन्दर सबलायक ।।
मोदक प्रिय, मुद-मंगल दाता। विद्या-वारिधि, बुद्धि-विधात ।।
माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे। (वि० 1-1.4)

इस पद की तीन पंक्तियां समस्त पदों से भरी पड़ी हैं। गणेश की महत्ता को उद्घाटित करके समस्त पद काव्य-सौन्दर्य में एक अपूर्व निखार लाते हैं।

2. विस्व-मूला सि, जनसानुकूला सि, कर-मूल धारिनि महामूल माया। (वि० 15.1)

समस्त पदों का उत्कर्ष स्वतः स्पष्ट है।

3. संत-संताप हर, विस्व विस्राम कर, राम कामारि अभिरामकारी ।। (वि० 55.1)

सुद्ध बोधायतन, सच्चिदानन्दघन, सज्जनानन्दवर्धन, खरारी ।।

सामासिक पदावली की दीर्घता राम के महात्म्य का सहज बोध कराने में सक्षम हैं।

तुलसी के काव्य में गौड़ी और वैदर्भी दोनों रीतियों के प्रयोग के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनकी संगुम्फित गौड़ी शैली और समस्तपद योजना की जटिलता का अपरिहार्य संबन्ध हृदय के पौरुष के उच्चलन से होता है। तुलसीकाव्य में यह सौन्दर्य खूब निखरा है।

समासवक्रता का चमत्कार तब और भी अधिक निखरता है जब उसके कारण अर्थ गौरव कोई काष्ठा प्राप्ति कर लेता है। वस्तुत: भाषा की किसी भी विच्छिति की चरम सार्थकता की सिद्धि अर्थगौरव के ही उत्कर्ष से होती है।

1. सिथिल-सनेह कहै, 'है सपना विधि' कैधों सति भाउ। (गी० 3.17.4)

'स्नेह से शिथिल' में तृतीया तत्पुरुष समास है। इससे स्नेह की अत्यधिकता व्यंजित है। शिथिल स्नेह से स्नेह के अतिशय और गांभीर्य में वृद्धि हो गयी है।

2. सत्यसंघ, धर्म-धुरीन रघुनाथ जू को। (गी० 2.41.3)

सत्यसंघ और धर्मधुरीन सामासिक पद राम के चारित्र्य और गौरव का प्रतिपादित करते हैं।

3. भव-ब्याल ग्रसित उरगरितुगामी। (वि० 117.5)

यहाँ पर ये दोनों समस्त पद काव्य की अतिसुन्दर अभिव्यंजना को प्रस्तुत कर रहे हैं। ब्यालों से ग्रसित भवबन्धन को वही काट सकता है जो ब्यालों के दुश्मन को वाहन के रूप में प्रयोग करता हो। इस समस्त पद युक्त अभिव्यंजना से काव्य-सौन्दर्य निखर उठा है।

4. ललित कंध, वर भुज, बिसाल उर, लेहिं कण्ठ-रेखैं चित चौरे।
(गी० 3.2.3)

कण्ठ-रेखैं में षष्ठी तत्पुरुष समास काव्य-सौन्दर्य के अपूर्व आयाम प्रस्तुत करता है। इनका वर्णन और दर्शन चित्ताकर्षक है।

5. कपट-कुरंग कनक मनिमय लखि प्रिय सों कहित हंसि बाला।
(गी० 3.3.2)

यहाँ समस्त पदों का स्वाभाविक सौन्दर्य स्वयमेव निखर उठा है।

वृत्तिवक्रता से तात्पर्य तद्धित और कृदन्त से भी है। तुलसी के गीतिकाव्य में सौन्दर्य के प्रति विशेष आग्रह है। अत: सुन्दर और कोमल भावों की व्यंजना के लिए इमनिच् प्रत्यय से बने तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग तुलसी काव्य में प्राप्य है। इमनिच् प्रत्यय से बने शब्दों में जो स्निग्धता और कोमलता रहती है, वह अन्य शब्दों में नहीं। जैसे:

1. तुलसी मैं सब भांति आपने कुलहि कालिमा लाई। (गी० 6.6.4)

हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल तद्धित का सौन्दर्य तुलसीकाव्य में नव्यतम है—

1. छांड़ो मेरे ललन ! ललित लरिकाई (कृ० 13)

2. सोइये लाल लाड़िले रघुराई।
   बछुरु कवीलो छगन मगन मेरे, कहति मल्हाइ मल्हाई।
   सानुज हिय हुलसति तुलसी के प्रभु की ललित लरिकाई।
   (गी० 1.19.1.5)

3. मोद-कंद कुल-कुमद-चंद्र रामचन्द्र रघुरैया।
   रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया।
   तुलसी दुहि पीवत सुख जनजीवत पय सप्रेम घनी घैया।
   (गी० 1.20.2.3)

4. तनमृदु मंजुल मेचकताई। झलकति बाल विभूषण झांई।
   (गी० 1.24.2)

यहां लरिकाई, मल्हाई, शब्द आई प्रत्यय के योग से तथा रघुरैया, सुरगैया, घैया आदि शब्द ऐसा प्रत्यय के योग से बने हैं। ये इसी अर्थ के वाचक दूसरे शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक हृदय संवेद्य हैं। मेचकताई में स्त्रीलिंग 'आई' प्रत्यय के प्रयोग का सौन्दर्य दर्शनीय है।

कृदन्त रूपों का चमत्कारिक प्रयोग भी अभिव्यंजना को विशेष लालित्य प्रदान करता है। तुलसी काव्य में इनका आकर्षक चमत्कार भी द्रष्टव्य है—

1. हासत ही गई बीति निसा सब, कबहुं न नींद भर सोयो। (वि० 245.4)

2. सुमिरि सनेह सुमित्रा सुत की दरकि दरार न जाई। (गी० 6.6.3)

3. मनु छिरक्त फिरत सबनि सुरंग भ्राजन उदार लीला अनंग।
   (गी० 2.48.6)

4. मन्दाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे।
   (गी० 2.50.6)

5. गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होय प्रभुपद नित नई।
   (गी० 3.17.8)

यहां पंचम उदाहरण में अंत्यानुप्रास का सौन्दर्य 'अत्' प्रत्यय के कारण हुआ है। इसी प्रकार 'इकै' प्रत्यय ने भी क्रिया रूपों को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है।

1. मृदु चित गरीब निवाज आजु बिराजिहैं गृह आइकै।
   ब्रह्मादि संकर-गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै॥
   लहि नाथ हों रघुनाथ-बानो पतित पावन पाइ के।
   दुहु और लाहु तुलसी तीसरे हु गुन गाइके॥ (गी० 3.17.2)

सुब् धातु वृत्ति के वैचित्र्य से अभिव्यंजजना को विशेष शक्ति प्राप्त होती है। संस्कृत की सुब् धातु हिन्दी में 'नामधातु' कहलाती है। मूल धातु को छोडकर कुछ धातुएं संज्ञा विशेषण आदि प्रतिपदिकों से बनती हैं, उन्हें ही नामधातु कहा जाता है। संज्ञा और विशेषणों को क्रिया में बदलने के पीछे भाषा को संक्षिप्तता और लाघव प्रदान करने की प्रवृत्ति काम करती है। इस स्थिति पर शिवबालक राम प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"संज्ञा से बनी हुई क्रिया जात बदलने के कारण ज्यादा कट्टर और ताकतवर हो जाती है। किसानों, मजदूरों की जिन्दगी में ऐसे नाममूल क्रियापद काफी पाये जाते है। संज्ञा को क्रिया में बदलने का मुख्य कारण आदमी की किफायत सारी और आलस्यप्रियता है।[1] तुलसी में यह प्रवृत्ति अनेक स्थानों पर प्राप्य हैं:

1. करौं बयारि, बिलंविय बिटपतर, भार्रों हौं चरन-सरोरुह धूरि।
(गी० 2.13.2)
2. दुखबहु मोरे दास जनि, मानेहु थोरि रजाई। (गी० 2.47.18)
3. लोकपाल, सुर, नाग, मनुज सब परे बन्दि कब मुक्तावहिंगे ?
(गी० 5.10.14)
4. तुलसी आइ पवनसुत विधि मानो फिरि निरमये हैं। (गी० 6.5.5)
5. चरचा चर निसों चरची जानमनि रघुराई। (गी० 7.27.1)

बिलंबिय नामधातु का प्रयोग अनिर्वचनीय चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। मुक्तावहिंगे में संसार की प्राणियों का दुःख और वेदना से छूटने के लिए आर्त्त पुकार अभिव्यंजित है। दुखबहु का प्रयोग आश्वासनदाता के स्वभाव को घोषित कर रहा है। निरमए में एक विशिष्ट मसृण भाव आया है। 'चरची' का सौन्दर्य निखर उठा है।

वृत्तिवैचित्र्य वक्रता की दृष्टि से तुलसी काव्य का अध्ययन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तुलसी का गीतिकाव्य विशिष्ट कसावट और संघटना से युक्त है। वृत्ति वैचित्र्य का ही यह चमत्कार है। तुलसी के शब्दों की कसावट में एक सुडौलता और तराश में निपुणता है। तुलसी समास शैली का उत्कृष्ट कवि स्वयंसिद्ध है।

भाववैचित्र्य वक्रता

भाव शब्द का अर्थ है क्रिया। क्रिया या भाव सदा साध्यरूप होता है। जहां काव्यशोभा के निमित्त उस क्रिया या भाव की साध्यता का भी तिरस्कार करके

1. साहित्य के सिद्धान्त और कुरुक्षेत्र-शिवबालकराय, पृ० 196

उसको सिद्ध रूप से कहा जाता है, वहां भाववैचित्र्य वक्रता कही जाती है।[1] क्रियागत साध्य रूप के अपरिपक्व होने के कारण, प्रस्तुत वस्तु की पूर्ण परिपुष्टि उससे नहीं हो पाती है, इसीलिए सिद्धरूप से उसका कथन किया जाता है जिससे वस्तु का वर्णन परिपक्व या परिपूर्ण हो जाने से वह प्रवृत अर्थ को पर्याप्त रूप से पुष्ट कर सकता है। वक्रता के इस प्रकार की स्थिति अत्यन्त भावमयी होती है। कवि जब किसी पदार्थ की अतिशयता, अधिकता, तीव्रता आदि की व्यंजना करना चाहता है। तब सिद्ध क्रिया का प्रयोग किया करता है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में इसके उदाहरण प्राप्य हैं:

1. तुलसिदास सुधि पाई निसिचर भए मनहु बिनु प्रान।
   परी मोरही रोर लंकगढ़, दईहांक हनुमान ।। (गी० 6.9.9)

राक्षसों का विनाश साध्य क्रिया है। यहां पर 'भए' सिद्ध क्रिया के प्रयोग द्वारा हनुमान् की शक्ति-सामर्थ्य की अतिशयता की व्यंजना की गई है। हनुमान् के हांक लगाते ही लंका में हाहाकार मच गया। यहां भी 'रोर परी' सिद्ध क्रिया के प्रयोग द्वारा हनुमान् के अतिशय का वर्णन किया गया है। इस प्रकार क्रिया की साध्यता का तिरस्कार करके सिद्ध रूप में कथन से काव्यसौन्दर्य में अनिर्वचनीय रमणीयता आ गई है।

2. आजु बन्यो है बिपिन देखो, राम धीर।
   मानो खेलत फागु मुद सदन बीर। (गी० 2.48.1)

यहां पर सम्पूर्ण बन प्रान्तर कामदेव का क्रीड़ास्थली बना हुआ है। 'बन्यो है' सिद्ध क्रिया के प्रयोग से वन के सौन्दर्य और मदन की प्रभावशीलता की अतिशयता व्यंजित है। इससे काव्य में सौन्दर्य का अवधान हुआ है।

3. रहे ठगि से नृपति सुनि मुनि बर के बयन। (गी० 1.51.1)

राजा दशरथ मुनिवर विश्वामित्र के वचन सुनकर ठगे से रह गये। वचनों के प्रभाव की तीव्रता 'रहे ठगि से' सिद्ध किया से पूर्णतः रूपायित है।

4. तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजीं तात पति तनय बिसारी।
   (कृ० 22.5)

'भंजीं' सिद्ध क्रिया द्वारा पिता, पति पुत्र की दशा का ख्याल न करे, कृष्ण के प्रति गोपियों की भावविह्वलता और समर्पितता प्रकट होती है। कृष्ण के प्रभाव का अतिशय प्रकट होता है। काव्य में इससे चारुत्य आ गया है।

5. तुलसौ प्रभु निहारि तहां-तहां ब्रजनारि, ठगी ठाढ़ी भग लिए रीते भरे घट हैं। (कृ० 20.3)

'ठगी ठाढ़ी' सिद्ध क्रिया से गोपियों की कृष्णप्रेम में मुग्धता व्यंजित है। इससे

1. हि० व० जी० पृ० 2.20

काव्य में रमणीयता आ गई है।

तुलसी के ब्रज भाषा काव्य में भाववैचित्र्य वक्रता के प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैः

लिंगवक्रता

लिंग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग जहां सौन्दर्य की सृष्टि करता है वहां लिंग वैचित्र्य वक्रता रहती है।[1] तुलसी काव्य में लिंगों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग प्राप्य है। इस प्रकार के वक्रता के वैचित्र्य विधान के लिए तुलसी ने लिंग परिवर्तन भी किया है पर उनके ऐसे प्रयोगों में अनेक आलोचकों ने प्रायः दोष दिखाए हैं। तुलसी वस्तुतः प्रतिभाशाली एवं सजग महाकवि थे। लिंग परिवर्तन के समय निश्चय ही उनकी दृष्टि सचेत थी और लक्ष्य-गंभीर था। लिंग परिवर्तन के माध्यम से उनकी भावप्रेषणीयता और अधिक बलवती हो उठती है।

समानाधिकरण्य प्रयोग

कुन्तक ने लिंग वक्रता के तीन अवान्तर भेद किये हैं। जहां भिन्न लिंग वाले शब्दों के समानाधिकरण्य रूप प्रयोग से कुछ अपूर्ण शोभा उत्पन्न हो जाती है, वहां लिंग वैचित्र्य-वक्रता का प्रथम भेद कहलाता है। तुलसी के कुछ रमणीय प्रयोग द्रष्टव्य हैं:

1. नख जोती मोती मानो कमल दलनि पर (गी० 1.33.1)

यहां नखज्योति का वर्णन है। ज्योति स्त्रीलिंग है। उसके लिए प्रयुक्त उपमान भी स्त्रीलिंगवाची होना चाहिए परन्तु मोती पुल्लिंग शब्द है। इस प्रकार यहां भिन्न लिंग वाले शब्दों का समानाधिरण्य रूप से प्रयोग होने के कारण लिंग वैचित्र्य वक्रता है।

2. तबते ब्रिरह रवि उदित एक रस सखि ! बिछुरन वृष पाई।

(कृ० 2.29.1)

यहां पर बिछुरन स्त्रीलिंग है और वृष पुल्लिग है। दोनों के समानाधिरण्य प्रयोग से काव्यसौन्दर्य में वृद्धि हुई।

3. प्राणमीन दिन दीन दूबरे, दसा दुसह अब आई। (कृ० 29.4)

प्राण पुल्लिग और उपमान मीन स्त्रीलिंग वाची है। समानाधिरण्य प्रयोग लिंग वक्रता का चमत्कार उत्पन्न करता है।

4. इहैं परमफलु परम बड़ाई। नख सिख रुचिर बिन्दुमाधव छवि निरखहिं नयन अघाई।

---

1. हि० व० जी० पृ० 2.29

नेत्रों को तृप्त होकर देखें, यही परमफल है, यही परम महिमा है। फल पुल्लिग और बड़ाई स्त्रीलिंग का समानाधिकरण्य प्रयोग उल्लेखनीय है।

5. कालकलिजनित मलमलिन मन सर्वनर, मीहनिसि निबिडजमनांधकारं।
(वि० 62.1)

यहां मोह पुल्लिग है और निशि स्त्रीलिंग। दोनों का समानाधिकरण्य प्रयोग काव्यसौन्दर्य में वृद्धि कर रहा है।

6. श्रवन-सुख करनि, भव सरिता-तरनि, गावत तुलसीदास कीरति पवनि।
(गी० 3.5.5)

यहां भव पुल्लिग और सरिता स्त्रीलिंग का समानाधिरण्य प्रयोग काव्य के चारुत्व की वृद्धि करने में सक्षम है।

7. बट, बकुल, कदंब, पनस, रसात। कुसुमित तरु-निकर कुख-तमाल।
मानो बिबिध बेष घरे छैल-यूथ। बिच बीच लता ललना- बरुथ।
(गी० 2.48.2)

यहां वृक्ष-युवकों और लता-ललनाओं का साथ-साथ वर्णन सभिप्राय है। कामदेव का फाग तभी तो श्री, शोभा, को प्राप्त हो सकेगा जब पुरुष-स्त्री साथ हों।

8. करि किंकिनी पग पेंजनि बाजैं। पंकज पानि पहुंचिआं राजैं।।
कठुला कंठ बफनहा नीके। नयन-सरोज-पयन-सरसी के।।
(गी० 1.31.3)

यहां राम के सौन्दर्य का वर्णन है। कवि ने स्त्रीलिंग किंकिणी, पैंजनी, पहुंची के साथ पुल्लिग कठुला और बघनखा के प्रयोग से सौन्दर्य में वृद्धि की है।

9. तनदुति मोरचन्द जिमि झलकें। (गी० 1.31.2)

यहां पर द्युति स्त्रीलिंग और मोरचन्द्र पुल्लिग है।

10. पन परिताप, चाप-चिंता-निसि, सोच-सकोच तिमिर नहीं थोरी।
(गी० 1.104.2)

यहां पर परिताप और चाप पुल्लिग के साथ चिन्ता-निशि स्त्रीलिंग का समानाधिकरण्य प्रयोग काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि कर रहा है।

11. सोवत सपने हूं सहै संसृति-संताप के। बूड़यो मृगबारि, खायो जेवरी को सांप रे। (वि० 73.2)

यहां पर जेवरी (स्त्रीलिंग) और सांप (पुल्लिग) का समानाधिकरण्य प्रयोग काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि कर रहा है।

स्त्रीलिंग का प्रयोग

लिंगवैचित्र्य वक्रता का दूसरा प्रकार वहां होता है, जहां अन्य लिंग संभव होने पर भी, स्त्रीनाम ही सुन्दर है, ऐसा मानकर शोभातिरेक के सम्पादन के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है।[1] कवियों द्वारा स्त्रीलिंग का प्रयोग मनोविज्ञान का सुदृढ़ भित्ति पर आधृत है। कुन्तक ने इसकी बड़ी स्वच्छ व्याख्या की है—"स्त्री का नाम ही पुरुष के लिए सुन्दर है। स्त्री का नाम ही हृदय का आकर्षण करने वाला होता है। क्योंकि वह नाम अन्य प्रकार के अपूर्व सौन्दर्य से पुरुष के मन के भीतर शृंगार आदि रसों की योजना करने के योग्य होता है।[2] अभिनव गुप्त ने भी 'तटीतारंताम्यति' का उदाहरण देकर स्त्रीलिंग के प्रयोग से चारुत्व की वृद्धि को स्वीकार किया है।[3] अतः स्त्रीलिंग का विशेष रूप से प्रयोग भावों में कोमलता एवं मसृणता लाने के लिए होता है। तुलसी का गीतिकाव्य मुख्यः गीतावली मधुर भावों की राम के सौंदर्य की चित्रावली है। कवि ने स्त्रीलिंग के अनेक रमणीय प्रयोग किये हैं:

1. किलकि-किलकि हंसे, द्वै-द्वै दतुरियां लसैं, तुलसी के मन बसैं तोतरे वचन बर। (गी० 1.33.4)

यहां दो दांत सुशोभित हैं। दांत पुल्लिग में वह सौन्दर्य न होता जो दंतुरियां में है।

2. देखत खग-निकर, मृग खनिन्हजुत, थकित बिसारि जहाँ की भंवनि।
(गी० 3.5.4)

यहां केवल मृगों के वर्णन से वह सौन्दर्य संभव नहीं था जो रमणियों के सान्निध्य से हुआ है। स्त्रीलिंग का साभिप्राय प्रयोग काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि कर रहा है।

3. जननी निरखति बान-धनुहियां। बार-बार नैननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियां। (गी० 2.52.6)

यहां पर धनुष के लिए धनुहियां का प्रयोग लाघव एवं मसृणता के लिए किया गया है।

4. गावत गोपाल लाल नींकें राग नट हैं। चलि री आलि देखन, लोयन लाहु पेखन, ठाढ़े सुरतरु तर तटिनी तट हैं। (कृ० 20.1)

तटिनी का प्रयोग सुन्दर है।

---

1. हि० व० जी० पृ० 2.22
2. वही, पृ० 255.
3. वही, पृ० 255

5. वाल भुजंगिनि निकर मनहुं मिलि रही घेरी रस जानि सुधाकर।
(कृ० 31.2)

यहां भुअंगिनि का प्रयोग सौन्दर्य में वृद्धि कर रहा है। यहां बाल सर्पिणी कोमलता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

6. ललित-ललित लघु-लघु धनु-सर कर, तैसी तरकसी कटि कसे पट पियरे।
(गी० 1.43.1)

यहां तरकसी का प्रयोग कोमलता, लघुता तथा सौन्दर्य का घनीभूत प्रभाव डालता है।

छोटिए धनुहियां पनहियाँ पगनि छोटी, दोटिए कसौटी कटी, छोटिए तरकसी। पछौटी और तरकसी स्त्रीलिंग प्रयोग के कारण कवि सौन्दर्य की सम्प्रेषणीयता में सफल हुआ है।

8. अब काहें सोचत मोचत जल समय गएं चित सूल नई। (कृ० 24.3)
यहां पर 'शूल' का स्त्रीलिंग वाची प्रयोग मनोहारी है।

9. देखि बधिक-बस 'राजमरालिनी,' लसनलाल ! छिनि लीजै।
(गी० 3.7.2)

यहां पर राजमरालिनी अपूर्व शोभा विधायक बन पड़ा है।

10. कुंअर-कुंअरि सब मंगल मूरति, नृप दोउ धर्मधुरंधर-धोरी।
(गी० 1.104.3)

यहां पर कुंअर (रामादि राजकुमार) और कुंअरि (सीतादि राजकुमारियां) सभी के लिए मूर्ति स्त्रीलिंग का प्रयोग काव्य सौन्दर्य में वृद्धि करता है।

विशेष लिंग का प्रयोग

जहां अन्य लिंग के संभव होने पर भी विशेष शोभा के लिए अर्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिंग का प्रयोग किया जाता है, वहाँ तीसरे प्रकार की लिंग वैचित्र्यवक्रता होती है। काव्य में अर्थ के अनुसार ही शब्दों का लिंग विधान होता है। कठिन, कठोर दुरुह भयंकर ओजस्वी विचारों-भावों के लिए पुल्लिग प्रयोग ग्राह्य हैं और कोमलता, मसृणता, मधुरता, आदि भावों के लिए स्त्रीलिंग प्रयोग ग्राह्य है। व्याकरण की दृष्टि से जो शब्द पुल्लिग हैं उनका स्त्रीलिंग प्रयोग और जो स्त्रीलिंग शब्द है उनका पुल्लिग प्रयोग यदि काव्य में भाव-प्रेषणीयता को सबल बनाता है तो वह ग्राह्य हैं। अर्थबोध की आत्मा से ही शब्दों के वास्तविक लिंग का उद्घाटन होता है। उन्हें रूढ़-रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'विभिन्न लिंगों के पर्याय शब्दों के मूल में प्रायः इसी

1. हि० व० जी० पृ० 2.23

प्रकार की नारीतत्व और पौरूषव्यंजक कल्पना निहित रहती है। हिन्दी में वायु और पवन में इसी आधार पर अन्तर किया जाता है। वास्तव में हिन्दी भाषा में अचेतन पदार्थों की लिंग कल्पना का आधार ही यह भावना है।[1]

कुन्तक ने अपनी इस कारिका (2.23) में लिंग वक्रता के सबसे चमत्कारी पक्ष का संकेत किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने जो उदाहरण चुने वे सभी स्त्रीलिंग के हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने ठीक ही लिखा है कि 'यहां स्त्रीलिंग के प्रयोग के जो उदाहरण दिए गए है उनकी अपेक्षा किसी अन्य लिंग के प्रयोग के उदाहरण अधिक उपयुक्त होते। क्योंकि स्त्रीलिंग के प्रयोग में विशेष चमत्कार आ जाता है। यह बात 'नामैवस्त्रीति पेशलम्,' वाली पिछली कारिका मे कही जा चुकी थी। अतः यहां स्त्रीलिंग को छोड़कर अन्य लिंग के प्रयोग चमत्कार के प्रदर्शन का उदाहरण देना उचित था।[2]

कुन्तक ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण मौलिक उद्‌भावना की थी। लिंग प्रयोग के जिस सहज सौन्दर्य की कल्पना अपने सहज प्रातिभ के बल पर कुन्तक ने की थी उसका उपयुक्त दृष्टांत उन्हें संस्कृत कविता में नहीं मिला। फलतः उन्होंने उदाहरण चयन में स्खलन किया। तुलसी में इस लिंग वैचित्र्य वक्रता के कुछ अति सुन्दर उदाहरण प्राप्य हैं।

1. वार-वार पबिपात, उपल धन बरषत बूंद बिसाल। (कृ० 18.3)

यहां पर वर्षा ऋतु की भयंकरता का वर्णन है। इन्द्र कुपित हैं। वर्षा की भयंकरता को बोधगम्य बनाने के लिए कवि ने बूंद शब्द का पुंल्लिग में प्रयोग किया है। इससे काव्य में मनोहारी चमत्कार आ गया है।

2. सुनि हंसि उठ्यो नन्द को नाहरु लियो कर कुधर उठाई। (कृ० 18.2)

श्रीकृष्ण गीतावली में श्रीकृष्ण के ललित रूप का वर्णन किया है उसके लिए स्त्रीलिंग उपमानों की योजना सर्वत्र की गई है, यहां पर इन्द्र कोप का सामसा करने के लिए तथा मेघों के गर्व का नाश करने के लिए पौरुष व्यंजक पुंल्लिग उपमान नाहर की योजना सम्पूर्ण पद को रमणीयता प्रदान करती है!

3. पन-परिताप, चाप-चिंता-निसि, सोच-सकोच-तिमिर नहीं थोरी।
(गी० 1.104.2)

यहां पर सोच-संकोच और तिमिर तीनों पुंल्लिग शब्द हैं। इनका थोरी के साथ स्त्रीलिंग प्रयोग काव्य में विशेष शोभा की वृद्धि कर रहा है। इससे यह घोषित है कि ये सभी बाधाएं राम के आने पर वश में की जा सकेंगी। अतः स्त्रीलिंग (जो कमजोरी का पर्याय होता है) का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य को बढ़ा रहा है।

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 255
2. हिन्दीवक्रोक्तिजीवित, पृ० 259

4. निज घर की बरबात विलोकहुं, हो तुम परम सयानी। (वि० 5.2)

यहां पर शिव के घर की बरबादी का वर्णन है। उसके लिए बरबात पुल्लिग शब्द बरबादी के आधिक्य का द्योतक है।

5. कोसल राय के कुअंरोटा। राजत रूचिर जनक-पुर पैठत स्याम और नीके जोटा। (गी० 1.62.1)

तुलसी में सर्वत्र जोड़ी शब्द का प्रयोग है, यहां पर जोड़ा शब्द का प्रयोग विशेष सौन्दर्य की सृष्टि कर रहा है। यह धनुषभंग के लिए जाते समय का वर्णन है। राम के लक्ष्मण के शौर्य के अभिधायक रूप पुल्लिग प्रयोग लिंग वक्रता का सुन्दर उदाहरण है।

6. रविकुल-रवि अवलोकि-सभा-सर हितचित-बारिज-बन बिकसोरी।

सभा के लिए पुलिग उपमान सर का प्रयोग हुआ है।

तुलसी-प्रतिभा जनित विरोधी लिंगों के प्रयोग से काव्य में एक रमणीय विच्छित्ति का आदान होने पर विषयवस्तु में लालित्य आ गया है। तुलसीदास का एक प्रसिद्ध प्रयोग है—मरम वचन सीता तब बोला। इसके लिए विभिन्न विद्वानों के लिए अलग-अलग मत हैं। व्याकरण की दृष्टि से कुछ लोग इस शुद्ध मानते हैं— (क्योंकि बोल अवधी में बोला जाता है। उसके लिए डोला के कारण बोला हो गया।[1] कुछ भी हो यदि तुलसी ने 'सीता बोला' का प्रयोग कठोर वचनों का प्रयोग करने के कारण पुरुषोचित पौरुष वयक्त करने के लिए किया होगा तो यह प्रयोग बड़े सुन्दर ढ़ंग से, कुन्तक की लिंग सम्बन्धी तीसरी उद्भावना की व्याख्या करता है।

क्रिया वैचित्र्य वक्रता

प्रातिपादिक रूप पद पूर्वार्द्ध के वक्र भाव का विवेचन करने के उपरान्त कुन्तक पदों के धातु रूप पूर्व भाग के सौन्दर्य का निरूपण 'क्रिया वैचित्र्यवक्रता के' अन्तंगत करते हैं। क्रिया की इस विचित्रता से वाक्य का सौन्दर्य तो बढ़ता ही है काव्यगत दोष भी छिप जाते हैं।

क्रिया वैचित्र्य -वक्रता का प्रथम भेद वहाँ देखा जा सकता है जहाँ क्रिया पूर्ण रूप से कर्ता का अन्तरंग हो जाती है।[2] तुलसी काव्य में इसके सुन्दर उदाहरण प्राप्य हैं:

1. उठि कह्यो, भोर भयो, झंगुलीं दे मुदित तहरि लखि आतुरताई।
बिहंसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु, सकुचि लगे जननी उर धाई। (कृ० 13.4)

---

1. तुलसीकाव्य मीमांसा, पृ० 383
2. हि० व० जी०, पृ० 261

विवाह के लिए देखने आने वालों के प्रति कृष्ण की आतुरता को देखकर यशोदा हंस पड़ी और कृष्ण लजाकर मां के हृदय से चिपट गए। यह लजाकर छाती से लगना, विशेष अर्थ गर्भित होता है। यहां क्रियापद कर्ता का अन्तरंग हो कर उसे भावों की व्यंजना कर रहा है।

2. सुनि सुनि चातुरी ग्वालिनी हंसि-हंसि बदन दुरावहिं। (कृ० 5.5)

हंस-हंस कर मुंह छिपाना विशेष अर्थगर्भित है। वहां क्रियापद कर्ण ग्वालिनी के मनोगत भावों को अभिव्यंजित कर रहा है। कर्ता का अंतरंग होने के कारण क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता से पुष्ट होता है।

3. सुनि हंसि उठ्यो नन्द को नाहरू, लियो कर कुधर उठाई। (कृ० 18.5)

यहां पर ईन्द्र का गर्वहरण करने के लिए 'कुघर उठा लेना' कर्ता की अंतरंग क्रिया है।

4. कौन मीर जो नीरदहि, जेहि लागि रहत बिहंग ।
मीन जल बिनु तलफि तनु तजै, सलिल सहज असंग ।।
पीर कहू न मनिहि जाकै विरह विकल भुअंग ।
व्याध विसिख बिलोकि नाहिं कलगान लुकुध कुरगं ।।
स्यामघन गुन बारि कविमनि मुरली तान तरंग ।
लग्यो मन बहु भांति तुलसी होई क्यों रसमंग ।।

यह कर्ता की अंतरंग क्रियापद प्रस्तुति का अति सुन्दर उदाहरण है। बादल चातक की परवाह नहीं करता। जल मछली की पीड़ा का कोई विचार नहीं करता। मणि को सर्प की पीड़ा से कोई पीड़ा नहीं होती। कलगान हरिण के प्रेम को बिल्कुल भी नहीं देखता। एकागी प्रेम में सभी शरीर त्याग कर देते हैं। उसी प्रकार स्यामघन (बादल), गुणवारि (जल), छवि मनि (मणि), मुरलि तान तरंग (कलगान आदि कृष्ण के विभिन्न रूपों पर गोपी का मन कितनी ही प्रकार से (चातक) मछली, सर्प, हरिन आदि) की तरह लगा है। यहां पर 'लग्यो मन बहु भांति, कर्ता का अन्तरंग हो गया है। अतः क्रियावैचित्र्यवक्रता का भावोचित्य प्रयोग हुआ है।

क्रियावैचित्र्यवक्रता के दूसरे भेद में क्रिया कर्तृपद के अन्यथा योग से वैचित्र्य को प्राप्त होती है।[1] वस्तुतः यहां क्रिया का चमत्कार इस बात में रहता है कि वह कर्ता के धर्म के विपरीत किसी व्यापार का सम्पादन करती है। क्रिया का सौन्दर्य यहां कर्ता के सहज धर्म के विरोध में उभरता है।[2] तुलसी में इस प्रकार की क्रियावैचित्र्यवक्रता के अनेक उदाहरण हैं:

---

1. कर्त्रंतर विचित्रता-हि० व०, पृ० 263
2. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद वि० ना० सिंह

1. विष ते विषम विनय अनहित की, सुधा सनेही गारि। (कृ० 27.3)

यहां विनय को विष से अधिक भयानक और गाली को अमृत को समान बताया गया है। यह विनय और गाली का जो धर्म है उसके विपरीत क्रिया-व्यापार सम्पादित होने के कारण काव्य सौन्दर्य निखर उठा है।

2. ससि तें सीतल मोको लागे माई री। तरनि।
याके उएं लरति अधिक अंग-अंग दब, वाके उएं मिटति अनित जरनि।
(कृ० 30.1)

यहां सूर्य चन्द्रमा के सहज धर्म क्रमशः दाह और शीतलता के परस्पर विपरीत क्रिया सम्पादन से काव्य का चारुत्व बढ़ गया है।

3. तुलसी है सनेह दुखदायक, नाहिं जानत ऐसो को है। (कृ० 35.4)

स्नेह का धर्म सुख देना है। यहां विपरीत क्रिया सम्पादन से स्नेह की अतिशयता में वृद्धि हो गई है। (कहीं-कहीं सुखदायक भी लिखा है)

क्रिया वैचित्र्य वक्रता का तीसरा भेद वहां रहता है जहां क्रिया अपने ही विशेषण द्वारा अपूर्व सौन्दर्य को प्रकट करती है।[1] यथा—

1. छिन-छिन गात सुखात, छिनहिं छिन, होत हरे हैं। (गी० 6.13.2)

यहाँ पर छिन-छिन क्रिया-विशेषण सुखात और छिनहिं छिन, होत हरे हैं, क्रियाओं के क्रिया विशेषण हैं। क्रिया विशेषण के सुन्दर प्रयोग से सम्पूर्ण पद रमणीयता प्रदान कर रहा है।

2. सांवरे गोरे पथिक बीच सोहित अधिक, तिहुं त्रिभुयन-शोभा मनहु लूटी।
(गी० 2.21.2)

अधिक, 'सोहित' क्रिया का विशेषण है। इससे सीता का सौन्दर्यातिश्य व्यंजित हो रहा है और काव्य में रमणीयता आ गई है।

3. तौलों है, यह संभु सरासन, श्री रघुवर जौलों न लियो री।
(गी० 1.79.2)

तौलों ओर जौलों कालवाचक क्रिया-विशेषण काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक हैं।

4. दारू सरीर, कीट पहिले सुख, सुमिरि-सुमिरि बासर निसि धुनिए।
(कृ० 37.2

'सुमिरि समिरि' क्रिया-विशेषण प्रयोग से धुनिए क्रिया का सौन्दर्य बढ़ गया है।

5. बालघी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्हीं आगि, बिधि की दवारि, कैधों कोटि सत सूर हैं। (कृ० 5.3)

---

1. हि० व० जी०, पृ० 264

'ठौर-ठौर' क्रिया विशेषण के सुन्दर प्रयोग से काव्य में रमणीयता आ गई है। लंका में सर्वत्र आग लगने की बात से हनुमान की शक्ति का तथा रावण की पराजय का पूर्व संकेत प्राप्त होता है।

6. स्रुवा सो लंगूर, बलमूल प्रतिकूल हवि स्वाहा महा हांकि हांकि हुने हनुमान् हैं। (क्र० 5.7)

'हांकि हांकि' क्रिया-विशेषण से कार्य की निरन्तरता का बोध होता है; इससे काव्य-सौन्दर्य बढ़ गया है।

7. आरत-पुकारत, संभारत न कोउ काई व्याकुल जहां तो तहां लोग चले भागि हैं। (क्र० 5.14)

'जहां सो तहां' क्रिया-विशेषण लंकावासियों की इधर-उधर मांगने की प्रवृत्ति रूपायित करके काव्य में रमणीयता प्रदान कर रहा है।

8. परसे पगधूरि तरै तरनी, धरनी घर को समुझाइहौं जू। (क्र० 2.6)

'क्यों का प्रयोग कैसे के अर्थ में हुआ है। यहां केवट को वाकपटुता प्रदर्शित है। क्रिया-विशेषण के प्रयोग से काव्य में चारुत्व आ गया है।

9. प्रमुदित पुलकि पैत पूरे जनु विधि बस सुन्दर ढरे हैं।

'ढरे हैं क्रिया का सुन्दर विशेषण काव्य-सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान कर रहा हैं। शत्रुघ्न की प्रसन्नता को पर्णत: अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

10. चार खानि संहत अवगाहीं। अजहुं न करू विचार मन माही।
अजहूं विचारु बिकार तजि भजु राम जन-सुखदायकं। (वि० 136.9)

'अजहूं क्रिया-विशेषण से भगवान राम की आराधना करने की प्रेरणा तीव्रतर होती है। अतः काव्य में रमणीयता आ गई है।

11. तुलसी तू मेरे कहे, जपु राम-नाम दिन राति। (वि० 192.4)

दिन-रात क्रिया-विशेषण से 'जपु' क्रिया अपूर्व सौन्दर्य को प्रकट करती है। राम नाम ही सर्वस्व है, वही जीव का आधार है। वही त्राता है।

12. ले उछंग गोबिन्द मुख बार-बार निरखै। पुलकित तनु आनन्द घन-छन छन मन हरषै।
पूछत तोत-रात बात मतहि जदुराई। अतिशय सुख बाते तोहि मोहि कछु समुझाई॥ (क्र० 1.1)

यहां पर 'बार-बार', छन-छन, समुझाई क्रिया-विशेषण निरखे, हरषें, कहु क्रियाओं के विशेषण हैं। ये काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि कर रहे हैं। इनमें कहीं अधिक रीतिवाचक क्रिया-विशेषण 'तातरात' सम्पूर्ण पद में एक विशेष लावण्य की सृष्टि करता है।

क्रियावैचित्र्यवक्रता का चौथा भेद है—'उपचार मनोज्ञता'।[1] उपचार सादृश्य आदि संबंध के आधार पर एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ पर आरोप को कहते हैं। क्रिया उपचारमनोज्ञता, को तब प्राप्त होती है जब उसमें कारक से असादृश्य धर्म का आरोप किया जाता है। तुलसी काव्य में इस प्रकार के उदाहरणों का बाहुल्य है।

1. पार्‌यो कहि राम, पवन राख्यो गिरि, पुर तेहि तेज पियो है।
(गी० 6.10.2)

रखना और पीना चेतन के धर्म है, परन्तु कवि ने पवन और पुर के संबंध में इनका लाक्षणिक प्रयोग किया है।

2. तुलसीदास तेहि चतुर विधाता निजकर यह संयोग सियो री।
(गी० 1.79.3)

सिया जाना वस्तु का धर्म है। यहां सिया जाना संयोग के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह उपचार मनोज्ञता का सुन्दर उदाहरण है।

3. सुनि प्रभु वचन भालु-कपि-गन, सुर सोच सुखाई गए हैं। (गी० 6.5.5)
सूखना वस्तु का धर्म है। यहां इसका लाक्षणिक प्रयोग भालू, कपि, देवता आदि के लिए किया गया है। इससे काव्यपद रमणीय बन पड़ा है।

4. मेरो सब पुरुषारथ थाको। (गी० 6.7.1)
यह उपचार मनोज्ञता का अति सुन्दर उदाहरण है। थकना चेतन का धर्म है। यहां पुरुषार्थ पर इसका आरोप, उपचार से काव्य को मनोज्ञ बना रहा है।

5. पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों, सबहि को पापु बहावौं। (गी० 6.8.3)
मृत्यु को पटका जाना काव्य-सौन्दर्य को अपूर्व आभा से मण्डित करता है। पाप को बहाना भी लाक्षणिक प्रयोग है।

6. नाम-प्रसाद लहत रसाल फल, अब हों बबुर-बहेरे। (वि० 227.3)
बबूल और बहेड़ें के वृक्षों से आम का फल प्राप्त करना एक काव्यात्मक रमणीक प्रयोग है। चहां असादृश्य धर्म का आरोप होने से 'लहत' क्रिया उपचार मनोज्ञता को प्राप्त हुई है।

7. जेहि जांच जाचकता जरि जाई, जो जारति जोर जहानहि रे।
(क० 7.28)

जलना वस्तु का धर्म है। यहां हर याचक्रता के जलने की बात कही गई है।

---

1. हि० व० जी०, 266

जलाना आग का धर्म है, यहां पर याचकता संसार को जला रही है। इस प्रकार क्रिया का उपचार-मनोज्ञ रूप काव्य की सौन्दर्य वृद्धि में सहायक है।

क्रिया वैचित्र्य का पांचवा प्रकार है "कर्मादि का संवरण"।[1] इसमें अतिशय सौन्दर्य को लाने के लिए क्रिया के कर्म आदि का संवरण किया जाता है। "संवरण" तुलसी काव्य का एक व्यापक गुण है, क्रिया के क्षेत्र में भी इसका अभीष्ट' प्रभाव प्राप्य है।

1. मो पै तौ न कछू ह्वै आई। (गी० 6.6.1)

कछू के द्वारा कर्म का संवरण किया गया है। इससे राम की विपन्नता, दीनता, दुःख और ग्लानि का अतिशय दर्शित है। कर्म की संवृति के माध्यम से काव्य-सौन्दर्य बढ़ गया है।

2. मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपत्ति बंटावन बंधु-बाहु बिनु करौ भरोसो काको। (गी० 6.7.1)

काको द्वारा कर्म की संवृति की गई है। राम का विश्वास-आधार कोई नहीं रहा। उसके मन की पीड़ा की व्यंजना यहां अभीष्ट है 'काको' के प्रयोग से संवृति के द्वारा काव्य-सौन्दर्य बढ़ गया है।

3. ह्वै है कहा विभीषण की गति रहि सोच भरि छाती। (गी० 6.7.3)

'कहा' के द्वारा विभीषण की कल्पित दुर्दशा की संवृति से काव्य-सौन्दर्य में चारुत्व आ गया है।

4. अवधि आजु किधौं 'औरो' दिन ढैहै। (गी० 6.17.1)

'औरो' के द्वारा कर्म संवृति से माता कौशल्या की चिन्ता, आतुरता, दर्शन पिपासा की अतिशयता व्यंजित है। सर्वनाम के प्रयोग से कर्म संवृत किया गया है। इससे सम्पूर्ण पद में निखार आ गया है।

5. कहां जाऊं, कासों कहों, को सुने दीन की (वि० 179.1)

इस पदांश में कहां, क्रिया-विशेषण, कासौं कर्म (सर्वनाम) और को कर्त्ता (सर्वनाम) के प्रयोग से संवरण द्वारा तुलसी की दीनता, निर्बलता, असहायता का वर्णन अतिशय सौन्दर्य को प्राप्त कर गया है।

6. 'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ। (क० 7.106)

यहां 'कछु' सर्वनाम द्वारा कर्म का संवरण किया गया है। इससे काव्य में सौन्दर्य आ गया है और तुलसी की निर्भीकता, और अधिक स्पष्ट रूप से व्यंजित हुई है।

---

1. हि० व० जी०, पृ० 268

क्रिया वाणी के व्यापार का सबलतम अंग है। भाषा के सम्पूर्ण व्यापार का सम्पादन इसी अवयव के द्वारा होता है। इसी से मनोगत भाव एवं इच्छाएं अभिव्यक्ति पाती हैं। सम्प्रेणीयता का मूलाधार क्रिया ही है। तुलसी के ब्रजाभाषा काव्य में क्रिया पद की विच्छिति सर्वत्र विद्यमान है। क्रिया की गरिमा से काव्य में अनिर्वचनीय सौन्दर्य का प्रस्फुटन हुआ है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में कुन्तक द्वारा निरूपति पदपूर्वार्धवक्रता के सभी भेदों-प्रभेदों के उदाहरण प्राप्य हैं। इनके प्रयोग से तुलसी के ब्रजभाषा काव्य का सौन्दर्य निखर उठा है।

6

पदपरार्द्ध वक्रता

पद के पूर्वार्द्ध और धातु के 'प्रयोग-वैचित्र्य' की भांति ही पद के परार्द्ध आदि के 'प्रयोग-वैचित्र्य' भी काव्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। पद-परार्द्ध प्रत्यय रूप होता है, अतः पद-परार्द्ध वक्रता को प्रत्यय वक्रता भी कहा जाता है। कुन्तक ने पद परार्द्ध वक्रता के सात उपभेदों का उल्लेख किया है। इमी वैचित्र्य का वर्णन ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि के प्रसंग में किया है:

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धेस्तधा कारकशक्तिभिः ।
कृत-तद्धित समासैश्च घोत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित् ।।[1]

अर्थात् सुप्, तिङ्, वचन सम्बन्ध, कारक शक्ति, कृत, तद्धित और समाज से कहीं-कहीं असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि अभिव्यक्त होती है। 'च' शब्द से निपात, उपसर्ग कालादि के प्रयोग से अभिव्यक्त होते देखा गया है।[2] जिन प्रकारों का निर्देश ध्वनि के साधक रूप में आनन्दवर्धन ने किया है, उन्हीं का उल्लेख कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' में किया है। जो आनन्दवर्धन की दृष्टि में ध्वनि के निष्पादक हैं, वे ही कुन्तक के मत में वक्रता के उत्पादक तत्व हैं।

पदपरार्द्ध वक्रता के ये प्रभेद संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुकूल हैं। तुलसी का काव्य संस्कृत-गर्भित है। वे स्वयं भी संस्कृत के पण्डित थे अतः ये सभी प्रभेद उनके काव्य में सामान्यतः उपलब्ध तो हैं ही, उनकी शोभा में अभिवृद्धि करने में पूर्णतः सक्षम भी है। प्रस्तुतः प्रसंग में प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं।

काल वैचित्र्यवक्रता

प्रत्यय वक्रता या पदपरार्द्ध वक्रता का प्रथम भेद है—काल वैचित्र्य वक्रता।

---

1. हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर 3.16 1952 ई०
2. वही, पृ० 271

जहां औचित्य की अन्तरतमता से काल-विशेष रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वहां 'काल वैचित्र्यवक्रता' कहलाती है।[1] यह वक्रता काल के वैचित्र्य पूर्ण प्रयोग पर आधृत है। साधारणत: जिस काल में कथन किया जाना चाहिए, उसमें न कर के जब किसी अन्य काल में वर्णन किया जाता है, तब इस वक्रता में सौन्दर्य होता है। साथ ही इसकी रमणीयता औचित्य के अन्तरम होने से ही प्राप्त होती है। यदि औचित्य का अनुशासन नहीं रहता है, तो वह व्याकरण की त्रुटि मात्र हो कर रह जाती है। यदि कवि अतीत या अनागत को वर्तनाम में रूपान्तरित करता है तो इसके लिए एक विशेष सतर्कता की आवश्यकता होती है।

कुन्तक ने कालवक्रता के रूप में जो सौन्दर्यशास्त्रीय उद्भावना की थी, उसकी कल्पना भामह ने बहुत पहले भाविक नामक गुण में कर ली थी। वे इसे केवल वाक्य का ही नहीं वरन् प्रबन्ध का भी गुण मानते हैं। उनका कथन है कि इस गुण के द्वारा काव्य में वर्णित भूत अथवा भविष्य के विचार इतने प्रत्यक्षमान हो जाते हैं कि वे वर्तमान में घटिक ही से लगते हैं।[2]

कवि त्रिकालदर्शी होता है। वह वर्तमान में जीता है परन्तु अपनी दूरदर्शी दृष्टि के कारण वह अतीत एवं अनागत को आत्मसात करके पाठकों के सम्मुख इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वे घटनाएं वर्तमान में घटित हुई-सी जान पड़ती हैं। इसी को प्रत्यक्ष प्रमाणत्व कहते हैं। ऐसा ,करने से घटनाएं काल्पनिक न लगकर वास्तविक लगने लगती हैं। भामह की सौन्दर्यशास्त्रीय परिकल्पना को कुन्तक की तीक्ष्ण मेधा ने विशिष्ट गरिमा के साथ प्रस्तुत किया। पूर्व दीप्ति को भी इसी उद्भावना के अत्तर्गत रखा जा सकता है। यह गुण काव्य को अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करता है। पाश्चात्य काव्य में वर्णित ऐतिहासिक वर्तमान भी यही है। लौंगिनुस ने लिखा है—यदि आप बीती बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करें मानों वे वर्तमान में हो रही हैं तो आपकी कहानी आख्यान न रहकर वास्तविकता का रूप धारण करने लगती हैं।[3]

तुलसी प्रतिभा के धनी, असाधारण कवि थे। उनके काव्य में शब्दार्थ की सभी विच्छित्तियों का भरपूर प्रयोग मिलता है। कालवक्रता की रमणीय उद्भावना उनके काव्य को स्थान-स्थान पर सौन्दर्य-आभासित करती है।[4] उदाहरण के लिए:

---

1. हि॰ व॰ जी॰ पृ॰ 2.26
2. काव्यालंकार—व्याख्याकार देवेन्द्रनाम शर्मा, 3.53, सन् 1962 ई॰
3. काव्य में उदात्त तत्व, पृ॰ 85.86
4. वही, पृ॰ 85.86

जहां तहां बबुकि बिलोकि बुबुकारी दैत,
जरत निकेत घाओ-घाओ लागी आगि रे।
कहां तात, मात, भ्रात्र, भगिनी, भामिनी,
भाभी, छोटा छोहरा अभागे मोड़े भागि रे।
हाथी छोरो, घोरा, छोरो, महिष वृषम छोरो,
छैरी छोरो सोवे सो जगावो, जागि जागि रे।
तुलसी बिलौकि अकुलानि जातु धानि कहैं
बार बार कह्यौं पिय कपि सौं न लागि रे।। (क० 5.6)

लंका निवासियों का इधर-उधर दौड़ना, पानी के लिए चिल्लाना, घरों में खड़खड़ाहट, अग्नि, ज्वाला की चटचाहट, पुरजनों की घबड़ाहट···सब कुछ न जाने अतीत में कब घटित हुआ था, पर कवि कौशल के फलस्वरूप सभी कुछ वर्तमान में घटित प्रत्यक्षमाण प्रतीत हो रहा है। निश्चय ही वर्तमान-कालिक प्रत्ययों के प्रयोग से यहां काल वैचित्र्य वक्रता का रूप निखर आया है। इसी प्रकार—

भोर फूल बीनबे को गये फुलवाई हैं।
सीसनि टियारे, उपवीत, पीट तट करि, दोनों बाम करनि सलौने में सवाई हैं।
सखिन सहित तैरि अैसर बिधि के संजोग गिरि जाजू पूजिये को जानकी जू आई हैं। (गी० 1.71.1.3)

यहां पुष्प वाटिका प्रसंग में वर्तमान कालिक प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। इसके भीतर भूतकाल में घटित अथवा कवि-कल्पना-प्रसूत घटना का वर्तमान-कालिक वर्णन करके हमारी आंखों के सम्मुख प्रत्यक्षमाण कर दिया गया है। ऐसे ही:

ब्रज पर धन घमण्ड करि आए।
अति अपमान विचारि आपनो कोपि सुरेश पठाए।।
दमकति दुसह दसहुं दिसि दामिनि, भयो तम गगन गंभीर।
गरजत घोर वारिधर धावन प्रेरित प्रबल समीर।।
बार-बार पविपात, उपल धन बरषत बूंद विलास।
सीत समीत पुकारत आरत गौ सुत गोपी ग्वाल।।
राखहु राम कान्त यहि अवसर, दुसह दसा भइ आइ।
नंद विरोध, कियो सुरपति सौं, सौ तुम्हराइ बल पाइ।।
सुनि हंसि उठ्या गंद को नाहरु, लियो कर उधर उठाई।
तुलसिदास मधवा अपनी सो करि गयो गर्व गंवाइ।। (कृ० 18)

यह इन्द्रकोप और गोवर्धन धारण का प्रसंग है। इन्द्र के कोप से सब के हृदय में निराशा और भय व्याप्त है। वे श्रीकृष्ण की ओर याचना भरी दृष्टि से देखते हैं। श्रीकृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत उंगली पर उठा लेने से सभी के हृदय में आशा का संचार हो जाता है। पात, बरषत, पुकारत, राखुह, भई आई, बल पाई आदि क्रियाएं अतीत को वर्तमान में संक्रमित कर देती हैं। कवि की भावनाएं काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके रमणीयता का सृजन करके सहृदयों आह्लवादित करती है। उठ्यो, लियो, गयो पूर्वकालिक कृदन्त काव्य में विशेष सौन्दर्य का सृजन करते हैं। यह काल वैचित्र्य वक्रता का सुन्दर उदाहरण है।

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ौ दिन देत दये बिनु, वेद बड़ाई मानी।।
निज घर की बरबात बिलोकहु, हो तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत, श्री शारदा सिहानी।। (वि० 5)

ब्रह्मा शिवजी की उदारता से चिन्तित हैं कि यदि ऐसा ही होता रहा, तो किसी दिन उनके खजाने का दिवाला ही निकल जायेगा। ब्रह्मा का चिन्ता का यह सम्यक् चित्रण आंखों के सामने रूपायित हो उठा है। ऐसा लगता है कि वैदिक। पौराणिक युग वर्तमान में साकार हो उठा है। कुन्तक द्वारा प्रस्तुत उदाहरण "वर्षा में रास्ते दुर्लश्य हो जायेंगे" में जो चिन्ताकुलता व्यक्त है, वैसी ही चिन्ता यहां पर भी मूर्तिमान हो उठी है। यह काल-वक्रता का निक्षेप काव्य में अनिर्वचनीय रमणीयता की सृष्टि कर रहा है।

राम ! हों कौन जगत घर रहिहों ?
बार-बार भरि, अंक गोद ले, ललन कौन सौं कहिहों।।
(गी० 2.4.1)

राम वनवास की कल्पना से 'रहिहों, कहिहों' आदि भविष्य कालिक क्रियाओं के प्रयोग द्वारा कवि ने माता कौशल्या की विरह-वेदना, चिन्ता, आकुलता का चित्रण किया है। कालवक्रता के प्रयोग से काव्य में अपूर्व सौन्दर्य आ गया है:

देखे रघुपति-गति बिबुध बिबल अति,
तुलसी गहन बिन दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो, तो लों है सोचु खरो सो,
सिय समाचार प्रभु जों न लहै।। (गी० 3.10.3)

जानकी-हरण के पश्चात् राम की व्याकुलता का प्रसंग है। भीषण परिस्थितियों में दुखी राम को लक्ष्मण धीरज बंधाते हैं कि जब तक प्रभु को सीता का समाचार नहीं मिल जाता, तभी तक यह शोक खड़ा सा रहेगा। वास्तव में 'खरो' वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग का भविष्यकालिक अर्थ ही यहां काव्य की अपूर्व

विच्छित्ति का कारण रहा है। इससे काव्य में विशिष्टि सौन्दर्य का आगम हुआ है।

मेरो सुनियो, तात ! संदेसो। सीय-हरन जनि कहेहु पितासों, ह्वैहै अधिक संदेसो।

रावरे पुण्य प्रताप-अनल महं अल्प दिननि रिपु कहिहैं। कुल समेत सुरसमा दसानन समाचार सब कहिहैं।। (गी० 3.16)

तुलसी काव्य का यह अति सुन्दर रमणीय एवं लावण्यमय उदाहरण है। कालवक्रता का भी इसमें सुन्दर अभियोजन है। राम द्वारा स्वर्ग में पिता को आकुलित करने की इच्छा तथा साथ ही भविष्यत कालिक क्रिया दहि हैं और कहि हैं द्वारा अनागत घटनाओं का पूर्वाभास राम की दृढ़ इच्छा शक्ति उसका संकल्प साहस, रामोचित गरिमा को इन पंक्तियों में अभिव्यक्ति मिली है।

कंत बीस लोचन बिलोकिए कुमंत-फल,
ख्यालि लंका लाई कपि राउं की सी झौंपरी। (क० 6.27)

यह पद भी अनागत का वर्तमान चित्रण है। हनुमान् द्वारा लंकादाह आगामी आशंका का पूर्वाभास है जिसे रावण को बीस आंखों से देख लेना चाहिए। वर्तमान कालिक 'बिलोकिए' लंकादाह को अतिशय प्रदान करके काव्य में सौन्दर्य की अपूर्व आभा रही है।

बार-बार सेवक-सराहना करत राम, तुलसी सराहे रीति साहेब सुजान की।
लांबी लूम लसत लपेटि भटकत भट, देखो, देखो लखन ! लरनि हनुमान की।। (क० 6.40)

कवि कर्म काशल का सुन्दरतम उदाहरण है। करत, सराहै, लसत, पटकत, देखो, आदि वर्तमान कालिक क्रियाओं के सुष्ठु प्रयोग से राम-रावण युद्ध आंखों के समान साकार हो उठा है। कालवक्रता का प्रयोग काव्य को अनयतम रमणीयता प्रदान कर रहा है।

चतुरंग चमू पल में दलि के रन रावन राढ़ के हाड़ गढे। (क० 6.6)

गढ़े भूतकालिक क्रिया है पर इसका अर्थ है 'मरम्मत कर डालेंगे'। यह प्रयोग कालवक्रता सौन्दर्य का अभिधायक है।

महाबली बानर बिसाल माहु काल से,
कराल हैं, रहे कहां, समाहिंगे कहां मही। (क० 6.8)

यहां हैं, रहे, और समाहिंगे, इनमें से प्रत्येक प्रत्यय एक नियतकाल का बोधक होकर पदों के उत्तरार्द्ध की कुछ अद्भुत वक्रता को प्रकाशित करते हैं। ये क्रियाएं कुन्तक द्वारा उद्धृत व्यवस्यन्ति, जृम्भते, कर्ता और कम्पामहे का स्मरण दिलाते हैं। यह बड़ा ही सटीक उदाहरण है।

तुलसी जानकी दिए, स्वामी सौं सनेह किये कुसल, नतरु सब ह्वै हैं, छार छन में। (गी० ब-23.3)

ह्वै हैं भविष्यकालिक क्रिया के प्रयोग से मन्दोदरी की आशंका साक्षात् हो उठी है। इससे अपूर्व सौन्दर्य आ गया है:

भए, न हैं, न होहिंगे कबहूं भुवन भरत से भाई। (गी० 2.79.4)

यहां पर भए, हैं, होहिंगे, नियत काल बोधक क्रियाएं एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर रही हैं।

तुलसीदास ने काल का विचित्र एव प्रभावशाली प्रयोग करके घटनाओं को अधिक सजीव एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। अतीत पर वर्तमान के निक्षेपण से बीती घटनाएं प्रत्यक्ष हो उठी हैं। वर्तमान पर भविष्य के निक्षेपण से कर्त्ता की भावनाएं वाचाल हो उठी हैं। अभिव्यक्ति का यह कुशल विलास तुलसी की अद्‌भुत प्रतिभा का प्रतिमान है।

कारक वक्रता

पद परार्द्ध वक्रता का दूसरा प्रकार है—कारक वक्रता। कथन शैली में रमणीयता लाने के लिए जहां कवि सामान्य कारक का मुख्य रूप में और मुख्य कारक का सामान्य रूप में कथन करता है अर्थात् कर्ता को कर्म या करण का रूप और कर्म या करण को कर्त्ता का रूप देता है, वहां कारक वैचित्र्य वक्रता होती है।[1] इस प्रकार कवि अचेतन में भी चेतन रहने वाले स्वातंत्र्य को प्रतिपादित करते हुए अप्रधान अथवा करण आदि कारक में कर्तृत्व के आरोप से कारक विपर्यास कर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है।[2] पद्य को गद्य से अलग करने वाले नियामक तत्वों में कारक वक्रता प्रमुख है। कारक विपर्यास के कारण ही पद्य की रमणीयता, गद्य की अपेक्षा अधिक मोहक होती है। भावोद्‌वेग की स्थिति में प्रतिभाशाली कवि की अभिव्यक्ति में यह वैचित्र्य अनायास ही प्रस्फुटित हो जाया करता है। तुलसी काव्य में इसके अनेक उदाहरण प्राप्य हैं:

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बटावन बंधु—बाहु बिनु, करों भरोसो काको। (गी० 6.7.1)

यहां पर कर्त्ता नायक राम थकता है, परन्तु कारक विपर्यास के द्वारा पुरुषार्थ में कर्तृत्व का अध्यारोप काव्य को रमणीयता प्रदान कर रहा है। गीतावली का यह पद काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठतम है। यहां पर कर्म कारक का कर्त्तारूप प्रयोग काव्य सौन्दर्य में सुष्ठुता का आदान कर रहा है।

---

1. हि० व० जी० पृ० 2.27.28
2. वही, पृ० 275

आजु बन्यो है विपिन देखो राम धीर।
मानो खेलत फागु मुद मदन बीर। (गी० 2.48.1)

वन जो अचेतन है उसमें चेतन रहने वाले स्वातंत्र्य का प्रतिपादन तथा कर्तृत्व का अध्यारोप दृष्टव्य है। ऐसे रमणीक उदाहरण तुलसी में स्थल-स्थल पर प्राप्य हैं।

हाथ भींजिबो, हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु तें ह्यां कहा जात बह्यो। (गी० 2:84.1)

यदि इस पंक्ति को गद्य में लिखना चाहें तो इस प्रकार लिखेंगे—मेरे हाथ में तो हाथ मलना ही रहा है। हाथ में अधिकरण के स्थान पर कर्ता कारक का अध्यारोप काव्य सौन्दर्य में वृद्धि कर रहा है।

आगम, वेद, पुरान बखानत। (क० 7.105)

यहां पर आगम, वेद और पुराण में अधिकरण के स्थान पर कर्त्ता कारक रूप में प्रयोग काव्य को मनोहारी विच्छित्ति से सुसज्जित कर रहा है।

टूट्यो सौ न जुरैगो सरासन महेस जू को,
रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही। (क० 1.29)

सरासन कर्म है। उसमें कर्तृत्व का अध्यारोप काव्य सौन्दर्य को अपूर्व रूप से बढ़ा रहा है।

बालधी बढ़न लागी। (क० 5.3)

बालधी में कारक विपर्यास अपूर्व रमणीयता का अभिधायक है।

तो लों मिलु बेगि नहिं जों लों रन रोष कयो,
दास रथि वीर बिरुदेत बांको। (क० 6.21)

रोष का कर्ता रूप प्रयोग काव्य में अपूर्व सौन्दर्य की अभिव्यंजना करता है।

सर तोमर खेल समूह पंवारत, मारत वीर निसाचर के।
इततें तरु ताल तमाल चलें, खर खंड प्रचंड मही धर के।।
तुलसी करि के हरि-नाद मिरे, भट्ट खग्ग खगे खपुवा खर के।
नखदंतन सौं भुजदंड बिहंउत, मुंडसों मुंड परे झर के।। (क० 6.35)

रामचन्द्र के वीर योद्धा ताल तमाल आदिवृक्षों, पहाड़ों के बड़े-बड़े खण्डों से लड़ाई करते हैं। वीर खड्ग से घेरा बनाते हैं। करण का कर्त्ता में विपयस काव्य को आल्हादकारी रमणीयता की उत्पत्ति कर रहा है। ताल, तमाल, खण्ड में खग्ग का कर्त्ता रूप प्रयोग हुआ है। मुंड कर्म पर भी कर्तृत्व का अध्यारोप है।

अनुज दियो भरोसो, तोलौं है सौचु खरो सो,
सिय समाचार प्रभु जोलों न लहे। (गी० 3.10.3)

सोच भावना है। उसमें चेतनत्व और कर्तृत्व का अध्यारोप एक विशिष्ट

सौन्दर्य की परिकल्पना है ।

मेरे एको हाथ न लागी ।

गयो वपु बीति वादि कानन, ज्यों कल्प लता दव लागी । (गी० 3.12.1)

यहां पर एको, बपु, दव आदि पर कर्तृत्व का आरोप हुआ है । इससे अपूर्व काव्यविच्छित्ति का सृजन हुआ है ।

कवि के चलत सिय को मन गहवरि आयो । (गी० 5.15.1)

मन पर अधिकरण के स्थान पर कर्तृत्व का आरोप रमणीयता को बढ़ा रहा है ।

चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन-कर, मढ़े स्रवन नहिं सुनति पुकारे ।

रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहे, नित निजपद कमल निहारे ।।

(गी० 5.18.2)

नयन, चरन-कर और स्रवन, चित्रसे, गढ़े से और मढ़े के प्रयोग द्वारा जीवन्त हो उठे हैं । रसना से रटा जाता है, हाथ को रखा जाता है, आंखों से देखा जाता है, पर यहां तीनों का अपने-अपने कारक के स्थान पर कर्तृत्व प्रयोग काव्य सौन्दर्य वृद्धि का नियामक है ।

जोवन नव ढ़रत ढ़ार । (गी० 2 43.3)

यौवन से नवत्व आता है । यहां यौवन ही नवत्व को प्राप्त कर रहा है । करण का कर्त्ता प्रयोग काव्य की अनिर्वचनीय सौन्दर्य प्रदान कर रहा है ।

फटिकसिला मृदु विसाल, संकुल सुरतरु --तमाल

ललित लता जाल हरति छबि बितान की । (गी० 2.44.2)

कल्पवृक्ष समान तमाल तरु तथा ललित लता जाल से कोई अन्य चदोवे की छवि को छीनता है । इस बात को तमाल और लता जाल में कर्तृत्व का अध्यारोप करके काव्योचित सौन्दर्य को प्रस्फुटित किया गया है ।

मुएहु न मिटेगो मेरो मानसिक पछिताऊ । (गी० 2 57.1)

पछिताऊ का कर्तृत्व प्रयोग महाराज दशरथ की करुण दशा की सुन्दर अभिव्यक्ति कर रहा है । यहां कारक विपर्यास से काव्य में अपूर्व सौन्दर्य आ गया है ।

सीय-रघुवर-लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ । (गी० 2.57.3)

'आयु' नहीं भगी पद में अचेतन आयु में चेतनत्व और कर्तृत्व के आरोप से काव्य सौन्दर्य में वृद्धि हुई है ।

ता दिन सृंग बेरपुर आए । (गी० 2.68.1)

राम-सरण ते समाचार सुनि वारि बिलोचन छाए ।

यहां पर 'बारि' में कर्तृत्व का अध्यारोप एक अपूर्व काव्य विच्छित्ति का

विधायक है। 'छाए' क्रिया से सौन्दर्य की विशिष्ट व्यंजना हुई है जिससे 'वारि' का सौन्दर्य और भी घनीभूत हो गया है।

तू जो हम आदरयो। (कृ० 52.3)

इसका अर्थ हुआ—हमने तेरा जो आदर किया। यहां पर तेरा सम्बन्ध कारक का कर्मणि प्रयोग काव्य में अपूर्व विच्छित्ति का विधायक है। तू ब्रजभाषा व्याकरण में कर्त्ता रूप है। यदि आदरयो नामधातु को सकर्मक मान लें तो 'तू' कर्म वाचक ही होगा।

लग्यो मन बहु भांति तुलसी होइ क्यों रसभंग ? (कृ० 54.4)

मन कर्मकारक है पर यहां इसका कर्तृत्व रूप अनिर्वचनीय रमणीयता प्रदान कर रहा है।

तुलसी ने अपने काव्य में कारक विपर्यास द्वारा अपूर्व सौन्दर्य दृष्टि की है। कारक वक्रता का सौन्दर्य सर्वत्र छिटका मिलता है।

वचन वक्रता

वचन वक्रता कवियों के ऐसे प्रयोग में दिखाई देती है जहां वैचित्र्य वर्णन की विवक्षा से वचन का विपर्यास कर दिया है।[1] जब कभी एक वचन के स्थान पर बहुवचन या बहुवचन के स्थान पर एकवचन आदि के प्रयोग करने से काव्य में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, तब यह वक्रता होती है। कहीं कहीं निम्न बचनान्त शब्दों के समानाधिकरण्य प्रयोग में भी वचन का सौन्दर्य रहता है।

लौंगिनुस की विचारणा भी वचन वक्रता पर केन्द्रित है। उनकी मान्यता है कि 'कभी कभी एकवचन के लिए बहुवचन का प्रयोग कानों पर और भी गहरा प्रभाव डालता है और बहुवचन द्वारा अभिव्यक्त संख्याधिक्य से हमें प्रभावित करता है।[2] यह स्थिति तो एकवचन के लिए बहुवचन के प्रयोग की है। उन्होंने ऐसी रमणीय स्थिति का उल्लेख भी किया है जहां बहुवचन के लिए एक वचन का प्रयोग काव्यशोभा की वृद्धि करता है। उनके अनुसार, 'इसके विपरीत बहुसंख्यक वस्तुओं को एकवचन द्वारा प्रकट करने से कभी-कभी बड़ा उदात्त प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। बहुसंख्या को एकवचन द्वारा प्रकट करने से सामूहिक एकता का भाव अधिक पूर्णता के साथ प्रकट होता है। जहां शब्द एक वचन में हो और उन्हें बहुवचन वादी अर्थ प्रदान किया जाए, वहां यह अप्रत्याशित आवेग का चिह्न है और जहां शब्द बहुवचन में हों, वहां बहुत सी वस्तुओं के लिए सुन्दर एकवचन वाची शब्द का प्रयोग करने से विपरीत परिवर्तन के कारण आश्चर्य उत्पन्न हो

1. हि० व० जी०—2.29
2. काव्य में उदात्त तत्व, पृ० 84, प्र० सं० 1958 ई०

जाता है।[1] वचन वक्रता का प्रयोग कवि की आन्तरिक मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के लिए होता है। कभी-कभी कवि तटस्थता, आत्मनिष्ठता, वस्तु की समग्रता की अभिव्यक्ति के लिए वचन विपर्यास करता है। यदि बार-बार निरुद्देश्य रूप से वचन विपर्यास की आवृत्ति होगी तो उसे व्याकरण दोष ही माना जायेगा। अतः कारक विपर्यास की भांति औचित्य युक्त प्रयोग ही काव्य में नवीन विच्छित्ति का उन्मेष करता है।

एकवचन अन्य पुरुष के साथ सम्मान के लिए बहुवचन क्रिया का प्रयोग, उत्तम पुरुष एकवचन के साथ विशेष प्रभाव के लिए बहुवचन क्रिया का प्रयोग, समूह की बहु संख्या को एकीभूत करने के लिए एक वचन क्रिया का प्रयोग संभवतः प्रारंभ में कवि द्वारा नवीन विच्छिति के लिए किया गया होगा, जो धीरे-धीरे व्याकरण सम्मत नियम बन गया।

तुलसी में वचन विपर्यास जनित काव्य सौन्दर्य की विच्छित्ति के अति रमणीय उदाहरण प्राप्य हैं:

गावें बिबुध विमल बर बानी।
भुवन-कोटि-कल्यान-कंद जो, जायो पूत कौसिला रानी॥
मास, पास, तिथि, बान, नखत, ग्रह जोग, लगन सुभ ठानी।
जल-थल-गगन प्रसन्न साधु-मन दस दिसि हिय हुलसानी॥
बरषत सुमन, वधाव नगर नभ, हरष न जात बखानी।
ज्यों हुलास रनिवास नरेसहि, त्यों जनपद- रजधानी॥ (गी० 5.4.1.2)

यहां पर बिबुध का एक-वचन प्रयोग आनन्दातिशय प्रकट करता है। बिबुध सम्पूर्ण देवता समाज का प्रतिनिधित्व कर रहा है। 'साधु-मन' में एक वचन का प्रयोग कवि की मनोदशा को उदात्तता प्रदान कर रहा है। दस-दिसि का एक-वचन प्रयोग सामूहिक चेतना और मनोभावना का एकीभूत प्रभाव डालने में समर्थ है। सुमन का एक-वचन प्रयोग भी अभीष्ट सौन्दर्य प्रदान कर रहा है। वचन वक्रता का यह अति रमणीय प्रयोग है।

नृपति-कुंवर राजत भग जात। (गी० 2.51.1)

यहां पर कुंवर शब्द एकवचन है पर इसका प्रयोग दोनों भाइयों के लिए हुआ है। यह काव्य की अपूर्व विच्छित्ति है। इससे दोनों भाइयों का एकत्व भाव उदात्तता को प्राप्त करके सहृदयों के हृदय को आह्लादित करता है। वचन विपर्यास के ऐसे अद्भुत प्रयोग तुलसी में अनेक स्थलों पर प्राप्य हैं।

सदल सलषन हैं कुसल कृपालु, कौसल राउ! (गी० 5.4.1)

1. वही, पृ० 85

यहां कौसल राउ शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम की महानता तथा मुद्रिका द्वारा अभिव्यक्त सम्मान का परिचायक है। यह प्रयोग राम के चरित्र की उदात्तता के साथ साथ उसके राज्य के विपुल विस्तार तथा सभी चेतन-अचेतन पर प्रभाव का भी परिचायक है।

सुनि कुलवधू झरोखनि झाँकति रामचंद्र-छवि चंदवदनियाँ। (गी० 1.34.6)

यहा पर कुलवधू का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। यह प्रेमातिशय की अभिव्यंजना करके सहृदय पर एक विशिष्ट प्रभाव छोड़ता है। वचन विपर्यास से काव्य में रमणीयता आ गई है।

अरुन चरन नख जोति जगमगति, रुनझुनु करति पांय पैंजनियां।
(गी० 1.34.2)

यहाँ पर चरन का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। इससे राम चरणों का माहात्म्य अभिव्यंजित है। वचन विपर्यास काव्य सौन्दर्य का वर्धक है।

रुचिर चिबुक, रद, अधर, मनोहर, ललित नासिका लसति नथुनियां।
(गी० 34.3)

यहाँ पर रद का बहुवचन में प्रयोग सामूहिक एकता का बोधक है।

कौसल्या के विरह-वचन सुनि रोई उठीं सब रानी। (गी० 2-53.4)

यहां पर वचन और रानी का बहुवचन में प्रयोग काव्य की शोभावृद्धि कर रहा है।

सोक-विकल, मुख वचन न आवे, बिछुरे कृपानिधान। (गी० 2.59.1)

यहां पर कृपानिधान का बहुवचन में प्रयोग काव्य—शोभातिशायक है।

मेरौ अवध घों कहहु, कहा है।
करहु राज रघुराज-चरन तजि, ले लटि लोगु रहा है।
धन्य मातु, हों धन्य, प्रभु करि चाहन सब बिनु दहन दहा है।
जानहिं सिय- रघुनाथ भरत को सीत सनेह महा है।
के तुलसी जाको राम-नाम सों प्रेम नेम निवहा है। (गी० 2.64.1, 2,5)

यहाँ पर चरन, लोगु, राज समाज, सब का बहुवचन प्रयोग पर साथ में एक वचन क्रिया की योजना एक विशेष चमत्कार की सृष्टि करते हैं। शील-स्नेह और प्रेम-नेम शब्द युग्मों का एकवचन में प्रयोग भी विशेष सौन्दर्य का अभिधायक है।

इहां भालू-बंदर विसाल मेरु मंदर से,
लिए सेल साल तोरि नीरनिधि तीर के। (क० 6.31)

यहां पर सेल और साल एक वचनान्त शब्दों में प्रयोग भालू-बंदरों की वीरता शक्ति और श्रेष्ठता का परिचायक होकर काव्य को उदात्तता प्रदान कर रहा है?

इससे विशिष्ट सौन्दर्य का उद्भव हुआ है।

वेद पुरान कहे जगजान, गुमान गोविन्दसिंह भावत नाहिं। (क० 7.132)

यहां पर एकीभूत प्रभाव छोड़ने के लिए वेद पुरान शब्द युग्म का एकवचन में प्रयोग सौन्दर्य वृद्धि कर रहा है।

हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मन्द मोल बिनु डोला रे।

कवि ने 'हमहिं' बहुवचन के प्रयोग करके स्वानुभूति को सार्वजनीन बना दिया है।

यही कयि कर्म कौशल कवि प्रतिभा का परिचायक होता है। (वि० 189.2)

क्यों हों आजु होत सुचि सुपथनि ? कौन मानिहै सांची ?

महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच बिसिषन बाँची ?

(गी० 2.62.2)

यहां पर वचन और विखिषन एकवचन और बहुवचन का समानाधिकरण्य प्रयोग सौन्दर्य वृद्धि कर रहा है।

इस प्रकार देखते हैं कि तुलसीदास ने अपने ब्रजभाषा काव्य में वचन विपर्यास के सुन्दर एवं औचित्यपूर्ण प्रयोग करके काव्य शोभा को समृद्ध किया है तथा विषय वस्तु को निश्चय ही तेजस्वी आवेग प्रदान किया है।

पुरुष वक्रता

पद-परार्द्ध वक्रता का चौथा प्रकार पुरुष-वक्रता है। वक्रता का यह रूप वहाँ होता है जहाँ उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत रूप से प्रयोग होता है।[1] उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है—इन दोनों के प्रयोग में एक प्रकार की प्रत्यक्षता और तज्जन्य निकटता रहती है। कभी-कभी उदासीन भाव, सम्मान एवं निरहंकारिता आदि के लिए इन दोनों प्रत्यक्ष वाचक पुरुषों के स्थान पर अन्यत्राचक अन्यपुरुष का प्रयोग अत्यन्त सार्थक एवं व्यंजक होता ह।[2] उत्तम और मध्यपुरुष के प्रयोग के स्थान पर अन्य पुरुष के प्रयोग होने पर तो पुरुष वक्रता होगी ही, परन्तु यदि उसके स्थान पर केवल प्रगतिपदिक का प्रयोग किया जाए तो वह भी पुरुष वक्रता ही कहलाएगी।[3] पाश्चात्य काव्य शास्त्री लोंगिनुस ने पुरुष वक्रता पर विस्तार से विचार किया है। उनका कहना है कि कई बार तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वह वर्णन में पुरुष परिवर्तन करने के लिए

---

1. हि० व० जी० 2.30
2. भा० का० भूमिका—डा नगेन्द्र पृ० 261, द्वि० सं०
3. हि० व० जी०—पृ०280

लाचार हो जाता है।[1] इन वैचित्र्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है कि पुरुष का परिवर्तन अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करता है और प्रायः श्रोता को यह अनुभव होने लगता है कि जैसे वह पुरुष विपत्तियों के बीच चल रहा हो। ···इस प्रकार प्रत्यक्ष व्यक्ति रूप में संबोधन के द्वारा श्रोता जैसे स्वयं घटनास्थल पर उपस्थित होता है। ऐसा ही प्रभाव तब भी होता है, जब यह लगे कि तुम हर एक से नहीं, केवल एक व्यक्ति से बात कर रहे हो। यदि तुम अपने श्रोता को व्यक्तिगत रूप में संबोधित कर उसे सजग रखो तो वह अधिक उत्तेजित और एकाग्रचित रहेगा और सक्रिय रूप से तुम्हारे साथ सहयोग करेगा।[2] लोंगिनुस ने आगे भी लिखा है कि 'कभी कभी ऐसा भी होता है कि लेखक किसी अन्य व्यक्ति के बारे में बात करते-करते एकाएक बात को काट कर स्वयं अपने आप को उस व्यक्ति का रूप दे देता है। इस प्रकार के अलंकार से आवेग का विस्फोट प्रकट होता है। इस अलंकार का उस प्रसंग में प्रयोग अच्छा रहता है जहां किसी स्थिति की तीव्रता के कारण लेखक के लिए विराम का अवसर नहीं रहता और वह वर्णन में पुरुष परिवर्तन करने के लिए लाचार हो जाता है।'[3] पुरुष का यह चमत्कारपूर्ण प्रयोग ही कुन्तक की पुरुष वक्रता है।

पुरुष वक्रता का रम्य प्रयोग तुलसी ने किया है। आवेग के अनुकूल पुरुष विपर्याय की योजना तुलसी की विशिष्टता है।[4]

विनय पत्रिका दीन की, बापु ! आप ही बाँचो।
हिय हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय, सही करि बहुरि पूंछिए पाँचो।
(वि० 277.2)

तुलसी ने अपने लिए 'दीन' प्रातिपदिक का प्रयोग करके निरीहता, निरहंकार एवं दास्य भाव को रूपायित किया है। इस पुरुष-विपर्यास से काव्य में अपूर्व रमणीयता का प्रस्फुटन हुआ है।

पवन-सुवन ! रिपु दवन ! भरत लाल, लखन ! दीन की।
निज-निज अवसर सुधि किये, बलि जाउं, दास आस पूजिहै खास खीन की।
(वि० 278.1)

यहाँ पर उत्तम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष 'दीन' और 'दास' का सुन्दर

---

1. काव्य में उदात्त तत्व—अनु० डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन, पृ० 87, प्र० सं०
2. काव्य में उदात्त तत्त्व—अनु० डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन, पृ० 87
3. वही
4. वही

प्रयोग करके तुलसी ने काव्य पद को सौन्दर्य गरिमा से विभूषित कर दिया है।

मारुति मन, रुचि भरत की लखि लषन कही है।
कलिकालहुं नाथ। नाम सों प्रतीति-प्रीति, एक किंकर की निबही है।
सकल सभा, सुनि ले उठी, जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की, देखत, गरीब की साहब बाँह गही है।
बिहंसि राम कह्यो, 'सत्य है, सुधि में हूं लही है।'
मुदित माथ नावत, वनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ-हाथ नहीं है।
(वि० 279.1.3)

यह पद पुरुष वक्रता का सुन्दर उदाहरण है। यहां पर उत्तम पुरुष के स्थान पर 'किंकर, गरीब, अनाथ' आदि अन्य पुरुष प्रातिपदिकों का प्रयोग तथा मध्यम पुरुष के स्थान पर नाथ, गरीबनिवाज, साहब, रघुनाथ आदि का प्रयोग तुलसी की दयनीयता, निरहंकारता, निरीहता और उदासीनता का तथा राम की महत्ता, महानता तथा देवी गुणों का परिचायक है।

मैं तोहिं अब जान्यो संसार
वांधि न सकहि मोहिं हरि के बल, प्रबल कपट-आगार। (वि० 188.1)

यहां अन्य पुरुष संसार के लिए मध्यम पुरुष तोहिं का प्रयोग करके श्रोता को अत्यधिक उत्तेजित, एकाग्रचित एवं सक्रिय कर दिया है। पुरुष वक्रता इस काव्य में रमणीयता की उत्पादक है।

वलि जाउं हौं राम गुसाईं। कीजे कृपा आपनी नाईं। (वि० 195)

मध्यम पुरुष के स्थान पर 'राम गुसाईं' तथा 'आपनी' अन्य पुरुष पदों का प्रयोग करके कवि कौशल जनित काव्य रमणीयता का उत्कृष्ट सौन्दर्य यहां परिलक्षित है।

अजहुं आपने राम के करतब समुझत हित होइ।
कहं तू, कहं कोसल धनी, तो को कहा कहत सब कोइ। (वि० 193)

यहां मध्यम पुरुष के लिए राम और कोसल धनी का प्रयोग तथा उत्तम पुरुष के लिए तू और तोको का प्रयोग काव्य में विलक्षण सौन्दर्य का सर्जक है।

सब भांति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
पुलसी सुसारिबहि दियो है जनाउ सो। (वि० 182.7)

इस पद में सर्वत्र मध्यम परुष का प्रयोग हुआ है, परन्तु अंतिम पंक्ति में मध्यम पुरुष के लिए अन्य पुरुष का प्रयोग करके राम की महानता का प्रतिपादन किया है। इससे काव्य में अनिर्वचनीय रमणीयता आ गई है:

हों जड़ जीव, ईस रघुराया, तुम मायापति, हों बस माया।
(वि० 177.3)

यहां पर अन्य पुरुष ईस का प्रयोग काव्य को उदात्ता से पुष्ट कर रहा है।

रंक, निरगुनी, जितने निवाजे हैं। महाराज ! सुजन-समाज त
बिराजे हैं ॥
सांची विरुदावली न बढ़ि कहि गई है। सील सिंधु। ढील तुलसी की
की बेर मई है ॥ (वि० 180.8.9)

यहां पर महाराज और सील सिंधु, संबोधन ने काव्य पद को सजीवता प्रदान कर दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यम पुरुष श्रोता 'तू' वहां पर विद्यमान है। 'तुलसी' शब्द का अन्य पुरुष प्रयोग भी काव्य के लिए सौन्दर्यवर्धक है।

मधुकर रुसिक सिरोमनि कहियत, कौने यह रस रीति सिखाए।
बिनु आखर को गीत गाइ के, चाहत ग्वालिन ग्वाल रिझाए ॥
(कृ० 50.3)

यहां पर 'तुम' के लिए 'मधुकर' का प्रयोग तथा हम के लिए 'ग्वालिन ग्वाल' का प्रयोग काव्य सौन्दर्य का नियामक है। यह पुरुष विपर्यास काव्योचित गरिमा का सुष्ठ निर्वाह करता है।

जुगुति धूम वघारिवे की समुझिहें न गंवारि।
- जोगिनजन मुनि मंडली मों जाई रीति ढारि।
सुने तिन्ह की कौन तुलसी, जिन्हहि जीति न हारि।
सकति खारो कियो चाहत मेघहू को बारि ॥
(कृ० 53.2.3)

यहां उत्तम पुरुष के लिए गंवारि का प्रयोग तथा मध्यम पुरुष के लिए अन्य पुरुष तिन्ह का प्रयोग व्यंग्य को अत्यधिक प्रखर बनाने में सहायक है। यह पुरुष विपर्यास अपूर्व काव्य शोभा का जनक है।

ऋषिराज ! राजा आजु जनक समान को ? (गी० 1.88.1)

यहां पर जनक के लिए सम्मान-सूचक अन्य पुरुष प्रयोग काव्य में रमणीयता की वृद्धि कर रहा है।

महाराज सुकृती-समाज सब ऊपर आजु कियों हों। (गी० 3.14.2)

यहां जटायु ने राम के लिए मध्यम पुरुष का प्रयोग न करके अन्य पुरुष का प्रयोग किया है। यदि आप या तुम का प्रयोग करते तो निकटता का भाव आ जाता जो राम गरिमा के औचित्य से हीनतर होता। राम की महत्ता गरिमा के विधान के लिए अन्यपुरुष का रम्य प्रयोग काव्य की विच्छिति के लिए तुलसी काव्य-कौशल का सुन्दर उदाहरण है।

तो लों, मातु। आपु नीके रहिवो। (गी० 5.14.4)

यहां पर 'मातु' संवोधन का रम्य प्रयोग जानकी माता की सावजनीन छवि

को रूपायित कर रहा है। इससे काव्य सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

लंक-दाह उर आनि मानिवो सांचु राम-सेवक को कहिबो।

(गी० 5.14.4)

यहां पर उत्तम पुरुष के स्थान पर राम-सेवक का प्रयोग विलक्षण सौन्दर्य की सृष्टि कर रहा है।

तुलसी ने सभो प्रकार के पुरुष वक्रता के सुन्दर प्रयोग करके काव्य विच्छित्ति को अपूर्व सौन्दर्य, प्रदान किया है। इससे काव्योचित, अभिव्यंजना में वृद्धि हुई है।

उपग्रह वक्रता

पद-परार्द्ध वक्रता का पांचवां प्रकार उपग्रह वक्रता है। उपग्रह धातु पद को कहते हैं। ये धातु पद दो होते हैं—आत्मनेपद और परस्मेपद। जहां काव्य की शोभा के लिए आत्मनेपद और परस्मेपद—दोनों [पदों] में से औचित्य के कारण विशेष रूप से किसी एक का प्रयोग किया जाता है, वहां उपग्रह वक्रता होती है।[1] धातुओं के लक्षण के अनुसार नियत पद का प्रयोग आचार्यों में उपग्रह नाम से प्रसिद्ध है।[2] इस प्रकार वर्ण्य विषय के औचित्य से आत्मनेपद अथवा परस्मेपद के प्रयोग वैचित्र्य को ही उपग्रह वक्रता कहते हैं। कुन्तक ने उपग्रह वक्रता का अनुसंधान संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुकूल किया है। यह विशेषता हिन्दी भाषा में उसी रूप में नहीं पायी जाती है। आत्मनेपद आदि हिन्दी में लुप्तप्राय है। इसके कारण क्रिया में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है। किन्तु इनके संस्कार को अवशेष हिन्दीं में कर्मकर्तृ प्रयोगों में उपलब्ध है। कर्मकृर्तृ प्रयोग से जहां किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य का प्रस्फुटन होता है, वहां उपग्रह वक्रता के सौन्दर्य की ही हम झांई पाते हैं। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि इस प्रकार के कर्मकर्तृ प्रयोगों का हिन्दी में अभाव नहीं है...और कहीं-कहीं उसमें अपूर्व चमत्कार भी निहित रहता है। इसके अतिरिक्त आत्मनेपद का संस्कार तो हिन्दी में स्पष्ट लक्षित ही है—आंख खुल गई, हाथ टूट गया, जीभ कट गई आदि कर्मकृत प्रयोग ही हैं। जहां इनका प्रयोग सचेष्ट रूप में विशेष सौन्दर्य की व्यंजना करने के लिए किया जाता है, वहां हिन्दी प्रयोगों में भी निश्चय ही उपग्रह-वक्रता का चमत्कार वर्तमान रहता है।[3] तुलसी ने कर्मकर्तृत्य में भावोचित सौन्दर्य के प्रस्फुटन के लिए कर्मकर्तृत्व के अनेक रम्य प्रयोग किए हैं—

1. हि० व० जी०—2.31
2. वही, पृ० 282
3. भारतीय का० शा० की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 199

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गये जो पथिक गोरे-सांवरे सलोने, सखि ! संग नारि सुकुमारि रही ।।
(गी० 2.38.1)

यहां पर 'दिन बीते' और 'सुधि न लही' दोनों में कर्मकर्तृत्व का चमत्कार विद्यमान है। यह काव्य सौन्दर्य का अभिधायक है।

बहुरि बिलोकिये कबहुक, कहत, तनु पुलक, नयन जलधार वही।
तुलसी प्रभु सुमिरि ग्राम जुवती सिथिल, बिनु प्रयास परीं प्रेम सही।
(गी० 2.38.3)

यहां धातु पद का आत्मनेपद वत् प्रयोग दृष्टव्य है। इस सुन्दर भावात्मक स्थल पर कर्म कर्तृत्व का रूप धारण करके गतिशील हो उठा है। जलधार बहने लगी है, शरीर पुलकित हो गया है और युवती शिथिल हो गयी है। कर्म कर्तृत्व के इस सुन्दर प्रयोग से रामवनगमन का यह भावपूर्ण प्रसंग सजीव हो उठा है।

बचन परसपर कहित किराततिनि, पुलक गात जल नयन वहेरी।
तुलसी प्रभुहि बिलोकति एकटक, लोचन जनु बिनु पलक लहेरी ।।
(गी० 2.42.3)

गात पुलकित हो गया है, नेत्रों से जलधारा बह रही है, नेत्र अपलक हो गये हैं—आदि धातु पदों के आत्मनेपदवत् प्रयोग काव्य सौन्दर्य के प्रतिमान हैं।

जोवन नव ढरत ढार। (गी० 2.44.3)

यहां यौवन नये सांचे में ढल सा रहा है। यौवन का स्वयमेव नवत्व का प्राप्त करना कर्मकर्तृत्व का यह अनूठा प्रयोग है। तुलसी काव्य प्रतिमा का यह सुन्दर प्रतिमान है। इससे काव्य सौन्दर्य अनिर्वचनीय सौन्दर्य-सोपान की उच्चता को लांघ गया है।

तदपि न मिटत दाह्य उर को, विधि जो भयो विपरीता।
(गी० 2.53.2)

दाह को मिटाया जाता है, पर दाह यहां स्वयं ही मिटने या न मिटने की स्थिति में प्रदर्शित किया गया है। कर्मकर्तृत्व का यह सुन्दर उदाहरण है।

सीय-रघुबर-लषन बिनु भय भमरि भगी न आउ। (गी० 2.57.3)

आयु का भगना कर्मकर्तृत्व का सुन्दर उदाहरण है।

मेरे एको हाथ न लागी। (गी० 3.12 1)

'हाथ न लगना' आत्मनेपद प्रयोग की सुन्दर झलक प्रस्तुत करता है।

मेरो सब पुरुषारथ थाको। (गी० 6.7.1)

पुरुषार्थ थक गया है। यह प्रयोग प्रसंग की मार्मिकता का अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम है। उपग्रह वक्रता का सौन्दर्य काव्य को अपूर्व निखार प्रदान कर रहा है।

तू जो हम आदरयो। (कृ० 52 3)

तू आदरयो—तू आदर दिया गया है—यह आत्मनेपद वत् प्रयोग द्रष्टव्य है। यही तुलसी की प्रतिमा का ही चमत्कार है जो हिन्दी में इतना सुन्दर संस्कृत सदृश प्रयोग कवि कर सका है। इससे काव्य में अनिर्वचनीय रमणीयता आ गई है।

निठुरता जरु नेह की गति कठिन परति कही न। (कृ० 55.3)

गति कहीं नहीं जा सकती। यह कर्मवाच्य का प्रयोग उपग्रह वक्रता का सुन्दर उदाहरण है।

ये सनेह सुचि अधिक अधिक रुचि, बरज्यो न करत कितो सिर धुनिए।
तुलसिदास अब नंद सवन हित विषम वियोग अनल वनु हुनिए।
(कृ० 37.3)

यहां प्रयास करने पर भी नेत्रों का न रुकना अपूर्व है। यहां कर्मकर्तृत्व को प्राप्त करके चमत्कारिणी अपूर्व वक्रता को प्राप्त हो गया है।

सुनत न सिख लालची बिलोचन, एतेहु पर रुचि रूप लोभाने।
तुलसीदास इहे अधिक कान्ह पहिं, नीकेई लागत मन रहत समाने॥
(कृ० 58.3)

मनोहर सौन्दर्य पर लुभाए लालची नेत्र कोई भी सीख नहीं सुनते। यहां पर उपग्रहवक्रता के सुन्दर विनियोजन से अपूर्व सौन्दर्य विकसित हुआ है।

तुलसी गहन बिन दहन दहे (गी० 3.10.3)

'बन जल गये' में अपूर्व काव्य सौन्दर्य उपग्रह वक्रता के कारण ही सहृदय को उल्लसित करने में सक्षम है।

बिरहिन पर नित नइ परे मारि। डांडियत सिद्ध-साधक प्रचारि।
(गी० 2.49.6)

'मार पड़ती है' यह उपग्रह वक्रता का ही चमत्कार है जो सहृदय को अपूर्व आनन्द से परिपूरित कर देता है।

'बरन-धरम गयो' (कृ० 7.84.1)

वर्ण-धर्म गया। यह आत्मनेपद रूप प्रयोग अभीष्ट काव्य सौन्दर्य उत्पन्न कर रहा है।

वेद पुरान बिहाइ सुपंथ, कुमारग कोटि कुचाल चली है।
(क० 5.85.1)

नाना प्रकार की कुचालें और कुमार्ग चल पड़े हैं। यह कर्मकर्तृ प्रयोग अनूठा है।

कलिकालहुं नाथ ! नाम सौं प्रतीति-प्रीति, एक किंकर की निबही है।
(वि० 279.1)

यहां भक्त की प्रतीति-प्रीति स्वयमेव निभ गयी है। यहां कर्म का कर्त्ता रूप में प्रयोग भावना का मानवीय आयाम प्रदान करके काव्य सौन्दर्य की अपूर्व सरणि को पार कर गया है।

यद्यपि व्रज भाषा की प्रकृति संस्कृत से सर्वथा भिन्न है, तथापि तुलसी की सूक्ष्म अनुभूति की व्यंजना कर्मकर्तृ प्रयोग से सहृदय को उल्लसित करने में सफल हुई है।

प्रत्यय वक्रता

प्रत्यय शब्द 'इ' धातु में प्रति उपसर्ग लगाकर बना है जिसका अर्थ है 'पास जाना' या 'की ओर जाना'।[1] अर्थात् प्रत्यय शब्द प्रातिपदिक या धातु के पास जाता है अथवा इससे जुड़ता है। अतः प्रत्यय ध्वनि या ध्वनिसमूह की वह इकाई है, जो व्याकरणिक रूप या अर्थ की दृष्टि से परिवर्तन लाने के लिए, किसी शब्द या धातु के अंत में जोड़ी जाती है। प्रत्यय मूलतः सार्थक शब्द रहे होंगे किन्तु धीरे-धीरे उनकी स्वतंत्र अर्थवदा समाप्त हो गई और वे मात्र प्रत्यय रह गए।[2] प्रत्यय भाषागत एवं भावगत सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, इसीलिए कुन्तक ने प्रत्यय को वक्रता का विशिष्ट प्रकार माना है। वस्तुतः पदपराई वक्रता, प्रातिपदिक और धातु के प्रयोग वैचित्र्य से भिन्न प्रत्यय वक्रता का ही दूसरा रूप है, किन्तु यहां प्रत्यय वक्रता का प्रयोग अपेक्षया सीमित अर्थ में किया गया है। एक प्रत्यय के तारतम्य में दूसरा प्रत्यय लगाकार कहीं-कहीं प्रतिभासम्पन्न कवि किसी अनिचर्वनीय सौन्दर्य का सृजन कर देता है।[3] कुन्तक के अनुसार यही प्रत्यय वक्रता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी भाषा की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति इतनी स्पष्ट और महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि वह संस्कृत में है, संस्कृत के सुबन्त तिड्न्त पदों, जैसा प्रत्यय का पृथक् अस्तित्व तो हिन्दी में है ही नहीं। अतएव हिन्दी में प्रायः दुहरा प्रत्यय ही लक्षित होता है—जैसे संदेसड़ा, घइलवा आदि। संदेस (ड़ा) और घइल (वा) में घइ जैसा कोई मूल प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें स्वार्थ वाचक 'ड़ा' और 'वा'

1. हिन्दी भाषा—भोलानाथ तिवारी, पृ० 498
2. वही, पृ० 498
3. हि० व० जी०—2.32

लगाकर संदेसड़ा और घइलवा का निर्माण हुआ है। इसका भाव प्रेरित प्रयोग ही प्रत्यय-वक्रता का मूलाधार है।[1] दुहरे प्रत्यय का सौन्दर्य बोलियों में अधिक निखरा है। जिन कवियों ने लोक भाषा से शक्ति संचय किया, उनमें इसका सौन्दर्य देखा जा सकता है। ये प्रत्यय अपने मूल का परित्याग नहीं करते, अपितु इनमें कोई ऐसी शोभा बढ़ जाती है, जो मूल शब्द में नहीं होती है। इनमें भी स्वार्थ वाचक प्रत्ययों का अपना विशिष्ट स्थान है। 'या' प्रत्यय का सौन्दर्य लोकभाषा में अपूर्व नैकट्य और स्नेह का परिचायक है। इतृच (शिथिलित) और इमनिच् (नयनिमा) भावविह्वल दशा तथा तरप् (सुन्दरतर) और तमप् (सुन्दरतम) आदि प्रत्यय उत्तरोत्तर वृद्धि के परिचायक हैं। हिन्दी के ड़ा, वा, रा आदि अत्यन्त नेकट्य, अंतरगत्व तथा स्नेहातिशय के द्योतक हैं।

तुलसी में दुहरे प्रत्यय का चमत्कार सर्वत्र विद्यमान है। प्रत्यय का काव्य सौन्दर्य भाषा एवं भाषा में एक नवीन वैचित्र्य को समाविष्ट कर देता है।

> जननी निरखति बान धनुहियां।
> बार-बार उर नैननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियां।
> (गी० 2.52.1)

यहां पर 'या' प्रत्यय का सौन्दर्य स्नेहाधिक्य का परिचायक है। साथ ही धनुष और पनही को कोमलता, मसृणता, लघुता और कोमलता प्रदान करता है। इससे काव्य सौन्दर्य बढ़ गया है।

> छोरिए धनुहियां, पनहियां पगनि छोटी, छोरिए कछोरी कीट छोटिए तरकसी। (गी० 1.44.1)

यहां पर सभी शब्दों में प्रत्यय वक्रता का चमत्कार द्रष्टव्य है। यहां काव्य-सौन्दर्य में उजाला हो गया है। कहीं पर 'इए' प्रत्यय है, कहीं पर 'या' तो वहीं पर 'टी' और कहीं पर 'ई'। यह काव्य सौन्दर्य का अपूर्व उदाहरण है।

> तो लों मिलु बेगि जौलों चाप न चढ़ायो राम,
> रोषि बान काढ़्यो न दलैया दससीस को। (क० 6.22)

दलैया में 'ऐया' प्रत्यय के प्रयोग से बाण की अपूर्व गरिमा एवं विशिष्टता व्यंजित है। इस प्रत्यय प्रयोग वैचित्र्य काव्य में अतीव रमणीयता आ गई है।

> भूमि परे भट धूमि कराहत, हांकि हने हनमान हठीले। (क० 6.32)

यहां पर हठी से भी वाच्य की आवश्यकता पूरी हो रही थी, पर इससे प्रत्यय के प्रयोग से काव्य में लालित्य आ गया है।

---

1. भा० का० भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 265, द्वि० सं०

ज्ञान को गढ़ैया, बिनु गिरा को पढ़ैया, बार-लाल की बढ़ैया, सौ बढ़ैया उर साल को। (क० 7.135)

यहां पर 'ऐया' प्रत्यय के प्रयोग से काव्य में अपूर्व चमत्कार आ गया है।

छांडो मेरे ललन ! ललित लरिकाई।
उठि कह्यो, भोर भयो, झंगुली दे, मुदित महरि लखि आतुरताई।
(कृ० 13.1.4)

यहां पर 'आई' प्रत्यय का ललित प्रयोग काव्य-सौन्दर्य वृद्धि में सहायक है।

कौन सुने अलि की चतुराई।
जानत हैं जदुनाथ सबनि की बुधि विवेक जड़ताई।
तुलसिदास जनि वकहि मधुप सठ, हठ निसि दिन अंवराई।।
(कृ० 51.1.5)

यहां पर भी आई प्रत्यय का प्रयोग अपूर्व काव्य-विच्छिति के लिए किया गया है।

मोको अब नयन भए रिपु भाई।
हरि वियोग ततु तजेंहि परम सुख, ए राखहिं सो करि बरिआई।
(कृ० 59.1)

यहां पर 'माई' और 'बरिआई' में आई का सौन्दर्य नैकट्य एवं प्रेमातिशय का द्योतक है।

कह्यो लषन, हत्यो हरिन, कोपि सिय हठि पठयो बरि आंई।
(गी० 3.6.2)

यहां पर आई प्रत्यय का प्रयोग सीता की तात्कालिक मानसिकता का अपूर्व सौन्दर्यपूर्ण उद्घाटन करने में समर्थ है :

या सिसु के गुन-नाम-बड़ाई।
को कहि सके, सुनहु नरपति, श्रीपति समान प्रभुताई।।
(गी० 1.16.1)

यहां पर 'आई' प्रत्यय का सौन्दर्य राम की उदात्तता, महानता का परिचायक होकर काव्य में अपूर्वशोभा का संचार कर रहा है।

1. वचन परसपर कहति किराततिनि, फुलक गात, जल नयन बहे, री।
(गी० 2.42.3)

2. बर बिहारु चरन चारु पांडर चंपक चनार करनहार बार पार पुर-पुरंगिनी।

जौवन नव ढरत द्वार दुत्त मख मृग मराल मंद-मंद गुंजत हैं अलि अलिगिनी ।। (गी० 2.43.3)

3. भए सब साधु किरात-किरातिनी, राम-दरस मिछि गई कलुषाई। (गी० 2.46.6)

यहां पर इनी प्रत्यय का प्रयोग स्त्रीत्व के लिए हुआ है जो कोमलता, मसृणता, नवता तथा सौन्दर्य का प्रतिमान हुआ करता है। प्रत्यय वक्रता का यह चमत्कार सहृदय को आनन्द रसाप्लावित कर देता है।

(i) कोसलराय से कुअंरोटा। (गी० 1.62.1)
(ii) सलि ! सरद विमल-बिधु वदनि बघूटी। (गी० 2.21.1)
(iii) मुनि न मुनि बधूटी, उजरी परन कुटी, पंचवटी अहिचानि ठाढ़ेई रहे ।। (गी० 3.10.1)

यहां पर 'टा' और 'टी' का काव्य सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षित है। ये युवक-युवती की नव-वध के द्योतक हैं। काव्य सौन्दर्य झलमल हो उठा है।

(i) तुलसिदास यह दुसह दसा अति, दारुन बिरट घनेरो। (गी० 2.54.5)

(ii) छोटे और बड़े रे मेरे पूतऊ अनेरे सख,
सांपिन सों खैलें, भैंलें, गरे छुराधार सों। (कृ० 5.11)
(iii) जग जगदीस घर-घरनि घनेरे हैं। (वि० 179.2)

यहां पर 'एरा' प्रत्यय का प्रयोग घनीभूत प्रभाव डालता है। कवि की भावनाओं की कुशल सम्प्रेषणीयता यहां पर विद्यमान है।

कहं सिवचाप, लरिक वनि बूझत, विहंसि चिते तिरछाहें।
तुलसी गलिन मीर, दरसन लगि लोग अटनि आरौहें। (गी० 1.62.4)

यहां 'औहें' प्रत्यय का प्रयोग विशेष व्यंजना गभित है। राम की मनोभावनाओं तथा उसके सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण यहां पर अभीष्ट है। इससे काव्य में उक्तिवैचित्र्य का चमत्कार द्विगुणित हो गया है।

राखि संचि कूबरी पीठ पर ये बातें बकुचौहीं। (कृ० 41.2)

औहीं प्रत्यय का प्रयोग अभिनव लावण्य प्रदान कर रहा है। बगुचे के अन्दर संगृहीत बातें भी सम्प्रेषित हो उठी हैं।

बिकटी, भ्रकुटी, बड़री, अंखियां, अनमोल कपोलन की छवि है।

यहां पर 'री' प्रत्यय के प्रयोग आंखों के विस्तार को सौन्दर्य प्राप्त हो गया है।

यह प्रत्यय वक्रता का ही चमत्कार है जो सौकुमार्य और मार्दवता के साथ-साथ कवि विलक्षित विशेष अनुराग को भी व्यंजित कर रहा है।

एहि घाट में थोरिक दूरि अहे कटि लौं जल था देखाइहों जू।
(कृ० 2.13)

यहां पर 'इक' प्रत्यय के प्रयोग से अभीष्ट स्थल की दूरी की कमी में उत्तरोत्तर वृद्धि का परिचय दिया गया है। इसमें केवट की परमात्मा का विश्वास जीतने की भावना स्पष्ट परिलक्षित है। 'इहों' प्रत्यय के संयोग से दिखलाने में सौन्दर्य की वृद्धि हुई है। इससे काव्य में अभीप्सित अर्थ अधिक स्पष्ट हो उठा है। केवट की चरणामृत प्राप्ति की अभिलाषा प्रत्यय वैचित्र्य प्रयोग से रूपायित हो उठी है। यह प्रयोग वैचित्र्य सहृदय को उल्लसित कर देता है।

तो जननी। जग में या मुख की कहां कालिमा ध्वैहों। (गी० 2.62.1)

यहाँ पर इमनिच् तथा एहों प्रत्यय के प्रयोग अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

मन अगहुंउ, तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गौड़ मानो सकुच पंक महं, कढ़त प्रेमबल धीर॥
(गी० 2.69.2)

यहां पर भरत की मनोभावनाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। 'उ' प्रत्यय का प्रयोग अपूर्व शोभा का अभिधायक है।

तुलसिदास दसा रेखि भरत की उठि धाए अतिहि अधीर।
(गी० 2.69.4)

अतिहि में 'हि' प्रत्यय का समागम अधीरता में स्पष्टतः उत्तरोत्तर वृद्धि का सूचक है। इससे काव्य चमत्कार द्विगुणित हो गया है।

तुलसीदास भक्त कवि के साथ-साथ सहृदय कवि हैं। प्रत्यय के सुन्दर एवं अपूर्व प्रयोग से उनकी काव्यगत अभिव्यंजना सज्जित हुई है। उनकी भाषा शक्ति सराहनीय है। काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यंजित करने के लिए प्रत्यय वक्रता का अपूर्व चमत्कार सदैव सहायक हुआ करता है, जिसके रम्य प्रयोग की छटा उनके काव्य में सर्वत्र परिव्याप्त है।

उपसर्ग वक्रता

संस्कृत व्याकरण के अनुसार पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुन्तक ने 'नाम' और 'आख्यात' रूप पद के विन्यास वैचित्र्य को पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्धवक्रता के नाम से अभिहित किया है। उपसर्ग और निपात अव्युत्पन्न पद हैं। ये प्रकृति-प्रत्यय विभाग की संभावना से परे होते हैं।

साथ ही ये रसभाव के विचित्र परिपोष में समर्थ होते हैं। कुन्तक के अनुसार 'पद के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध की वक्रता से अनूठी वह पद वक्रता है जिसमें उपसर्ग और निपात के ही द्वारा काव्य बन्ध में रसभाव छलका पड़ता है।"[1] क्षेमेन्द्र का कहना है कि योग्य उपसर्गों का योग होने से निर्बन्ध गुण युक्त सूक्ति रमणीयता में इस प्रकार बढ़ जाती है, जैसे सन्मार्ग का अवलम्बन करने से सम्पत्ति बढ़ती है। 'प्र' आदि उचित उपसर्गों के कारण सूक्ति उन्नतिशील हो जाती है, जैसे ऐश्वर्य सन्मार्ग गमन से उन्नतिशील होता है।[2] उपसर्ग वक्रता का मूलाधार उपसर्ग का रमणीय प्रसंग है। उपसर्ग वह वर्ण या वर्ण समूह है जो धातु से पूव कुछ अर्थ-विषयक विशेषता लाने के लिए जोड़ा जाता है। ये उपसर्ग कभी धातु के मुख्यार्थ को बाधित करके नवीन अर्थ का बोध कराते हैं तो कभी धातु के अर्थ को ही और पुष्ट करते हैं और कभी विशेषण होकर धात्वर्थ को सर्वथा बदल देते हैं।[3] उपसर्ग के द्वारा ही हार से प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार आदि की भांति अर्थ अन्यत्र ले जाया जाता है।[4] अतः उपसर्गों के औचित्यनुकूल विशिष्ट प्रयोग से भाव-व्यंजना का उत्कर्ष एवं रसनिषेक होता है।

तुलसी के काव्य में उपसर्गों का चमत्कारी प्रयोग सर्वत्र दृष्टव्य है :

'भुज प्रलंब, सब अंग मनोहर, धन्य सो जनक-जननि जेहि जाए ।।
(गी० 2.36.2)

जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ।।
(गी० 2.50.2)

नगर उजारि, अच्छमारि, धारि धूरि कीन्हीं,
नगर प्रजार्‌यो सो विलोक्यो बल कीस को ।। (क० 6.22)

गहि बंदर भालु चले सो मनो उनए धन सावन के।
'तुलसी' उत झुंड प्रचड झुके, झपटें भट जे सुरदावन के।
(क० 6.34)

दुर्गम दुर्ग पहार तें मारे, प्रचंड महाभुज दंड बने हैं।
लक्ख में पक्खर तिक्खन तेज जेसूर समाज में गाज गने हैं।
(क० 6.39)

---

1. हि० व० जी०—2.33
2. औचित्य विचार चर्चा, पृ० 56
3. सिद्धान्त कौमुदी—संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे।
4. वही

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहु दंड वीर, धाए जातुधान हनुमान लियो घेरि के।
(क० 6.42)

इन उद्धरणों में 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग वैचित्र्य देखा जा सकता है। प्रथम उद्धरण में 'प्र' के योग से लम्बायमान भुजाओं का सौन्दर्य और अधिक निखर उठा है। दूसरे, उद्धरण में प्रजा की प्रसन्नता और आनन्द की सीमा 'प्र' के प्रयोग से विस्तृत हो गयी है। तीसरे उद्धरण में प्रजार्‍यो के 'प्र' से पूरा का पूरा पद ही आलोकित हो उठा है। लंकादाह आंखों के सम्मुख रूपायित हो उठा है। अग्नि-ताप की भीषणता का आभास हो रहा है। मंदोदरी की रावण पराजय की आशंका इस चित्रण से अधिक बलवती हो उठी है। चोथे उद्धरण में 'प्र' के प्रयोग से रावण के वीरों की रौद्र रूपाकृतिवतामसी प्रवृत्ति उजागर हुई है। पांचवें उद्धरण में राक्षसों की भुजाओं की प्रचण्डता ने 'प्र' उपसर्ग के प्रयोग से साकार रूप धारण कर लिया है। राक्षसों के निस्सीम बल के ऊपर हनुमान का आतंक सहृदय को रसाम्लावित करता है। छठे उद्धरण में 'प्र' उपसर्ग के सुन्दर प्रयोग से राक्षस-वीरों की शक्ति-साहस का परिचय देकर, विजयी हनुमान् की वीरभावना का ही रूपांकन किया है। इस माध्यम से काव्य सौन्दर्य और भी अधिक निखर उठा है। ये उपसर्ग धात्वर्थ को पुष्ट करते हैं।

तुलसी काव्य में उपसर्गों का रस पोषक चमत्कारी प्रयोग उल्लेखनीय है। उपसर्ग के प्रयोग से शब्द को नई विच्छित्ति प्राप्त हुई। सम्पूर्ण उक्ति का सौन्दर्य सानुकूल प्रयोग से निखर उठा है। इनका रमणीय प्रयोग द्रष्टव्य है :

सत्यसंघ धर्म-धुरीन रघुनाथ जू को, आपनी निबाहिये, नृप की निरबही है।
दस-चारि बरिस बिहार बन पद चार, करिये पुनीत सेत सर-सरि मही है। (गी० 2.41.3)

मधुकर-पिक-वरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर,
जक-कन घन-छांह छन प्रभा न भान की। (गी० 2.44.2)

सोने नख-सिख, निरुपन, निरखन जोग, बड़े उरकंधर बिसाल भुज वर हैं। (गी० 2.45.2)

ऋषिन के आश्रम सराहें, मृग-नाम कहें, लागी मधु, सरित झरत निरझर हैं। (गी० 2.45.4)

यहां पर निर् उपसर्ग के प्रयोग से काव्यबंध का सौन्दर्य निखर उठा है। प्रथम उद्धरण में निर् के योग से वह क्रिया का अर्थ ही सर्वथा बदल गया है। दशरथ का प्रण तो निभ गया राम को अपना निभाना है। इससे पूर्ण पद ही

चमत्कृत हो गया है। राम को वन में जो कष्ट झेलने होंगे, वह भाव भी यहां व्यंजित हैं। दूसरे व चौथे उद्धरण में 'निर्' के प्रयोग से काव्य संगीतमय झंकृति कर उठा है। यह विशिष्ट सौन्दर्य कवि प्रतिभा जनित उपसर्ग प्रयोग से ही संभव हो सका है। तीसरे उद्धरण में निर् का प्रयोग राम लक्ष्मण के सौन्दर्य को द्विगुणित करता है। निरुपम और निरीक्षण योग्य सौन्दर्य का आकर्षण सहृदय को रससिक्त करता है। यहां उपसर्ग प्रयोग ही रसोद्रेक का मूल कारण है। यहां उपसर्ग प्रयोग औचित्य की सीमा में है।

तुलसी के काव्य में अन्य उपसर्गों का प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

विरचित तहं परनसाल, अति विचित्र लषन लाल,
निवसत जहं नित कृपालु राम जानकी। (गी० 2.44.3)
चहुं दिसि वन सम्पन्न बिहंग-मृग बोलत सोभा पावत।
(गी० 2.40.2)
सुनि संदेस प्रेम-परिपूरन संभ्रम उठि धावोंगी। (गी० 2.55.3)
मनु छिरकत फिरत सवनि सुरंग। भ्राजत उदार लीला अनंग।

यहां 'वि' उपसर्ग के प्रयोग से 'रचित' का सौन्दर्य बढ़ गया है तथा चित्र का तो अर्थ ही बदल गया है। 'नि' के प्रयोग से 'वसत' की गरिमा राम जानकीमय हो गयी है। वस् को ही श्रेष्ठत्व प्राप्त हो गया है। 'सम्' के प्रयोग से वन सौन्दर्य लहलहा उठा है। 'सु' के प्रयोग से रंग का सौन्दर्य तो अतिरंजित हुआ ही है, अन् के प्रयोग से अनंग की कमनीय कल्पनाजन्य काया साकार हो गयी है। यही उपसर्ग प्रयोग का वैचित्र्य काव्य सौन्दर्य की वृद्धि करके सहृदय को आह्लादित किया करता है।

तुलसी काव्य इन सुन्दर प्रयोगों से भरा पड़ा है। और भी देखिए :

दुर्गम दुर्ग पहार तें भारे, प्रचंड महा भुज दंड बने हैं। (क० 6.39)
बड़े बड़े बानदूत बीर वलवान बड़े, जातु धान जुथप निपाते बात जात हैं। (क० 6.41)

पांडु के पूत, सपूत, कुपूत, सु जो घन भौ कलि छोटो छलाई।
(क० 7.131)

तो अगनित अहीर अबलनि को हठिन हिय हरियौ हो। (कृ० 39.1)
जो प्रपंच करि नाम प्रेम फिरि अनुचित अचिरियौ हो। (कृ० 39.2)
हरि निर्गुन. निलेप, निरपने, निपट निठुर निज काज सयाने।।
(कृ० 38.1)

तुलसिदास अब नन्द सुवन हित विषय वियोग अनल तनुहु निए।।
(कृ० 37.3)

तुलसी तजिय कुचालि आलि ! अब, सुधरै सबई नसानी । (कृ० 39.4)
सेवा सावधान तू सुजान समरथ सांचो, सद् गुन-धाम राम ! पावन परम ।
सुरुख, सुमुख, एक रस, एक रूप, तोहि बिदित विसेषि घटघट के भरम ।।
(वि० 249.3)

कुकृत सुकृत बस सब हीं सौं संग पर्‌यो, परखी पराई गति, आपने हूं कीय
की । (वि० 263.2)

विभिन्न उपसर्गों के ये रम्य प्रयोग काव्य की विशिष्ट विच्छित्ति को अपूर्व शोभा प्रदान करते हैं । इनसे रस, अलकार का समुचित प्रयोग उदीप्त हो उठता है । रछोद्रेक सहृदय को आह्लादित करता है । प्रथम उचरण में 'दुर्' उपसर्ग का प्रयोग अपहार्य रूप से सुन्दर वन पड़ा है । 'दुर्गम' विशेषण से दुर्ग का वाच्यार्थ स्पष्ट हो गया है । अगम्य किलो की भांति अजेय राक्षसों को हनुमान ने ललकारा है । इससे हनुमान की शक्ति का आभास भी मिलता है । दूसरे उद्धरण में 'नि' उपसर्ग का प्रयोग पात क्रिया को विशिष्ट अर्थवत्ता प्रदान कराता है । निपाते में गिराने की अपेक्षा पटकने मारने का भाव आ गया है । तीसरे उद्धरण में स, कु, सु उपसर्गो का मालाबद्ध प्रयोग सम्पूर्ण काव्य बंध को संगीतमयता प्रदान करता है । विषम तुल्य योगिता का विधान भी 'सु' 'कु' के प्रयोग से ही संभव हुआ है । यही भावना दसवें उद्धरण में भी उपलब्ध है जहाँ तुलसी अपनी दैन्य भावना राम के सम्मुख निवेदित कर रहा है । चतुर्थ उद्धरण में 'अ' उपसर्ग का प्रयोग गोपियों को असंख्य और अबल बनाने में सहायक हुआ है । सहायता-संवेदना अबल के लिए ही तो प्रकट की जाया करती हैं । कवि का प्रतिपाद्य यहां मुखरित हो उठा है । पांचवें उद्धरण में अ्न और 'आ' उपसर्ग का प्रयोग कृष्ण के छली कपटी स्वभाव और कुब्जा से प्रेम जैसे अनुचित आचरण को सुन्दर ढंग से व्याख्यायित करता है । छठे उद्धरण में निर् उपसर्ग का शृंखलाबद्ध प्रयोग काव्य की अपूर्व विच्छित्ति का उद्‌घाटन करता है । निराकार का रूप व्यंग्य से कृष्ण पर आरोपित है । यह वाग्वेदग्ध्य का सुन्दर उदाहरण है । 'कु' उपसर्ग का प्रयोग काव्य दृष्टि से सुन्दर है । नवें उद्धरण में 'सु' के प्रयोग से शब्दों का अर्थ ही विशिष्ट आभा से मंडित हो गया है । विशेष में 'वि' ने अर्थ परिवर्तन का विशेष चमत्कार प्रस्तुत किया है ।

तुलसी की नैसर्गिक प्रतिभा उपसर्गो का विशिष्ट अर्थ व्यंजक प्रयोग करने में सफल हुई है । इससे अर्थ वाक्य के प्राण रूप रसादि को सम्पुष्टि मिली है । उपसर्ग के औचित्यपूर्ण प्रयोग से कवि की अनुभूतियों को सम्यक् अभिव्यक्ति मिली है और अभिव्यंजना में उत्कृष्टता आ गई है । तुलसी के लिए उपसर्ग केवल व्याकरणिक कोटि ही नहीं है । उसमें इनका प्रयोग भाव व्यंजना के उत्कर्ष और रस-निषेक के लिए किया है ।

निपात वक्रता

निपात वक्रता का सौन्दर्य 'निपात' पर आश्रित है। 'निपात' शब्द नि उपसर्ग पत् धातु तथा घञ् प्रत्यय से निर्मित है[1], जिससे अभिप्राय उन अव्ययों से है जो व्यय रहित, अव्युत्पन्न पद होते हैं। पाणिनि के अनुसार कर्मप्रवचनीय और उपसर्गों की गणना में आने वाले पद और उनकी पहुँच के परे के असत्ववाचक (संयोजकादि) अव्यय निपात कहलाते हैं।[2] शृंगार प्रकाशकार भोज ने निपात को परिभाषित करते हुए लिखा है—'जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया आदि के द्वारा जिन शब्दों का अर्थग्रहण नहीं होता तथा जो असत्य तथा द्विप्राणित्व अर्थ को प्रकट करने वाले लिंग, संख्या आदि की शक्ति से रहित ऊंच-नीच अर्थों में प्रयुक्त होने वाले हैं, ऐसे चादिगण में दिए गए अव्यय निपात कहलाते हैं।[3] अतः निपात ऐसा सहायक शब्द भेद है जिसका संज्ञा, विशेषणों, सर्वनामों, क्रियाओं क्रिया-विशेषणों की भांति अपना एक सार्थक स्थिर अर्थ नहीं होता। शब्द एवं वाक्य सापेक्ष अर्थ को व्यक्त करता है। इसलिए कुशल कवि इसका प्रयोग निश्चित् शब्द, शब्द समुदाय या वाक्य को अतिरिक्त भावार्थ प्रदान करने के लिए करता है।[4] कविता में निपातों का प्रयोग रसनिषेक के लिए किया जाता है। कुन्तक के अनुसार निपात के द्वारा रचना के भीतर व्याप्त रसादि का प्रकाशकत्व संभव होता है।[5] कुन्तक की तरह आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी निपातों के महत्त्व को रेखांकित किया है वे लिखते हैं—उचित स्थान पर नियुक्त उपयोगी सचिवों के कारण जिस प्रकार राज्यलक्ष्मी निश्चल हो जाती है, उसी प्रकार उचित स्थान पर प्रयुक्त उपयोगी निपातों के प्रयोग से काव्य की अर्थसंगति ठीक हो जाती है।[6]

निपातों का प्रयोग शब्द, शब्दसमुदाय या पूरे वाक्य को जो अर्थ प्रदान

---

1. अष्टाध्यायी प्रशाशिका, व्याख्या आचार्य श्री ब्रह्मदत्त, सं० युधिष्ठर मीमांसक देवप्रकाश पातंजल शास्त्री, 1 जवाहर नगर, दिल्ली, सं० 2012 वि०
2. वही, 1.4.82
3. शृंगारप्रकाश, प्रथम भाग, सम्पादक जी० आर०, पृ० 8, सन् 1955 ई०
4. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा—ज० म० दीमिशित्स, पृ० 2.4, राजकमल प्रकाशन, प्र० सं० 1966 ई०
5. हि० व० जी०—1.33, कारिका की वृत्ति
6. औचित्य विचार चर्चा—अनु० चौधरी श्री नारायण सिंह, छन्द सं० 25, सं० 2017 वि०।

करता है, उसको दृष्टि में रखकर डा० ज० म० दीमिशित्स ने उसकी संख्या छः मानी है[1] :

1. स्वीकारार्थक निपात जैसे—हां, जी, जी हां।
2. नकारार्थक निपात जैसे—नहीं, जी नहीं।
3. निषेध-बोधक निपात—जैसे मत।
4. प्रश्न बोधक निपात जैसे—क्या, न।
5. विस्मयादिबोधक निपात जैसे—क्या काश, कि।
6. बल प्रदायक एवं सीमा बोधक निपात जैसे—तो, हो, भी, तक, भर, सिर्फ, केवल।

स्वीकारार्थक निपात वाच्य होते हैं, इसलिए उनमें काव्यगत चमत्कार कम ही होता है, तथापि तुलसी सा प्रतिभाशाली कवि इनका रमणीय प्रयोग करने में सफल हुआ है। नकारार्थक निपातों का रमणीय प्रयोग तुलसी में मिलता है—

नहिं कछु दोष स्याम को भाई। (कृ० 25.1)

'नहिं' निपात के प्रयोग से जहाँ श्रीकृष्ण की निर्दोषता सिद्ध होती है, वहीं गोपी का वाग्वैदग्ध्य भी अपूर्व शोभा को प्राप्त हो जाता है। वाक्य के प्रारम्भ में ही निपात के प्रयोग से सम्पूर्ण पद आलोकित हो उठता है।

बुझी हौं न विहंसि मेरे रघुवर 'कहां की' ! सुमित्रा माता ?
तुलसी मनहु महासुख मेरो देखिन सकेउ विधाता।।
(गी० 2.51.3)

'न' निपात के प्रयोग से कौशल्या की विरह वेदना की अभिव्यंजना को उत्कर्ष प्राप्त हो गया है। विधाता की असमर्थता से काव्य सौन्दर्य और और भी अधिक बढ़ गया है।

सहस-दस चारि खल सहित खर दूषनहिं,
पठे जयधाम, तें तउ न चीन्ह्यो। (क० 6.18)

यहाँ पर तो सीमाबोधक और 'न' नकारार्थक निपातों का प्रयोग विशिष्ट भावव्यंजना के उत्कर्ष में सहायक हुए हैं। रावण की निर्बुद्धिता को सुविकसित करके कवि प्रतिभा ने काव्य सौन्दर्य को प्रस्फुटित किया है।

तो सो नतपात न कृपात, न कंगाल मो-सो, दया में वसत देव सकल धरम। (वि० 249.4)

तुलसी ने यहाँ 'न' के द्वारा अपनी दीनता और राम की महत्ता का उत्कर्ष दिखाया है। निपात का यह सार्थक प्रयोग काव्य शोभा का वर्द्धक है।

---

1. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० 215

सेये न दिगीस, न दिनेस, न गयेस, गौरी,
हित के न माने विधि हरिउ न हरू।
राम नाम सों जोग-क्षेम, नेम, प्रेमपन,
सुधा-सो भरोसो एहु दूसरो जहरू। (वि० 250.2)

यहां पर 'न' निपात का प्रयोग दिक्पाल कुवेर वरुण आदि, सूर्य, गणेश, पार्वती ब्रह्मा, विष्णु और हरि की अपेक्षा राम की श्रेष्टता को रूपायित करता है। इससे तुलसी की अन्य भक्ति की अभिव्यंजना हुई है। यह निपात प्रयोग रसोद्रेक संभव है। यह चमत्कार सहृदय को आल्हादित करता है। इसके काव्य सौन्दर्य की असीम अभिवृद्धि हुई है।

निषेधात्मक निपातों का प्रयोग अनुरोध और आज्ञार्थक अर्थ को व्यक्त करने के लिए होता है। तुलसी ने निषेधात्मक निपातों के लिए मत, जनि आदि पदों का प्रयोग किया है।

तुलसिदास जनि बकरि मधुप सठ ! हठ निसि दिन अंवराई।
(कृ० 51.5)

गोपियां उद्धव को डांट देती हैं कि बकवास मत करो। श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों की सहनशीलता समाप्त हो गई है। वे उद्धव की बेतुकी बातें सुनकर क्षुब्ध हो जाती हैं। इस निषेधात्मक निपात के प्रयोग से काव्य म अद्भुत सौन्दर्य आ गया है।

दुख बहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाई।
'भले हि नाथ', माथे धरि आपुस चलेउ बजाइ॥
(गी० 2.47.18)

यह चित्रकूट में प्रभु की आज्ञा से कामदेव के कौतुक का प्रसंग है। यहाँ पर राम कामदेव को राम भक्तों को कष्ट देने का निषेध करते हैं। निषेधात्मक निपात 'जनि' के प्रयोग से काव्य सौन्दर्य का कमल प्रस्फुटित हो गया है।

राम-सपथ, कोउ कछु कहै जनि, में दुःख दुसह सहा है।
(गी० 2.64.3)

भरत राम की अनुपस्थिति से अत्यधिक उत्कंठित है। निषेधात्मक निपात जनि उसकी उत्कंठा; विकलता, विरह वेदना को अति सुन्दर रूप से अभिव्यंजित कर रहा है। यह निपात वक्रता का ही चमत्कार है। यहाँ दृढ़ निषेध प्रबल हो उठा है।

सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों, ह्वै है अधिक अंदेसो।
(गी० 3.16.1)

यह गीतावली का सुप्रसिद्ध पद है राम इसलिए व्यग्र है कि सीताहरण के समाचार से स्वर्ग में उसके पिता दुःखी हो जाएंगे। वह जटायु को निषेध करता है कि वह यह समाचार स्वर्ग में जाकर उसके पिता को न दे। रास की पितृ भावना का उत्कर्ष यहाँ अभिव्यंजित है। यह काव्य सौन्दर्य 'जनि' निपात के प्रयाग से संभव हुआ है।

तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति, दीनवन्धु, दयालु, मेरे बारे।
(गी० 2.2.4)

माता कौशल्या का राम के प्रति प्रेम और वन में न जाने के लिए अनुरोध इन पंक्तियों में उत्कृष्ट अभिव्यंजना को प्राप्त हुआ है। 'जनि' के प्रयोग स काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करने में सहायक हुआ है। माता कौशल्या की राम को अवध में रखने की प्रवल लालसा 'जनि' निपात मे अनुस्यूत हो गई है।

प्रश्नबोधक निपातों का भी सुन्दर प्रयोग तुलसी ने किया है। तुलसी मे ये प्रयोग अभीष्ट भावाभिव्यंजना के पोषक हैं।

कहा न कियो, कहां न गयो, सीस काहि न नायो?
राम! रावरे बिन भये जन जनमि जनमि जग दुख दसहू
दिसि पायो। (वि० 276.1)

यहां पर 'कहा' निपात के प्रयोग से तुलसी की असहायता, दीनता, भटकन अभिव्यंजित हुई। काव्य सौन्दर्य की यह सुषमा अप्रतिम है। 'कहा' निपात का प्रयोग वैचित्र्य यहाँ काव्य सौन्दर्य का अभिधायक बना है।

ग्यानहू गिरा के स्वामी बाहर-अन्तर जामी,
यहाँ क्यों दुरंगी बात मुख की ओ हीय की। (वि० 263)

यहां पर प्रश्नबोधक निपात 'क्यों' के प्रयोग से तुलसी की स्पष्टवादिता प्रखर हो उठी है।

साहिब उदास भये दास खास खीस होत,
मेरी कहा चली ? हों बजाय जाय रह्यो हो। (वि० 260)

यहां पर 'कहा' निपात के प्रयोग से दास तुलसी की व्याकुलता, हीनता, साधन-हीनता उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। काव्य सौन्दर्य का यह निखार निपात-वक्रता जन्य है।

काहे को खोरि कैकयहि तावों ? (गी० 2.63.1)

भरत के सामने माता कौशल्या की वेदना की अनुगूंज 'काहे' प्रश्नबोधक निपात के प्रयोग से प्रतिध्वनित होकर रसोद्रेक का कारण बनती है। कौशल्या की विरह-विदग्ध स्थिति, दयनीयता, असहायता, आकांक्षा धनीभूत होकर सहृदय

को द्रवित करती है। यह काव्य सौन्दर्य निपात वक्रता का ही चमत्कार है।

काहे को मानत हानि हिये हों? (गी० 2.75.1)

प्रश्नबोधक निपात 'काहे' के प्रयोग से राम की धैर्यशीलता, स्नेहशीलता और धर्मधुरीणता अभिव्यंजित हुई है। निपात वक्रता का यह सौन्दर्य सहृदय को रस-सिक्त कर देता है।

कहो, क्यों न विभीषन की बने? (गी० 5.40.1)

यहाँ पर 'क्यों' निपात से सारा ही काव्य बंध प्रकाशित हो उठा है। तुलसी की भक्ति भावना प्रखर हो उठी है। वह राम भक्ति में आश्वस्त होकर लीन है। काव्य सौन्दर्य का यह चमत्कार निपात वक्रता जनित है।

विस्मय सूचक निपातों के प्रयोग से कथन अधिक प्रभावशाली हो जाता है। तुलसी काव्य में इसके रमणीय प्रयोग प्राप्य हैं।

आस बिबस खास दास दीन है नीच प्रभुनि जनायो।
हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न
द्वार मुंह बायो। (वि० 276.2)

तुलसी ने विस्मयसूचक 'हा-हा' निपात के प्रयोग से दैन्य की अतिशयता को अभिव्यक्ति दी है। दीनता प्रकट करने पर भी कुछ हाथ नहीं आया। यह दैन्य प्रकटीकरण की पराकाष्ठा है जो 'हा हा' निपात के प्रयोग से अभिव्यंजित हुई है। यहां काव्य सौन्दर्य अपने पूर्ण निखार पर है।

'हा रघुपति कहि परयो अवनि, जनु जल तें मीन विलगायो।
(गी० 2.56.4)

'हा रघुपति' कहकर दशरथ पृथ्वी पर गिर पड़े। यहां विस्मय सूचक निपात 'हा' के प्रयोग से दशरथ की दुःखी अवस्था का चित्रण अभिव्यंजित हुआ है। इस प्रयोग वैचित्र्य के सौन्दर्य से काव्य बन्ध में नव दीप्ति आ गई है।

सांचेहु सुत-वियोग सुनिबे कहं धिग विधि मोपि जिआयो।
(गी० 2.56.3)

यहाँ पर 'धिक्' का प्रयोग दशरथ की करुण मनःस्थिति की अभिव्यंजना को उत्कर्ष प्रदान कर रहा है।

'हा' धुनि-खगी लाज-पिंजरी महं राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन।
(गी० 5.20.2)

विस्मय सूचक निपात 'हा' का यह साकार स्वरूप काव्य सौन्दर्य का अप्रतिम प्रतिमान है। 'हा' को ही पक्षिणी का रूपक माना है। मौन रूपी बधिक ने 'हा'

ध्वनि रूप पक्षिणी को हठपूर्वक लज्जा रूप पिजड़े में बंद कर हृदय में ही रक्खा है। सीता की दुःखभरी ध्वनि तक नहीं निकल पाती। काव्य सौन्दर्य यहां निपात प्रयोग वैचित्र्य से निखर उठा है।

निपातों का छठा व अन्तिम भेद है बलप्रदायक व सीमाबोधक निपात। इस प्रकार के निपातों का भी सौन्दर्य तुलसी काव्य में खूब निखरा है :

ताको तो कपिराज आज लगि कछु न काज निबह्यो है।
(गी० 4.2.2)

जिसके लिए शरीर को राम ने धारण किया हुआ है, उसके लिए 'तो' सुग्रीव ने कोई भी काम नहीं किया है। यहां बलप्रदायक तो निपात के प्रयोग से सीता प्राप्ति सम्बन्धी राम की उत्कट अभिलाषा और अधिक बलवती हो गई है।

पीतम विरह तो सनेह सरबसु सुत !
औसर को चूकिबे सरिस न हानि ।। (गी० 5.7.2)

पति का वियोग तो स्नेह का सर्वस्व लुटना है। पत्नी के प्रति प्रेम की सीमा का सुन्दर चित्रण किया गया है। सीमाबोधक 'तों' का चमत्कार दृष्टव्य है।

नेम तो पपीहा ही के, प्रेम प्यारो मीन ही के,
तुलसी कही है नीके हृदय आनि
इतनी कही सो कही सीय, ज्यों ही त्यों ही रही,
प्रीति परी सही, बिधि सों न बसानि ।। (गी० 5.7.4)

यहाँ पर सीमा बोधक निपात 'तो' और बलप्रदायक निपात 'ही' का सौंदर्य द्रष्टव्य है। निपात वक्रता के इस सुन्दर प्रयोग से सम्पूर्ण काव्य बंध चमत्कृत हो उठा है। सीता की प्रेम विह्वलता अपनी पराकाष्ठा पर है। इसका सुन्दर चित्रण निपात प्रयोग से ही संभव हुआ है।

आरज सुवन के तो दया दुवनहु पर, मोहि सोच मोतें सब विधि नसानि।
अपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को, मेरे ही दिन सब बिसरी
बानि ।। (गी० 5.7.3)

यहां पर तों, हु, ही, आदि बलप्रदायक निपात काव्य सौन्दर्य के वर्द्धक हैं। सीता की विरह विह्वलता और करुणा कायरता साकार रूप ले सकी है। यह निपात प्रयोग वैचित्र्य का ही चमत्कार है।

मातु ! काहे को कहति अति वचन दीन ?
तबकी तुही जानति, अबकी हों ही कहत,
सब के जिय की जानत प्रभु प्रवीन ।। (गी० 5.8.1)

यहां पर 'ही' निपात का काव्य सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षित है।

तो हों बार-बार प्रभुहि पुकार कै खिझावती न,
जो पै मोको हो तो कहूं ठाकुर-ठहरू। (वि॰ 255.1)

यहाँ पर 'तो' का प्रयोग सम्पूर्ण पद को प्रकाशित करता है। तुलसी की सीमाएं हैं कि यदि उसके पास कोई दूसरा स्वामी या स्थान होता तो वह बार-बार प्रभु को पुकार कर नाराज न करता। निपात का प्रयोग काव्य सौन्दर्य का विधायक है।

मेरी तो थोरी ही है, सुधरेगी बिगरियो,
बालि राम रावरी सों, रही रावरी चहत। (वि॰ 256.3)

'तो' और 'ही' निपातों के प्रयोग से तुलसी की बिगड़ी दशा समुज्ज्वलित हो उठी है।

लाभहू को लाभ, सुखहू को सुख, सरबस पतित पावन डरहू को डरू है।
हू को, ऊंच हू को रंक हू को रावहू को, सुलभ, सुखद अपना सो घरु है।।
(वि॰ 2552)

यहाँ पर बलप्रदायक 'हू' निपात का प्रयोग सौन्दर्य की छटा भी विकीर्ण कर रहा है। इस निपात के प्रयोग से काव्य सुन्दरता की सीमा को स्पर्श कर सका है। 'सो निपात का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

मोटो दसकंध-सोन, दुबरो बिभीषन-सो,
बूझि परै रावरे की प्रेम-पराधीनता। (वि॰ 262.3)

यहाँ पर सादृश्यमूलक 'सो' निपात का सुष्ठु प्रयोग काव्य सौन्दर्य को निखार रहा है।

हों सनाथ ह्वै हों सही तुमहूं अनाथपति जो लघुतहि न भितेहो।
(वि॰ 270.2)

यहाँ पर 'सही' निपात का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। सनाथता को बल मिल गया है। 'हू' निपात का प्रयोग भी प्रभु की शक्ति और सामर्थ्य को बलवत्ता प्रदान कर रहा है।

विधि-से करनिहार, हरि-से पालनिहार,
हर-से हरनिहार जपैं जाके नामें। (गी॰ 5.25.2)

यहाँ पर 'से' निपात के प्रयोग से विधि, हरि और हर की सीमाओं का अंकन किया गया है जिसका जाप ये भी करते हैं, वह कितना शक्तिशाली होगा—इस भाव की व्यंजना 'से' के प्रयोग वैचित्र्य से हुई है।

तुलसीस-बल रघुबीर जू के बालिसुत,
वाहि न गनत, बात कहत करेरी सी।

बखसीस ईस जू की खीस होत देखियत,
रिस काहे लागति कहत हों तो तेरी सी।
चढ़ि गढ़ मढ़ दृढ़ कोट के कंगूर कोपि,
नेकु धरा वेवे ढेलन की ढेरी सी॥
सुनु दसमाथ ! नाथ साथ के हमारे कपि,
हाथ लंका लाइहैं तो रहेगी हथेरी सी॥ (क० 6.10)

इस पद में 'सी' निपात के प्रयोग वैचित्र्य से काव्य सौन्दर्य आलोकित हो उठा है। करेरी सी, तेरी सी, ढेरी सी, हथेरी सी में जो शक्ति आ गई है, वह निपात प्रयोग के बिना सम्भव न थी। यह निपात प्रयोग की महत्ता को ही प्रतिपादित करता है।

कबहुं समुझि बन-गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी-सी।
तुलसीदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी॥
(गी० 2.52.4)

यहाँ पर 'सी' निपात का काव्य सौन्दर्य माता कौशल्या की विरह-वेदना को अधिक बलवती बना देता है। चित्रलिखी सी, कौशल्या और सिखी सी प्रीति-दोनों का ही प्रयोग काव्य सौष्ठव की दृष्टि से अनिवर्चनीय है।

तुलसीदास ने कहीं दो निपातों का एक साथ प्रयोग किया है। निपात प्रयोग की यह विच्छिति तुलसी के काव्य में सर्वत्र निखार पर है :

दास तुलसी न तरू मोको मरन-अनिय पियाउ।

(गी० 2.57.4)

यहाँ पर 'न तरु' (नहीं तो) दो निपातों के प्रयोग से दशरथ की वेदना और अधिक मुखरित हो गई है।

तुलसी जानकी दिए, स्वामी सों सनेह किए,
कुशल न तरु ह्वैहैं छार छन में। (गी० 5.23.3)

मंदोदरी की शिक्षा और रावण के विनाश की आशंका 'नतरु' निपात के प्रयोग से स्पष्ट हो गई है। रावण की रक्षा के लिए आवश्यक शर्त जानकी को लौटाना और प्रभु की शरण में जाना है। 'नतरु' के प्रयोग से भाव तो स्पष्ट हुआ ही है, काव्य सौदर्य भी निखर उठा है।

तुलसी बनी है राम रावरे बनाये, ना तो,
धोबी कैसो कूकर घर को न घाट को। (क० 7.66)

यहाँ पर तुलसी की रामभक्ति 'ना तो' निपात के सोद्देश्य प्रयोग से अपूर्व शोभा को प्राप्त हुई है।

तुलसी की बाजी राखी राम ही में नाम,
न तु. भेंट उतरन को न मूड़ हू में बारु है। (क० 7.67)

तुलसी की राम के प्रति श्रद्धा, भक्ति और समर्पिता 'न तु' निपात के प्रयोग से निखर उठी है। निपात वक्रता का यह वैचित्र्य प्रयोग ही काव्य कीं विच्छिति का विधायक है।

आचार्य कुन्तक द्वारा निरूपित पदपराधवक्रता के विभिन्न भेदों-प्रभेदों के आधार पर तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने अपने ब्रजभाषा काव्य में इन वक्रताओं का भरपूर प्रयोग किया है, जिससे उनका काव्य रमणीय हो उठा है। उसमें सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है और वह सहृदय के लिए आस्वाद्य हो गया है। तुलसी जैसा प्रतिभाशाली कवि ही पदपरार्द्ध के इतने सुन्दर प्रयोग कर सकता है। वस्तुतः ये व्याकरणिक कोटियां उनके कवि कर्म कौशल के द्वारा काव्यात्मक कोटियां बन गई हैं। तुलसी का ब्रजभाषा काव्य पदपरार्द्ध वक्रता की दृष्टि से अति समृद्ध काव्य है।

7

वस्तुवक्रता

वर्णों से पदों का निर्माण होता है और पदों का समुदाय वाक्य होता है। वाक्य ही वाच्य वस्तु है। वाच्य वस्तु का ज्ञान किये बिना वाक्यार्थ का बोध संभव नहीं है। वस्तु से यहां अभिप्राय है—वाच्य अर्थात् अर्थ अर्थात् वर्णनीय विषय जो कि वाक्य वक्रता का प्रतिपाद्य होता है। इस प्रकार वस्तुवक्रता से अभिप्राय हुआ—वस्तु अर्थात् वर्णनीय विषय की वक्रता। वाक्य वक्रता वस्तु वक्रता से निःसृत होतीं है। कुन्तक ने बताया है कि पदार्थों का ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ का ज्ञान संभव है। वस्तु की इस वक्रता को कुन्तक ने इस प्रकार परिभाषित किया है—वस्तु का उत्कर्ष शाली सुन्दर स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है।[1] तात्पर्य यही हुआ कि वस्तु अपनी सुकुमारता में भी व्यंग्य रूप में प्रतिपादित हो। इतिवृति वर्णन काव्य का विषय नहीं होता वरन् सहज रमणीय वस्तु वक्र शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होकर काव्य चर्वणा का विषय हो सकती है। जीवन का प्रत्येक भौतिकी पदार्थ काव्य का विषय नहीं हो सकता प्रत्युत नैसर्गिक रमणीय पदार्थ का सातिशय स्वभाव वर्णन ही काव्य का विषय हो सकता है। अलंकारवादियों ने सातिशय स्वभाव वर्णन को स्वाभावोक्ति नाम से अभिहित किया है। उनका कथन है कि वस्तु का नैसर्गिक रूप काव्य वस्तु है और उसका सातिशय वर्णन स्वभाबोक्ति अलंकार है। कुन्तक की मूल शंका यह है कि यदि स्वभाव का वर्णन अलंकार है तो उससे भिन्न कौन सी वस्तु अलंकार्य का स्थान लेगी। वह शरीर ही यदि अलंकार हो जाए तो वह दूसरे किसको अलंकृत

---

1. उदारस्वपरिस्पन्द सुन्दरत्वेन वर्णनम्।
   वस्तुनोवक्र शब्दैक गोचरत्वेन वक्रता ।। हि० व० जी० 3.1

करेगा। कहीं कोई स्वयं अपने कंधे पर चढ़ सकता है।[1] उन्होंने यह भी आशंका व्यक्त की है कि यदि सातिशय स्वभाव वर्णन को अलंकार और अनुत्कृष्ट इतिवृत्त कथन मात्र को अलंकार्य माना जाए तो भेड़-चाल से काव्य का निर्माण होने लगेगा।[2] इसके साथ ही अन्य दोष यह भी होगा कि अनुत्कृष्ट धर्म से युक्त वर्णनीय पदार्थ अलंकरण करने पर भी अयोग्य आधार-नीति पर बनाए गए चित्र के समान अधिक शोभाजनक नहीं हो सकते हैं[3]। अतः अनुत्कृष्ट धर्म काव्य रमणीयता के लिए परिहार्य है। उसका उत्कर्ष युक्त रूप ही सहृदयाह्लादकारी होता है, वह काव्य का पदार्थ है, अलंकार नहीं। काव्य के इस पदार्थ का विभाजन कुन्तक ने दो दृष्टियों से किया है— 1. कवि द्वारा विषय का प्रस्तुतीकरण 2. सहृदय की प्रतिक्रिया। उन्होंने कविकौशल से शोभित होने वाली अभिनव कल्पना प्रसूत वस्तुवक्रता के दो प्रकार किए हैं —सहजा और आहार्या।[3] सहजा कवि को शक्तिजन्य है। शक्ति से तात्पर्य कवि प्रतिमा से है तथा कवि की कल्पना शक्ति से है। आहार्या व्युत्पतिजन्य है। शिक्षा अभ्यास आदि द्वारा अर्जित कवित्व शक्ति इसके अन्तर्गत आती है वस्तु की शोभा चाहे सहज हो अथवा आहार्य लेकिन वह नवीन कल्पना के कारण लोकप्रसिद्ध पदार्थों को अतिक्रमण करने वाली अवश्य हो—निर्मितिनूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा। स्वयं कुन्तक कहते हैं कि कवि का काम अविद्यमान पदार्थों को उत्पन्न करना नहीं। आहार्य शोभा अर्थालंकार ही है। आधुनिक आलोचन की भाषा में कहें तो आहार्य शोभा अभिव्यंजना का ही कौशल है। इस प्रकार वस्तु वक्रता के दो भेद हुए—पदार्थ की सहज शोभा और अभिव्यजना का कौशल। तदुपरान्त सहृदय की प्रतिक्रिया के आधार पर वर्णनीय वस्तु के दो भेद किए हैं—चेतन वस्तुवक्रता और अचेतनवस्तुवक्रता। चेतनवस्तु भी दो प्रकार की होती है—देवता तथा मनुष्य आदि प्रधान चेतन पदार्थ और सिंह, सृप, पशुपक्षी आदि अप्रधान चेतन पदार्थ। इनमें से प्रधान चेतन पदार्थ का वर्णन इत्यादि के परिपोष से मनोहर रूप में होना चाहिए। पशु-पक्षी आदि अप्रधान चेतन तथा अचेतन वस्तु-प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन, रसों की उद्दीपक सामग्री के रूप में किया जाना चाहिए। इस प्रकार वस्तु वक्रता दो प्रकार की हुई—स्वभाव प्रधान और रस प्रधान। इन रूपों के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के उपाय रूप शिक्षा भी काव्य के विषय हैं।[4]

---

1. शरीरं चंदलंकारः किमलं कुरुते परम्।
   आत्मेव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ।। हि० व० जी० 1.13
2. हि० व० जी०, पृ० 296
3. हि० व० जी०, पृ० 297
4. हि० व० जी०, 3.10 कारिका की वृत्ति।

उपर्युक्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—अनुत्कृष्ट प्रसंग काव्यवस्तु के लिए परिहार्य है, सहज सुन्दर वस्तु का व्यंग्य रूप में प्रतिपादन काव्य के लिए ग्राह्य है। कवि कौशल प्रसूत अर्थालंकारों का वाक्यगत सौन्दर्य भी वस्तु का विषय है। चेतन पदार्थ काव्य विषय के प्रमुख अंग हैं, वे ही सहृदय के भावजगत के प्रमुख आलम्बन हैं। तिर्यक् योनि तथा अचेतन प्रकृति पदार्थ उस प्रधान चेतन पदार्थ की उद्दीपक सामग्री है।

सहजा वस्तुवक्रता

सहजा नामक वस्तु वक्रता से अभिप्राय रमणीय स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन से है। साथ ही वस्तु का इतिवृत्त कथन स्वाभाविक वर्णन नहीं है वरन् विशिष्ट वस्तु दर्शन में ही इसकी रमणीयता सन्निहित है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य अनगढ़ वस्तु भी कवि के दृष्टिकोण से विशिष्ट अर्थ-आह्लादक होकर अभिव्यक्त होती है। कुन्तक ने वस्तु के स्वाभाविक वर्णन को काव्य का आह्लादक विषय मानकर और कवि-कौशल को उसका प्राणभूत कहकर सौन्दर्य शास्त्र के मुख्य प्रश्न को कुछ पेचीदा सा बना दिया है। वे सौन्दर्य को कवि कर्म जन्य मानते हैं और वस्तु के नैसर्गिक सौन्दर्य की आवश्यकता को भी रेखांकित करते हैं। इससे ऐसा लगता है कि कुन्तक सौंदर्य की वस्तु परक और आत्मपरक—दोनों दृष्टियों से देखने का प्रयास कर रहे हैं। वे जब भाव की सहज रमणीयता को स्वीकार करते हैं तब कवि-कर्म सौंदर्य के अधिष्ठान में अधिक भूमिका प्रदान नहीं करता। इधर उनके शब्दों में समस्त वाङ्मय के प्राणभूत साहित्य में कवि व्यपार का ही सबसे अधिक महत्त्व है।[1] उनके अनुसार अनगढ़ पत्थर के टुकड़े सी मणि के समान, प्रतिमा से प्रतिभान वस्तु विदग्ध कवि रचित वाक्य में रूपारूढ़ होकर सान पर घिसे हुए रत्न के समान मनोहर होकर सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है।[2] यही नहीं यह कवि-कौशल अपने स्वाभाविक महत्व से युक्त और औचित्यशाली प्रकारों को भी उपेक्षित करने में समर्थ है।[3]

कुन्तक के इन मन्तव्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु की स्वाभाविक

---

1. तथापि सकलवाक्य परिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणास्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशायित्वम्।—हि० व० जी०, पृ० 63
2. प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाण शकल ल्पमणिप्रख्यमेववस्तु-विदग्ध कविविरचित वक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढ़मणिमनोहरतयातद्विदा-ह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति।— हि० व० जी०, पृ० 23
3. वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
एतदुत्तेजनायालं स्वस्पन्दमतहतामपि। 3.4.23—हि० व०जी०, पृ० 321

शोभा का अंकन जैसा विद्यमान है, वह काव्य का विषय नहीं है, वरन् जैसा मन को रुचिकर लगता है, वही ग्राह्य है। वे वस्तुत: वस्तु की सहज शोभा को भी कवि-कौशल प्रसूत मानते हैं। उन्हें वस्तु का प्रकृत सौंदर्य स्वीकार्य है, पर उसमें भी कवि शक्ति का प्रदेय रहता है। वे जब यह कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ से उत्तम कवियों द्वारा प्रतिदिन सार का ग्रहण करने पर भी वाणी के सौन्दर्य की अभी तक मुहर भी नहीं टूटी है[1], तब वे सौन्दर्य को आत्मा का दिव्य संकेत मानते हैं। अन्त में वे स्पष्ट भी कर देते हैं कि रस, स्वभाव और अलंकार सब के सौन्दर्य का कवि-कौशल ही प्राणभूत होता है—रस स्वभावालंकार सर्वेषां कवि कौशलमेव जीवितम्।[2] अत: कवि कौशल ही सौंदर्य ही उत्स है।

तुलसीदास भी कवि की इस अपरिमित शक्ति से परिचित थे जिस पर समस्त काव्य जीवित का सौन्दर्य निर्भर है। यद्यपि उन्होंने तद्युगीन वातावरण के अनुरूप ही वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य का वर्णन प्रमुख रूप से किया है तथापि वे सौन्दर्य शास्त्र के इस सूक्ष्म रहस्य से भी पूर्णत: अवगत थे कि सौन्दर्य व्यक्ति सापेक्ष है जिसके कारण वस्तु को सुन्दर-असुन्दर होना उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता:

1. राघौ जू-श्री जानकी-लोचन मिलिदे को मोदु,
कहिबे को जोगु न, मैं बातें-सी बनाई हैं।
स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन, तुलसी को तैसो,
तैसो मन भयो जाकी जैसियै सगाई हैं। (गी० 1.71.4)

तुलसी का यह स्वाभाविक वर्णन अप्रतिम है। सौन्दर्य व्यक्ति सापेक्ष है। राम, सीता, सखीजन, लक्ष्मणजी और तुलसीदास—इनमें से जिनका जैसा सम्बन्ध है उनका वैसा ही चित्त हो गया। तुलसी की मेधा ने इस तथ्य को पहचाना है कि वस्तु सौन्दर्य कवि—कौशल से निःसृत है।

2. सुमिदि गनेस-गुर, गौरि-हर, भूमिसुर,
सोचन सकोचत सकोची बानिधरी है।
दीनबन्धु, कृपासिन्धु, साहसिक, सीलसिंधु,
सभा को संकोच कुलहू की लाज परी है॥ (गी० 1.92.2)

यहां पर सीता के संकोची स्वभाव का अति सुन्दर वर्णन प्राप्य है। तुलसी ने

---

1. आसंसारंकविपुङ्गवैप्रतिदिवमगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नसमुद्रइवजयतिबाचांपरिस्पन्दः॥
हि० व० जी०, पृ० 317

2. हि० व० जी०, पृ० 318

सीता के सूक्ष्म स्वभाव का उद्घाटन किया है जो कवि कर्म के प्रपंचस्वरूप ही सम्भव हो सका है। क्रोचे ने भी संस्कारों की बात कहते समय ऐसा ही कहा है।

3. बीथिन्ह कुंकुम-कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई।
नाचहिं पुर-नर-नारि प्रेम भरि देह दसा बिसराई।।
(गी० 1.1.8)

शरीर की दशा को बिसराकर किस प्रकार पुरजन राम-जन्मोत्सव का आनंद मनाते हैं, इस बात का स्वाभाविक वर्णन इन पंक्तियों में प्राप्य है।

4. सजी आ रही विचित्र धार कर जूथ जूथ बर नारी।
गावत चलीं बधावन ले लें निज निज कुल अनुहारी।।
घंटाघंटि, पखाउज आउज, झांझ बेनु उफ-तार।
नूपुर धुनि मंजीर मनोहर, कर कंकन-झनकार।।
नृत्यकरहि नट-नटी, नारि-नर अपने-अपने रंग।
मनहुं मदन-रति विविध वेष धरि नटत सुदेश सुढंग।।
(गी० 1.2.9, 13, 14)

इन पंक्तियों में तुलसीदास ने मांगलिक अवसर पर नर-नारियों के बधावों नट-नटी के नृत्यों तथा विभिन्न वाद्य यंत्रों के संगीत का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। तुलसीं यह मानते हैं कि जो वस्तु स्वभावतया सुन्दर है उसका आकर्षण स्थायी रहता है। सौभाग्यवती स्त्री स्वभाव से सुन्दर मानी गई है। अतः उनके समूह का वर्णन सौंन्दर्य का आधार तथा आह्लाद का जनक है।

5. झुकनि, झांकनि, छांह सो किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि, मोहनी मन हरनि।।
(गी० 1.28.3)

इन पंक्तियों में राम की बाल सुलभ चपलताओं और स्वाभाविक सौन्दर्य का अति सुन्दर वर्णन हुआ है। ये पंक्तियां ही सौन्दर्य शास्त्र के इस सिद्धान्त को पुष्ट करती हैं कि काव्य सौन्दर्य के लिए कवि कर्म कौशल जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य है। चित्रफलक के सौन्दर्य पर ही चित्र सौन्दर्य आधृत है।

6. स्यामल सलोने गात, आलस बस जंमात प्रिया प्रेम रस पागे।
उनीदे लोचन चारु, मुख-सुखना-सिंगार टेरि हारें भार भूरि
मागे।। (गी० 7.2.2)

इन पंक्तियों में प्रातः के स्वाभाविक सौन्दर्य का अति सुन्दर वर्णन हुआ है। राम के शारीरिक सौन्दर्य के साथ क्रियागत सौन्दर्य की शोभा देखते ही बनती

है। सौन्दर्य पारदर्शी होता है। तुलसी ने इस वर्णन में शील एवं मर्यादा की रक्षा की है, पर ऐसे अवसरों का अपना जो सौन्दर्य है, यह यहाँ भी अभिव्यक्त हो ही गया है।

7. मज्जन करि सर जुतीर ठाढ़ रघुवंसबीर,
सेवत पदकमल धीर निरल चित लाई।
ब्रह्म मंडली-मुनींद्र बृन्द-मध्य इन्दुबदन।
राजत सुख सदन लोक-लोचन-सुखदाई ।। (गी० 7.3.2)

स्नान, जलविहार आदि के पश्चात् शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन स्वाभावोक्ति के मुख्य विषय हुआ करते हैं। यहां पर तुलसी ने स्नान के बाद राम के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया है।

8. लोने नख-सिख, निरुपम, निरखन जोग,
बड़े उर-कंधर बिसाल भुज बर हैं।
लोने लोने लोचन, जटनि के मुकुट लोने,
लोने बदननि जीतै कोटि सुवाकर है ।। (गी० 2.45. 2)

यहां पर निरूपम, निरीक्षणयोग्य, लावण्यमय नख-सिख, उर-कंधर, भुज, लोचन, बदन आदि का अति आह्लादकारी स्वाभाविक वर्णन प्राप्य है। सौन्दर्य नैसर्गिक होता है। प्रयत्न करने से सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं, प्रतीत होती है।

9. पदकंजनि मंजु बनी पनहीं, धनुहीं सर पंकजपानि लिए।
लरिका संग खेलन-डोलता हैं सरजू तट चौहट हाट हिये ।।
(क० 1.6)

राम के स्वाभाविक सौन्दर्य का अति ही सुन्दर वर्णन किया गया है। कुछेक अर्थालंकारों को छोड़कर वस्तु का इतना सुन्दर स्वाभाविक वर्णन तुलसी का ही कौशल है।

10. पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए भग में उग द्वै।
झलकी भरि भालकनी जल की पुरि सूख गए मधुराधर वे ।।
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब कैतिक' पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियों अति चारु चली चल ज्वै ।।
(क० 2.11)

इन पंक्तियों में तुलसी ने सीता के धैर्य, श्रम जनित जलकण, शुष्क अधरों तथा चेहरे पर लिखित आतुरता के बिम्ब को अति सहज ढंग से अपनी कल्पना एवं प्रतिभा के बल पर ऐसी काव्यकृति प्रदान की है जो सम्प्रेषणीयता के साथ-साथ आह्लादकत्व को भी प्राप्त हो गई है।

11. आनंद उमंग मन, जीवन उमंग तन,
रूप की उमंग उमगत अंग अंग हैं ।। (क० 2.15)

मन में आनन्द, तन में यौवन और प्रत्येक अंग में रस राशि का उमंग पूर्ण स्वाभाविक वर्णन तुलसी अपनी प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति के बल पर कर सके हैं। यहां पर कवि कौशल जन्य अभिव्यंजना व्यापार स्पष्ट दृष्टव्य है ।

12. सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाट, तिरछी सी भौहें ।
तून सरासन बान धरैं, 'तुलसी' बन मारग में सुठि सोहें ।।
सादर बारहिं बार सुभाय चित तुम त्यों हमरो मन मोहें ।
पूछति ग्राम वधू सिय सौ 'कहौ सांवरे से सखि रावरे को है' ।।
(क० 2.21)

नववधू पति के साथ गमन अपने आप मे सौंदर्य-धायक है । मार्ग में स्त्रियां बहु का मुखड़ा देखकर उसका मान बढ़ाती हैं, यह परम्परा है । यहाँ पर वधू से उसके पति के विषय में पूछती हैं, यह सम्पूर्ण कथा व्यापार अति स्वाभाविक रूप से यहाँ रूपायित हो उठा है। यह सहज स्वाभाविक वस्तुवर्णन तुलसी के काव्य कौशल का अपूर्व अनुष्ठान है ।

13. सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै ।
बन खेलत राम फिरें मृगया, तुलसी छवि सौ बरनै किमि कै ।।
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चित वैं चित दै ।
न डगै, न भगै जिय जानि सिलीमुख पंच धरै रति नायक हैं ।।
(क० 2.27)

मृगों का स्वभाव है कि कुछ दूर पर चलकर रुक जाते हैं और उनके पीछे की ओर मुड़कर देखने लगते हैं। कवि उनके इस व्यापार के गौरव की कल्पना करके, राम को कामदेव बनाकर उन्हें निर्भय एवं निश्चिन्त कर दिया है । तुलसी कृत यह स्वाभाविक वर्णन सहृदय को आह्लादित करने में पूर्णतः सक्षम है ।

14. वीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पंवरि पगार प्रति बानर विलोकिए ।
अध उर्ध्व बानर विदिस दिसि बानर है,
मानहु रह्यो है मरि बानर तिलो किए ।। (क० 5.17)

यह साधारण तथ्य है कि गीत और त्वरा से चूमने के कारण सर्वत्र वही आकृति दीखने लगती है । फलतः गली-गली बाजार-बाजार, घर-घर, द्वार-द्वार, दीवार-दीवार पर वानर ही दिखाई पड़ रहे थे । हनुमान से आतंकित राक्षस राक्षसियों को मन में और बाहर, सर्वत्र वानर ही वानर दिखाई पड़ता है । इस

मनोवैज्ञानिक चित्रण से भय और त्रास की प्रभावशाली अभिव्यक्ति यहाँ पर हुई है। तुलसी का यह काव्य कौशल सहृदय को आह्लादित करता है।

15. जागैं जोगी जंगम, जती जमाती ध्यान धरैं,
डरें उर भारी लोभ मोह कोह काम के।
जागे राजा राजकाज, सेवक समाज साज,
सोचें सुनि समाचार जड़े बैरी बाम के।
जागें बुध विनाहित पण्डित चकित चित,
जागें लोभी लालच धरनि धन-धाम के।
जागें भोगी भोगही, वियोगी रोगी सोग बस,
सोवे सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥ (क० 7.109)

इन पंक्तियों में कवि ने योगी, यती, सन्यासी, जंगम, राजा, सेवकगण, विद्वान, पण्डित, लोभी, भोगी, रोगी आदि लोगों के जागने के कारणों एवं क्रियाओं का अति स्वाभाविक वर्णन किया है। तुलसी राम के बल से सोते हैं अर्थात् निश्चिन्त हैं, यह वस्तु रूप का ध्वन्यर्थ आह्लादकारी है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तुलसी सौन्दर्य को उभयमुखी मानते हैं—एक ओर वे सौन्दर्य को ईश्वर प्रदत्त मानते हैं तो दूसरी ओर दृष्टा की ग्रहणशक्ति एवं प्रस्तुतीकरण पर सौन्दर्य का मूल्यांकन करना उचित समझते हैं। सुन्दर वस्तु अपने प्रकृत रूप में ही सुन्दर लगती है। इसी को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने कहा है कि स्वभाव से ही सुकुमार पदार्थों के प्रसंग में वाच्यालंकार उपमादि का अधिक प्रयोग उचित नहीं हो सकता है क्योंकि उससे स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है।[1]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ कवि की विवक्षा स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन की हो, वहां अलंकारों का प्रयोग त्याज्य है। तुलसी ने सहज अलकारों का प्रयोग किया है। स्वाभाविक वर्णन में वे अलंकारों को बिल्कुल ही छोड़ भी गए हैं जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है।

भौतिक जगत में कुछ ऐसे विषय भी होते हैं जिनका प्रकृत रूप ही मोहक होता है। कुन्तक ने उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि वय-सन्धि, जल-विहार-वर्णन, केशविन्यास, एवं सुन्दर प्राकृतिक दृश्य सहज वस्तु-वैचित्र्य के विषय हैं। तुलसी के काव्य में स्नान के बाद परिश्रम के बाद, शयन के बाद दृश्य

---

1. तदिदमुक्तं भवति यदेवं विधे भावस्वभाव सौकुमार्य वर्णन प्रस्तावे भूयसां न वाच्यालंकाराणामुपादीनामुपयोग योग्यता सम्भवति, स्वभाव-सौकुमार्याति-शयम्लानताप्रसङ्गात्। हि० व० जी०, पृ० 294

सुन्दर छटा के साथ वर्णित है। तुलसी ने रामजन्म के पश्चात् नाचने वालों के उस दृश्य का भी वर्णन किया है जहां वे अपनी देह-दिशा को भूल जाते हैं यह बहुत हीं स्वाभाविक वर्णन है। युवावस्था में पदार्पण करने वाली नारी का शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन उसके अत्यधिक आकर्षण का कारण है। इस अवस्था में शोभा लावण्य, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्मता, सौन्दर्य, धैर्य आदि उसके सौन्दर्य के अमूर्त उपादान उसके अंगों से झलकने वाले विलास को आकर्षक बना देते हैं। तुलसी ने कई स्थलों पर सीता का ऐसा सुन्दर मर्यादित चित्र प्रस्तुत किया है।

वसन्त ऋतु के आगमन पर प्रकृति की रम्य छटा चित्रकूट वर्णन में देखने को मिलती है:

ऋतुपति आये भलो बन्यो बन समाज। मानो भए हैं मदन महाराज आज॥
मनो प्रथम थागु मिस करि अनीत। होरी मिस अरिपुर जारि जीति॥
मारुत मिस पत्र-प्रजा उजारि। नयनगर बसाइ विपिन झारि॥
(गी० 2.49.1-2)

वर्षा ऋतु के रम्य वर्णन भी दृष्टव्य है:

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
वरषा ऋतु प्रबेस विशेष गिरि देखन मन अनुरागत॥
चहुं दिसि बन सम्पन्न बिहंग-मृत बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देख-पुर प्रभुदित प्रजा सकल सुख छावत॥
(गी० 2.50.1-2)

दमकति दुसह दसहुं दिसिदायिनी, भयोतम गगन गंभीर।
गरजत घोर बारिधर घावत प्रेरित प्रबल समीर॥
(क० 12.2)

चित्रकूट की शोभा का सहज वर्णन तुलसीदास में अन्यन्त्र भी दृष्टव्य है:

जहां बनु पावनो, सुहावने बिहंग-मृत,
देखि अति लागत अनन्दु खेल-खूंट सो।
सीता-राम-लखन-निवासु, वासु मुनिन को,
सिद्ध-साधु-साधक सबै विवक-बूट-सो॥ (क० 7.141)

तुलसीदास कोमलता के कवि हैं। यही कारण है कि उनका मन शीतल मन सुगन्ध समीर के वर्णन में अत्यधिक रमा है:

त्रिविध समीर, नीर झर झरननि, जहं तहं रहै ऋषि कुटी बनाई।
सीतल सुभग सिलनि पर तापस करत जोग-जप-तप मन लाई॥
(गी० 2.46.5)

वस्तु के इस स्वाभाविक यथार्थपरक वर्णन में ग्राम्यत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। काव्य की रोचकता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि कवि सामाजिक परिष्कृत रुचि का ध्यान रखे। कभी-कभी पदार्थों के अति मुखर होने से असुन्दरता का समावेश हो जाता है। उनका वास्तविक रूप कुरुचि को जन्म देता है। तुलसी शील और सौंदर्य के कवि हैं। उन्होंने मर्यादित सौन्दर्य का वर्णन किया है :

1. विरचित तहं परनसाल, अति विचित्र लषनलाल,
निवसत जहं नित कृपालु राम-जानकी।
निखकर राजीव नयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परसपर पीयूष प्रेम-पान की।। (गी० 2.44.3)

2. सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानीभली।
तिरछे करि नैन दे, सैन. तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली।।
तुलसी तेहि औसर सौहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अलीं।
अनुराग-तड़ाग में भानु-उदें बिगसी मनो मंजुल कंजकली।।
(क० 2.22)

3. स्यामल सलोने गात, आलस बस जमांत प्रिया प्रेम रस पागे।
उनींदें लोचन चारु, मुख-सुखमा-सिंगार हेरि हारे मार भूरि
भागे।। (गी० 7.2.2)

उपरोक्त स्थलों पर तुलसीदास के लिए असीम शृंगार वर्णन के लिए पर्याप्त अवकाश था, पर स्वाभाविक वर्णन हेतु कवि ने मर्यादा की रक्षा की है।

कवि काव्य का अधिष्ठाता है। विषय-वस्तु जो साधारण व्यक्ति को विशेष प्रभावशाली प्रतीत नहीं होती वही कवि की सौन्दर्य दृष्टि के कारण साहित्य की कोई विधा बनकर सामान्य रूप से चमत्कारक बन जाती है। सुन्दर विषम रमणीय होते हैं, पर कवि अपने कौशल से सामान्य विषयों को भी जीवन्त बना देता है। अतः कुन्तक की यह धारणा स्वयं सिद्ध है कि चाहे प्रकृति कितना ही रमणीय क्यों न हो, कवि की भूमिका निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है।

आहार्य वस्तुवक्रता

आहार्य वस्तुवक्रता उपमा आदि अर्थालंकारों के समावेश से रचित होती है। कुन्तक इसी को वाक्यवक्रता भी कहते हैं। 'वाक्यवक्रता काव्य के सभी प्रकरणों और प्रसाधनों से परे एक अतिरिक्त काव्य सौन्दर्य हुआ करता है। जिस प्रकार चित्र की मनोहरता, फलक. रेखा और रंगकारी में न होकर चित्रकार की चित्रण कुशलता में रहा करती है, वैसे ही काव्य की हृदयहारिता शब्द, अर्थ, गुण और

अलंकार में न होकर कवि की निर्माण कुशलता में रहा करती है।[1]

वस्तु एक ही होती है पर कवि उसका वर्णन भिन्न-भिन्न ढंग से किया करता है। अतः एक ही कथ्य को विभिन्न प्रकार से वर्णन करना ही कवि का आहार्य कौशल है। यह अभिव्यंजना की नवीनता को प्रकट करता है। इस प्रसंग में कुन्तक ने प्राकृत की एक गाहा उद्धृत की है:

आसंसार कइपुंगवेहि पडिदि अहगहि असारो वि।
अञ्जवि अभिन्नमुहो व्व ज अइ वाआं परिष्फंदो ।।
आसंसारं कवि पुङ्गवैः प्रतिदिवस गृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्न समुद्र इव जयति वाचां परिस्पदः ।। (इतिच्छाया)[2]

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से ही उक्त कवियों द्वारा प्रतिदिन सार का ग्रहण करने पर भी वाणी के सौन्दर्य की अभी तक मुहर भी नहीं टूटी है, यद्यपि रस, स्वभाव आदि सबके वर्णन में कवि का कौशल ही प्राणभूत है, फिर भी विशेष रूप से कवि कौशल के अनुग्रह के बिना अलंकार (आहार्यवस्तु) में नाममात्र को भी वैचित्र्य नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि आहार्य वस्तु कवि कौशल जन्य है, दूसरे शब्दों में यह उत्पाद्य होती है। आहार्य वस्तु से यह अभिप्राय नहीं है कि उसका कोई वास्तविक अस्तित्व होता ही नहीं है। आहार्य वस्तु का अस्तित्व तो निश्चय ही होता है परन्तु यह सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहता है। कवि अपने कौशल द्वारा उसमें अलौकिक शोभातिशय की उद्भावना कर देता है। इससे उस वस्तु का सत्तामात्र से आभासित होने वाला मूल रूप आच्छादित हो जाता है और वह लोकोत्तर सौन्दर्य से सम्पन्न एक नया ही रूप धारण कर लेती है, पर यह नया रूप निरंकुश नहीं हो सकता। अपने इस आहार्य रूप में भी इसका स्वाभाविक होना आवश्यक है। उसे कौतुक मात्र नहीं होना चाहिए। कुन्तक ने स्वयं स्वीकार किया है कि:

स्वभाव व्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मानिरुपाख्यं प्रसज्यते ।।[3]

---

1. मार्गस्थ वक्र शब्दार्थ गुणालंकारसम्पदः।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहिति जीवितम् ।।
मनोज्ञफलकोल्लेख वर्णच्छायाश्रियः पृथक्।
चित्रस्येवमनोहारिकर्तुः किमपि कौशलम् ।।
हि० व० जी० 3.3, 3.4

2. हि० व० जी०, पृ० 317

3. हि० व० जी०, 1.12

अतः यह स्पष्ट है कि आहार्य कौशल की शक्ति कसावट में निखरती है। उसका अतिरेक स्पृहा के योग्य नहीं है।

आहार्या वस्तु को ग्राह्य और प्रभावी बनाने के लिए छः व्यापारों की आवश्यकता होती है—स्पष्टता, स्वच्छता, स्वाभाविकता, आकर्षण, कौतुहल और चमत्कार। इनके विधायक मनोव्यापार हैं—साम्य, वैषम्य, अतिशय, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। समस्थ अलंकार इन्हीं व्यापारों के परिणाम हैं। कवि वस्तु की सफल अभिव्यक्ति के लिए, उनकी परिसीमा के अन्तर्गत आने वाले प्रायः सभी अलंकारों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करते हैं।

तुलसीदास में जहां सहज अभिव्यक्ति की प्रतिभा है, उनमें कविकर्म कौशल प्रसूत आहार्य अभिव्यक्ति की क्षमताएं भी विद्यमान हैं। उन्होंने भावानुकूल अलंकारों को अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। शिल्प के सम्बन्ध में भी उनका काव्य बेजोड़ है। उनके ऐसे काव्य की शोभा का आधार आहार्य प्रतिभा ही है।

तुलसीदास भक्त कवि हैं। राम के आराध्य हैं। राम की शोभा का वर्णन करने के लिए तो उन्होंने अनेक प्रकार के उपमानों—प्राकृतिक, परंपरित, अपरम्परित, लौकिक, अलौकिक, काल्पनिक, पौराणिक और शास्त्रीय सभी का अनेक तरह सफल प्रयोग किया है। उन्होंने पुरानी बातों को पालिश करके, खराद करके संवार के सजाके नया रूप दिया है। ऐसा करने में उन्होंने अर्थालंकारों का विशेष रूप में प्रयोग किया है जिसके सुन्दर न्यास से प्रतिपाद्य वस्तु में नवीन भंगिमा का आधार हो गया है। तुलसी ने आलम्बन के रूप वर्णन को अधिक प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत करने के लिए अनेक सुन्दर अप्रस्तुतों का चयन किया है। अंग प्रत्यंग के लिए आने वाले नखशिख वर्णन पद्धति वाले चर्चित उपमानों का अधिक्य तो कभी-कभी पाठक को उबा देता है। विनयपत्रिका के चौदहवें पद में शरीर द्युति के लिए चम्पक पुष्प, कटि के लिए केहरि, गति के लिए मराल, नूपुर के लिए विहंग, जंघा के लिए कदलि, मद के लिए कमल, भूषण के लिए प्रसून हाथ के लिए मौलसिरी और आम्रपल्लव स्तन के लिए श्रीफल, कंचुकि के लिए लताजाल, वचन के लिए पीक, हास के लिए सितसुमन, लीला के लिए समीर आदि उपमान प्रयुक्त हुए हैं। यह तुलसी के अप्रस्तुत विधान की व्यापकता का परिचायक है।

तुलसी में ऐसे उपमानों का अभाव नहीं है जो परम्परा से काव्य और काव्य शास्त्र में प्रचलित हैं :

> अरुन बन ज लोचन कपोल सुभ, सुति मंडित कुंडल अति सुन्दर।
> मनहुं सिंधु निज सुतहि मनावन पठए जुगल बसीठ वारिचर ॥
> (कृ० 21.3)

यहाँ पर नेत्रों के लिए अरुण वन ज की कल्पना बड़ी प्रभावशाली बन पड़ी है। गोप गोसुत बल्लभ भी घनश्याम ही हैं। उनका शरीर अनेक कामदेवों की सुन्दरता रखता है। वसन किंजल्क की तरह तथा लोचन अतरूण बनरुह की तरह:

घनश्याम काम अनेक छवि, लोकाभिराम मनोहरं,
किंजल्क बसन, किसोर मूरति मूरि गुफ करुनाकरं।।
सिर के कि पच्छ बिलोल कुंडल, अरुन बनरुह लोचनं
गुंजावतंस विचित्र सब अंग धातु, भव भय मोचनं।।
(कृ० 23.2-3)

महाकवि ने प्रकृति की टकसाल से नए-नए उपनामों की भी सर्जना की है। यह मन कभी विश्राम नहीं मानता। जन्म जन्मान्तरों से कर्म रूपी कीच में अपने को सान लिया है। भला विना विवेक रूपी जल के म्लान चित कैसे निर्मल हो सकता है:

कबहूं मन विश्राम न मान्यो।
जनम अनेक किये नाना विधि करम-कीच चित सान्यो।
होइ न विमल विवक-नीर बिनु, वेद पुरान वखान्यो
(वि० 88.3)

तुलसी ने विषयी मन के लिए लोलुप कुत्ते की कल्पना की है:

मेरो मन हरि जू ! हठ न तजे।
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहं तहं सिर पद त्रान वजे।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहूं न मूढ़ लजे।।
(वि० 89.3)

भगवान राम सोये हुए हैं। माता जगाने की चेष्टा कर रही है। पक्षीसमूह ऐसे मधुर शब्द करते हैं, मानो वेद बन्दी जन, मुनि वृन्द, सूत और मागध उनके विरह का बखान कर रहे हैं:

बोलत खगनिकर मुखद मधुर करि प्रतीत सुनहु,
स्रवन, प्रान जीवन धन, मेरे तुम बारे।
मनहुं बेद-बंदी-मुनिवृन्द-सूत भागधादि,
बिरुद बदत जय जय जय जयति कैटभारे।। (गी० 1.38.3)

यहाँ पर अप्रस्तुत विधान अति सुन्दर बन पड़ा है। यह तुलसी का आहार्य प्रतिभा का कौशल है। तुलसी ने राम और सीता के सौन्दर्य के कारणों का समाधान इस प्रकार खोज निकाला है:

दुलह राम, सीय दुलही री !
धन-दामिन बर बरन, हरन-मन-सुंदरता नखसिखनि बही, री ।।
ब्याह-बिभूषन-बसन, बिभूषित, सखि अवलीलखि, ठगी-सी रही, री ।
जीवन-जनम-लाहु, लोचन फल है इतनोइ, लह्यौ आजु सही, री ।।
सुखमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अभियमय कियो है दही, री ।
मथि माखन सिय-राम संवारे, सकल भुवन छवि मनहु मही, री ।।
तुलसीदास जो री देखत सुख सोभा अतुल, न जाति कही, री ।
रूप रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री ।।
(गी० 1.106.1-4)

तुलसी का अनूठा अप्रस्तुत विधान यहाँ पर द्रष्टव्य है । कामदेव रूपी ग्वाले ने मानो शोभा रूपी दूध दुहकर उसी से अमृतरूप दधि तैयार किया और उसी को मथकर सारभाग कोमल नवनीत से भगवान राम और भगवती सीता की मृदुल मनोहर आकृति का निर्माण किया । संसार की अवशिष्ट सुन्दरता तो मानो मट्ठे की तरह बच गई । ये दोनों रूप की राशि हैं और मानो स्वयं कामदेव इनके समक्ष लवनि और सीता के रूप में आगे सीला की तरह है । पूर्ण लहलहाती फसल तो भगवान स्वयं हुए और खेत में बिखरे दाने मानो कामदेव हैं ।

तुलसी का आहार्य कौशल लौकिक उपमानों के प्रयोग में द्रष्टव्य है:

लोहित ललित लघु चरन-कमल चाऊ,
चाल चाहि सो छबि सुकवि जिय जियो है ।
बाल केलि बातवस झलकि झलमलत,
सोभा की दीयटि मानो रूप-दीप दियो है ।। (गी० 1.10.3)

बाल चापल्य युक्त भगवान रामचन्द्र ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानो शोभा रूपी दीवट पर रूप रूपी दीपक चमकता है और वह बाल क्रिडा रूपी वायु के झकझोरों से झिलमिला रहा है ।

तुलसी की आहार्या मेधा ने ऐसे उपमानों की भी कल्पना की है जिनकी स्थिति इस जग में तो हो ही नहीं सकती, अन्य लोकों में भी उसकी संभावना नहीं है । ऐसे उपमान कवि की सहज कल्पना की उपज होते हैं । बिन्दु माधव के दक्षिण भाग में लक्ष्मी जी विराजमान हैं । वे ऐसी शोभा पा रही हैं, मानो तमाल तरु के निकट नील परिधान ओढ़े स्वर्णलता बैठी हो:

दच्छ भाग अनुराग-सहित इन्दिरा अधिक ललिताई ।
हेमलता जनु तरु तमाल ढिग, नील निचोल ओढ़ाई ।।
(वि० 62.12)

स्वर्णलता का मिलना उतना ही असम्भव है जितना स्वर्णमृग का जिसकी कल्पना वाल्मीकि ने की थी।

असंभवं हेममृगस्य जन्य तथापि रामो लुलुभे मृगाय।

जब धनुष यज्ञ की कमनीयाभूमि में दोनों भाई कौतुक से आ खड़े हुए तो लगा मानो छवि रूपी सुर सभा में दो कलित कल्पतरु सौंदर्य रूपी फल से फलित हुए हों :

धनुष जग्य कमनीय अवनि-तल कौतुक ही भए आय खरै, री।
छबि-सुर सभा मनहु मनसिज के कलित कलपतरु रूप फरै री॥
(गी० 1.76.2)

ऐसी ही एक और उत्प्रेक्षा :

किंकिनि कनक कंज अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई।
गई न उपर, सभीत नमित मुख, बिकसि चहुं दिसि रही लोनाई॥
(गी० 1.108.4)

भगवान की कटि में कनकमयी करधनी है। वह मानो सुवर्ण वर्ण सरिस जो की माला हो जो मरकत मणि के पर्वत के मध्य भाग से उत्पन्न हुई हो। एक अन्य उत्प्रेक्षा—प्रभु के श्याम शरीर पर श्रम कण ऐसे सुशोभित है जैसे कोई नीरद अमृत अर्णव में डुबकी लगाकर निकला हो :

स्यामल तनु स्रम-कन राजत, ज्यों नव घन सुधा सरोवर खोरै।
(गी० 2.3.2)

मनहुं इन्दु पर खंजरीट है कछुल अरुन विधि रचे संवारी।
कुटिल अलक जनु भार फंद कर गहै सजग ह्वै रह्यो संभारी॥
(क० 22.2)

श्रीकृष्ण की नींद-बोझिल अलसाई आंखें ऐसी लगती हैं, मानो चन्द्रमण्डल पर ब्रह्मा ने कुछ ललाई लिए हुए दो खंजनों को सजाकर बना दिया हो। घुंघराली अलकें तो मानो कामदेव के फंदे हैं।

एक और सुन्दर उपेक्षा द्रष्टव्य है :

माल विसाल विकट भ्रकुटी बिच तिलक-रेख रुचि राजै।
मनहुं मदन तन तकि मरकत-धनु जुगुल कनकसर साजै॥
रुचिर पलक लोचन जुग तारक स्याम अरुन सित कोए।
जनु अलि नलिन-कोस महं, वंधुक सुम सेज सजि सोए॥
(गी० 7.12.2-3)

भगवान के विशाल भाल पर बांकी भ्रकुटियां हैं और उनके बीच में तिलक

रेखा शोभती । मानो कामदेव ने अन्धकार को देखकर मरकत मणि के धनुष पर दो सुवर्णमय बाण चढ़ाये हों। सुन्दर पलकयुक्त नेत्रों में दो श्याम रंग के तारे तथा रक्त श्वेतवर्ण कोए है, मानो पद्म कोष में बद्ध दो भ्रमर बिन्दूक पुष्प की शय्या बनकर उस पर शयन कर रहे हैं। यह तुलसी की व्युत्पत्ति जन्य प्रतिभा का कौशल है जो सहृदय को इन सुन्दर कल्पनाओं से आह्लादित कर देता है। तुलसी ने अनेक ऐसे उपमानों को प्रस्तुत किया है जो सम्भव हो नहीं सकते। सोने के धनुष बन सकते हैं पर मरकत मणि का पर्वत तो हो ही नहीं सकता।

तुलसी ने पुराणों से भी अनेक उपमान लेकर काव्य शोभा में वृद्धि की है:

1. वचन-मन-कर्म-गत शरण तुलसीदास त्रास पाथोधि इव कुंभजातं ।।

(वि० 59.9)

यह तुलसीदास मन, वचन और कर्म से आपकी शरण में आया है, इसके भव-भय रूपी समुद्र को खोजने के लिए आप ही साक्षात अगस्त्य ऋषि के समान हैं।

2. प्रेम-बारि-तरपन भलो, घृत सहज सनेहु।
संस्य समधि, अगिनि छमा ममता-बलि देहु ।।
अध-उचारि, मन बस करै, मारै मद मार।
आकरषै सुख-संपदा-संतोष-विचार ।। (वि० 108 3-4)

मन्त्र जप के बाद प्रेम रूपी जल से तर्पण करना चाहिए तथा सन्देह रूपी समधि का क्षमा रूपी अनल में हवन करना चाहिए। पूजा की शास्त्रोक्त पद्धति का वर्णन करके तुलसीदास तांत्रिकों के वशीकरण, भारण एवं आकर्षण की भी चर्चा करते हैं। इसलिए यहां भी पापों का उच्चाटन, मन का वशीकरण, अहंकार और काम का भारण एवं ज्ञान रूपी सुख-सम्पत्ति का आकर्षण करना चाहिए।

3. सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगभगे सृगनि।
मनहु आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि भृंगनि ।।
सिखर परस घन-घटहि, मिलति बग-पांति सो छवि कवि करनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठयो है दसन धरि धरनी।।

(गी० 2.50.3-4)

धातुओं से रंगी गिरि-श्रेणियों पर मधुर शोर करते हुए मेघ ऐसे लगते हैं मानो देवों एवं मुनियों से वेष्ठित आदि कमल हों जिससे ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई है। नभमण्डल में बकपंक्ति शिखर को स्पर्श कर काली घटाओं से मिलती है मानो आदि वराह सागर में क्रीड़ा कर दांतों पर पृथ्वी धारण कर उससे बाहर निकले हों।

4. अरुनकंज-दल-बिसाल लोचन भ्रु तिलक भाल,
मंडित स्रुति कुंडल बर सुंदरतर जोरी ।

मनहुं संबरारि मारि, ललित मकर जुग बिचारि,
दीन्हें ससिकहं पुरारि भ्राजत दुहुं औरी ।। (गी० 7.7.3)

भगवान के नेत्र कोकनद के सदृश विशाल हैं, मस्तक पर भ्रकुटि तथा तिलक कानों में श्रेष्ठ कुण्डलों की जोड़ी झूलती है मानो महादेव ने कामदेव को मार उसकी ध्वजा के दो मकरों को सुन्दर जानकर चन्द्रमा को दिया है और वही उसके दोनों ओर शोभायमान हों।

तुलसीदास ने इस तरह अनेक पौराणिक, पुस्तकीय, परम्परा से प्रचलित आख्यानों को अपने अप्रस्तुत चित्रण, कथन समर्थन समर्थन के लिये प्रयुक्त किया है।

गोस्वामी तुलसीदास बहुंपठित एवं बहुति व्यक्ति थे। विभिन्न शास्त्रों से भी उन्होंने उपमान ग्रहण किए हैं:

1. लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय।
जोवन-जुर जुबती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय।।
(वि० 83.2)

लड़कपन अज्ञानता में बीता। जवानी रूपी ज्वर चढ़ने पर स्त्री रूपी कुपथ्य कर लिया और फिर जब सारे शरीर में काम रूपी वायु भरा तो सन्निपात हो गया।

विनय पत्रिका के 203वें पद में भगवान के चरणारविन्द के भजन की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक की विधि बताई गई है।

2. श्री हरि-गुरु-पद-कमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइप हरि सुख-निधान भगवान ।।
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम-मिलन अति दूरि।
जयपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि ।।
(वि० 203.1-20)

3. नयन-सुषमा निररित नागरि सफल जीवन लेखु।
मनहुं विधि जुग जलज बिरचे ससि सुपूरन मेखु ।। (7.9.2)

भगवान के नेत्र ऐसे मालूम देते हैं मानो मेष राशि की पूर्णिमा के चन्द्रमा में विधाता ने दो कमल बना दिए हों।

4. जब ते ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब ते बिरह रवि उदित एकरस सखि। बिछुरन बृष पाई।
(कृ० 29.1)

जब से कृष्ण ब्रज छोड़कर गए हैं, तभी से विछोह रूपी बृष राशि पाकर विरह रूपी सूर्य एक रस उनित हो रहा है सूर्य मेष आदि बारह राशियों के तपते हैं।

सौर मास के अनुसार बैशाख में मेष राशि पर ज्येष्ठ में वृष राशि पर, आषाढ़ में मिथुन राशि पर, कार्तिक में तुला राशि पर, अगहन में वृश्चिक राशि पर, पूस में धन राशि पर, माघ में मकर राशि पर, फाल्गुन में कुंभ राशि पर और चैत में मीन राशि पर सूर्य रहते हैं। वृष राशि के सूर्य अत्यन्त प्रचण्ड रहते हैं इसलिए इसकी उपमा दी गई है।

तुलसीदास के काव्य में अन्यत्र ज्योतिष एवं शास्त्रीय ज्ञान के समन्वित अप्रस्तुतों का प्रयोग भी मिलता है:

केकिकंठ द्रुति श्याम बरन बपु, बाल विभूषन बिरचि बनाए।
अलकें कुटिल, ललित लटकनभ्रू, नील नलिन दोउ नयन सुहाए।
सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद पल्लव लाए।
मनहुं सुभाग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचु पाए॥
(गी० 1.23.2-3)

विशाल भाल पर अति सुन्दर श्रेष्ठ लटकन और केशावलि सुशोभित है। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो अन्धकार समूह दोनों गुरुओं (वृहस्पति, शुक्र) शनि तथा मंगल को आगे कर चन्द्रमा से मिलने आये हों। लटकन में विभिन्न रंग की मणियां लटकी रहती हैं। नक्षत्र विज्ञान के अनुसार भी बहुत से ग्रह-उपग्रह हैं जिनमें वृहस्पति, शुक्र, शनि और मंगल प्रसिद्ध है। इनमें रंग क्रमशः स्वर्ण वर्ण, धवल वर्ण, नील वर्ण एवं रक्त वर्ण माने गए हैं। इन लटकनों में पोखराज, हीरा, नीलम, मणिक या लाल गुथे हुए हैं। बिखरे हुए केश तम समूह हैं। तम-समूह चन्द्रमा से मिलने क्यों आए हैं क्योंकि अन्धकार और शशिकिरणों से वेरही है, घटती नहीं है लेकिन शायद चन्द्रमा इतने महानुभावों के कारण संकोच से मेल मिलाप कर लें। वृहस्पति चन्द्रमा के या सारे देवताओं के गुरु माने गए हैं। दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य भी चन्द्रमा के उपकारी एवं आदरणीय हैं लेकिन जब एक बार चन्द्रमा ने गुरु-पत्नी के साथ छल किया तो उस समय दानव और दानव गुरु शुक्राचार्य ने उनकी सहायता की थी। यह कथा भागवत 9.14 में वर्णित है। शनि सूर्य भगवान के पुत्र हैं। सूर्य भगवान चन्द्र के मित्र या भाई हैं, क्योंकि एक ही स्थान समुद्र से दोनों की उत्पत्ति हुई है, इसलिए शनि के साथ भी चन्द्र का संबंध अच्छा ही है। मंगल भी चन्द्रमा के मित्र माने गए हैं और इसलिए सब को साथ लेकर अन्धकार चन्द्रमा के पास आया है कि आज मेल-मिलाप हो जाए। इस उत्प्रेक्षा में नक्षत्र विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष का अध्ययन, जौहरी की दृष्टि एवं पुराणों का स्वाध्याय एक साथ ही सिमट गया है।

तुलसी ने गीतावली में अपने आराध्य की सुन्दरता के वर्णन हेतु भांति-भांति की उत्प्रेक्षाओं और रूपकों की योजना की है। उपमानों के द्वारा उनके सौन्दर्य को

आयात करने का प्रयास किया है। विनय के पदों में भी विभिन्न उदाहरणों, दृष्टान्तों एवं उपमाओं का प्रयोग किया है। तुलसी का अलंकार काव्य में अंगूठी में हीरे के नग की भांति है। तुलसी का अलंकार प्रयोग भावों की उत्कर्ष व्यंजना में वस्तुओं के रूप या अनुभव को तीव्रता प्रदान करने में, गुणों के अनुभव को तीव्र करने में तथा क्रिया के अनुभव को तीव्र करने में सहायक हुए हैं। तुलसी ने लगभग सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। कुछ और अलंकारों के उदाहरण यहां देना अप्रासंगिक न होगा :

उपमा काम तून-तल सरिस जानु जुग उरु करिकर करिमर बिलखावति।
(गी० 1.17)

नगर रचना सिखन को विधितकत बहु विधि बंद।
निपट लागत अगम, ज्यों जलचरहि गमन सुछंद ।। (गी० 7.23)

किजल्क वसन, किसोर मूरति, भूरि गुग करुनाकर,
कच कुटिल, सुन्दर तिलक भ्रू राका मयंक समाननं।
(कृ० गी० 23)

अनन्वय दई पीठि बिनु दीठि मैं, तू बिस्व विलोचन।
तो सों तुही न दूसरो, नत सोच विमोचन ।। (वि० 149)

रूपक अब लौं मैं तो सों न कहै री।
विरह विषत त्रिष-बेलि बढ़ी उर, ते सुख सकल सुभाय देह री।
सोइ सीचवै लागि मनसिज के रहंट नयन नित रहत नहै री।।
सर-सरीर सूखे प्रान-वारिचर जीवन आस चलनु चहै री।
तैं प्रभु-सुजस-सुधा सीतल करि राखे, तदपि न तृप्ति लहे री।।
रिपु रिस घोर नदी विवेक-वल, धीर-सहित हुतै जात बहेरी।
दे मुद्रिका-टेक तेहि आसर, सुचि समीर सुत पैरि गहै री।।
(गी० 5.49)

संदेह मनोहरता के मानो ऐ न,

— — —

किधौं सिंगार सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित वित लेन।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है विधि भग-लोगन्हि सुख देन ।।
(गी० 2.28)

अपन्हुति सुनि पितु वचन चरन गहे रघुपति, भूप अंक भरि लीन्है।
अजहु अवनि बिहरत दरार मिस, सो अवसर सुधि कीन्हैं ।।
(गी० 2.12)

उल्लेख मंजुल मंगलमय नृप-ढ़ोटा ।

— — —

साधन पल साधक सिद्धयनि के, लोचन फल सबही कै ।
सकल सुकृत-फल माता-पिता के, जीवन धन तुलसी कै ।।(गी० 1.56)

प्रानहु के प्रान से, सुजीवन के जीवन से,
प्रेमहु के प्रेम, रंक कृपनि के धन हैं।
तुलसी लोचन चकोर के चन्द्रमा से,
आछे मन भोर चित्त चातक के धन हैं ।। (गी० 2.26)

उत्प्रेक्षा मंजु अंजन सहित जलकन चुनत लोचन चारु।
स्याम सारस मग मनहुं ससि स्रवत सुधा सिंगारु ।।
सुभग उर दधि बुंद सुंदर लरित अपनपौ वारु।
मानहुं मरकत मृदु सिखर पर लसत विषद तुषारु ।।(कृ०गी०14)

अतिशयोक्ति निरमल अति पीत चेल, दामिनी जनु जलद नील।
राखी जनु सोभा हित विपुल विधि निहोरी ।। (गी० 6.7)
(जलद-नील में रूपकातियोक्ति है ।)

तुल्ययोगिता

तापर सानुकूल गिरिजाहर, लखन राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा विलोकनि, खानि सकल कल्यान की ।।
(वि० 30)

दृष्टान्त

आगम निगम ग्रन्थ रिपि मुनि सुर सन्त,
सबही को एक मत सुनु मतिधीर।
तुलसिदास पियास भरै पसु बिनु प्रभु,
जदपि रहै निकट सुरसरि तीर। (वि० 196)

निदर्शना

ते नर नरक-रूप जीवत जग भव भज्जन षद विमुख अभागी।
निसि वासर रचि पाप असुनि मन, खलमति मलिन निगम पथ त्यागी ।।
(वि० 140)

व्यतिरेक

ससि त सीतल मोको लागे भाई री। तरनि। (कृ० गी० 30)
सरद सरो जहु ते सुन्दर चरन हैं। (गी० 2.26)
उमहु रमा ते आछे अंग-अग नीक हैं। (गी० 2.30)

विनु विराग-जप-जोग-व्रत, बिनु तप बिनु तनु त्यागे।
सब सुरक सुभल सद्य तुलसी प्रभु-पद प्रयाग अनुरागे॥
(गी० 7.15.4)

सहोक्ति

प्रेम प्रशंसा विनय व्यंग्य, जुत सुनि विधि की वरवानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगमातु मुसकानी॥ (वि० 5)

विनोक्ति

करम धरम श्रमफल रघुवर बिनु,
राख को सो होय है ऊसर को सो वारिसो।
तुलसि मरै प्यास बिनु प्रभु पसु।
जयपि हो मकर सुरसरि तीर॥ (वि० 196)

परिकर

तुलसीदास सब सोच-पोच मृग मन कानन मरि पूरि कहेरी,
अब सखि सिय! संदेह बरिहरु हिय आइ गए वीर अहेरी।
(गी० 5.49)

अर्थान्तरन्यास

उपकारी को पर हर समान।
सुर-असुर जरत कृत गरल पान॥ (वि० 13)
पिय के वचन परिहर सो जिय के भरोसे,
संग चली बन बड़ी लाभ जानि।
पीतम विरह तो सनेह-सरबसु सुत,
औसर की चूकि बौ सरिस न हानि॥ (गी० 5.7)

विरोधाभास

न करु विलम्ब विचारु चारुमति, बख पाछिले सम अगिले पलु।
मंत्र सो जाइ जपहि जो जपरु भये, अजर अमर हर अचइ हलाहलु॥
(वि० 24)

करुनानिधान को तो ज्यों तनु दीन भयो,
त्यों त्यों मनु भयो तेरे प्रेम धीन। (गी० 5.8)
सारथि पंगु दिव्य रथगामी। हरि-संकर-विधि मूरति स्वामी।
(वि० 2)

आधि मगन मन. व्याधि विकल तनु, वचन मलीन सुठाई।
एतैंहुं पर तुम्ह सों तुलसी की सकल सनेह सगाई।
(वि० 195)

असंगति

हृदय घाव मेरे, पीर रघुबीरे। (गी० 6.15)
लाज गाज उन बनि कुचाल कलि,
परी बजाइ कहुं कहुं गाजी। (कृ० गी० 61)

सार

नेकु बिलोकि धी रघुबरनि।
— — —
चरित निरखत बिबुध तुलसी ओट दे जलधरनि ।।
चहत सुर सुरपति भयो. सुरपति भयो चहै तरनि ।। (गी० 1.28)

प्रतीप

लसत झंगूली झीनी, दामिनी की छवि छीनि। (गी० 1.44)

विशेषोक्ति

ग्यान परसु दे मधुप पठायो,
बिरह बेलि कैसेहुं कटि जाई।
सो थावयो बरु रह्यो एकटक,
देखत इनकी सहज सिंचाई ।। (कृ० गी० 59.3)

मोह जनित मल लाग विविध विधि, कोटिहु जतन न जाई।
जनम-जनम अभ्यास निरत चित, अधिक-अधिक अधिकाई ।।
(वि० 82)

सर-सरीर सूखे प्रान बारिचर जीवन आस तजि चलन चहेरी।
तै प्रभु सुजस सुधा सीतल करि राखे तदपि न तृप्ति लहेरी ।।
(गी० 5.49)

तद्गुण

राजत नरन जनु कमल दलनि पर अरुन प्रभा रंजित तुषार कन।
(गी० 6.16)

ललित

कौउ कहै, मनिगन तजत कांच लगि, करत न भूप भली।
(गी० 2.10)

यथासंख्य

तुलसी भनिति, सबरी प्रनति, रघुबर प्रवृति करुनामई।
गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होई प्रभु पद नित नई।।
(गी० 3.10)

भाविक

तुलसी प्रभु को सुर सुजस गाइहैं, मिटि जैहैं सबको सोच दवदहिबौ।
(गीं० 5.15)

उदाहरण

जौं आचरन बिचारहु मेरौ, कलप कोटि लगि औटि मरौं।
तुलसिदास प्रभुकृपा-बिलोकनि, गो पद ज्यौं भवसिंधु तरौं ?
(वि० 141)

अप्रस्तुत प्रशंसा

वरि बृन्द-विधवा-वनितनि को देखिमौ कारि बिलौचन बहि बौ।
सानुज सेनसमेत स्वामिपद निरखि परम मृदु मंगल लहिबौ।।
(गी० 5.14.3)

कार्यनिबधना

ध्वन्यर्थ व्यंजना

नूपुर की धुनि किंकनि के कलरव सुनि
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े रवात।
तनियां ललित कटि, विचित्र टै पारो सीस,
मुनि मन हरत बचन कहै तोतरात। (कृ० गीं० 2)

मानवीकरण

सीदत साधु साधुता सौचति खल विलसत हुलसित खलई है।
(वि० 139)

अलंकारों के प्रयोग के विषय में यह सर्वथा सत्य है कि भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है।[1] तुलसी में इस प्रकार के

---

1. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 140

प्रयोग सर्वत्र विद्यमान हैं। तुलसी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा निकष पर कसकर उपमानों के प्रयोग से वस्तु को अधिक सरस तथा सजीव बना दिया है। अपनी विद्वता के फलस्वरूप उन्होंने यथावश्यकता वस्तु को आहार्य रूप देने का सुष्ठु प्रयास किया है तथापि इनकी कविता की स्वाभाविकता निःशेष नहीं हो पाई है। इसका स्पष्ट कारण यह भी है कि आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व की भावुक सहृदयता को कहीं अधिक महत्त्व देते थे।

वस्तु के अन्य भेद

डा० नगेन्द्र ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि कुन्तक ने वस्तु का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया है—प्रथम तो कवि की दृष्टि से और द्वितीय सहृदय की दृष्टि से। सहज और आहार्य भेदों का आधार कवि की सर्जना है और स्वभाव प्रधान, रस प्रधान तथा नीति प्रधान का आधार सहृदय की ग्रहण प्रतिक्रिया है। इस प्रकार कुन्तक के काव्य शास्त्र में कवि और सहृदय का द्विविध-कोण सतत् वर्तमान रहा है। कुन्तक रचयिता और सामाजिक के पक्ष को एक दूसरे पर सापेक्ष मानते हैं।

अब तक कवि के द्वारा वस्तु के प्रस्तुतीकरण के आधार पर वस्तु का विवेचन किया गया है। आगे सहृदय की प्रतिक्रिया के आधार पर कुन्तक के वर्णनीय वस्तु के कुछ और भेद बतलाये गए हैं। वस्तु पहले तो चेतन होती है और फिर दूसरा भेद है अचेतन। चेतन पदार्थ के भी दो भेद होते हैं—प्रधान तथा अप्रधान। प्रधान में सुर, अमुर सिद्ध विद्याधार गंधर्व और मनुष्य आदि और अप्रधान में सिंह, हिरण आदि पशु। वर्णनीय वस्तु की तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :
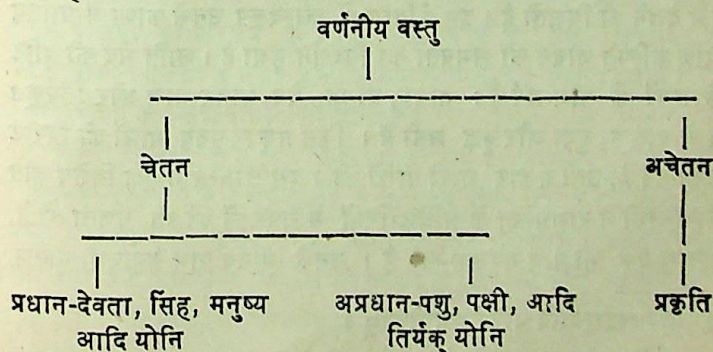
प्रधान उच्च योनि में विवेक अधिक रहता है किन्तु अप्रधान में ज्ञान या बुद्धि की उतनी मात्रा नहीं पाई जाती। इस प्रकार देवता मनुष्य आदि मुख्य चेतनों का स्वरूप कवियों की वर्णना का विषय होता है और सिंह, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि अमुख्य चेतन स्वरूप कवियों को वर्णन का दूसरा विषय होता है। कुन्तक यही तो

कहते हैं—मुख्य चेतन देवादि का सुन्दर रत्यादि के परिपोष से मनोहर और अपनी जाति के योग्य स्वभाव के वर्णन से अत्यन्त सुन्दर स्वरूप का वर्णन महाकवियों की वर्णना का प्रथम मुख्य विषय होता है।[1] रमणीयता सरल, सुन्दर इत्यादि के परिपोष से मनोहर होने के कारण आती है। अप्रधान चेतन जो पशु आदि हैं उसका सौन्दर्य अपनी जाति के योग्य हैवाक (स्वभाव) के जिक्र से निखरता है। हेवाक स्वभाव के अनुकूल व्यापार को कहते हैं। कुन्तक का यह भी कहना है कि अमुख्य चेतन और बहुत से जड़ चेतन और बहुत से जड़ पदार्थों का भी रस के उद्दीपन के सामर्थ्य के सन्निवेश से मनोहर स्वरूप भी कवियों की वर्णना का विषय होता है।

सामान्यतया काव्यवस्तु के दो भेद हुए—स्वभाव प्रधान और रसप्रधान।[2] इनके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के उपाय भी काव्य वस्तु के अन्तर्गत आते हैं। इन उपायों से तात्पर्य इन सभी मानव व्यापारों तथा अन्य प्राणियों के भी क्रिया-कलाप से है जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अनुष्ठापन में उपदेश परक रूप से सहायक होते हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार आधुनिक शब्दावली में इन्हें नैतिक व्यापार कहेंगे।[3] इस प्रसंग में कुन्तक ने कादम्बरी आदि में वर्णित शुद्रक आदि राजाओं तथा शुकनाश आदि मंत्रियों के चरित्रों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रधान चेतन : मनुष्य की प्रतिष्ठा।

तुलसी के आराध्य राम हैं। सभी कृतियों में देव गुण सम्पन्न मानव राम को तुलसी ने स्थापित किया है। तुलसी के पात्रों में जाति वर्ण, आश्रम, वय, पद, लिंग रूप और गुण की जो असाधारणता पाई जाती है, वह विरले कवियों की कृतियों में देखने को मिलती है। इस वैविध्य के फलस्वरूप उनके काव्य में पार्थिव और पुराण कल्पित जीवन की समग्रता का निदर्शन हुआ है। जाति भेद की दृष्टि से उनके पात्रों के पांच वर्ग है : मानव, दानव, देव, वानर-भालू और तिर्यक्। वय भेद से बालक, युवा और वृद्ध सभी हैं। जिस प्रकार पुरुष पात्रों की विराट योजना की गई है, उसी प्रकार नारी पात्रों की। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि तुलसी ने रामभक्ति के अधिकारियों में नपुंसकों की भी गणना की है, किन्तु उनका एक भी पात्र नपुंसक नहीं है। उनके मानव पात्र ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

1. मुख्यमक्लिष्टरत्यादि परिपोषमनोहरम्।
स्वजात्युचित हेवाक समुल्लेखोज्ज्वलं परम्॥ हि० व० जी,० 31·7
2. तदेवंविध स्वभाव प्रधान्येन रसप्रधान्येन द्विप्रकारम्॥
हि० व० जी० पृ० 336
3. भा० का० भूमिका—प्र० सं० पृ० 271

वानप्रस्थ और सन्यास चारों आश्रमों के हैं। वर्णभेद की दृष्टि से यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वर्णाश्रम धर्म के विविध प्रसंगों में वैश्य धर्म का भी प्रतिपादन करने वाले कवि ने किसी वैश्य पात्र की निबन्धना नहीं की। तुलसी ने मुख्य और गौण पात्रों को रामकथा में उनके योगदान के अनुसार अधिक या कम स्थान दिया है, परन्तु उनके चित्रांकन में अन्तर्यामी दृष्टि से काम लिया है। राम के ईश्वरत्व को अलग रखकर तुलसी के पात्रों को देखने पर सभी में प्रकारात्मकता और व्यक्तिमत्ता एक साथ दिखाई पड़ेगी। भारतीय काव्य धारा परम्परा और समाज व्यवस्था में विभिन्न पात्रों की कुछ प्रतिष्ठापित विशेषताएं हैं। उदाहरणार्थ नायक, नायिका, प्रतिनायक आदि के निर्धारित गुण हैं, राजा, सचिव, पत्नी आदि के निश्चित धर्म हैं। सबके लिए एक सांचा बना हुआ है, तुलसी के पात्र उस सांचे में ढले हुए हैं। यह उनकी प्रकारात्मकता है। परन्तु उनका अपना वैशिष्ट्य भी है। राम वैसे ही नहीं है जैसे कि कृष्ण, अर्जुन, नल या उदयन। सीता का स्वरूप राधा, द्रोपदी दमयन्ती या वासवदत्ता से बहुत कुछ भिन्न है। यह व्यक्तिमत्ता है। इसी प्रकार की प्रकारात्मकता और व्यक्तिमत्ता राजा दशरथ, सचिव सुमन्त्र, पत्नी कौशल्या आदि में पाई जाती है।

स्वाभाविक गुणों की दृष्टि से पात्रों के दो वर्ण हैं—आदर्श या असामान्य और यथार्थ या सामान्य। परम्परागत कल्पना अथवा कवि की स्वमनीषा के आधार पर निर्मित प्रतिमान के अनुसार निबद्ध असामान्य पात्र आदर्श हैं। उनमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति के किसी एक गुण की प्रबलता पायी जाती है। राम, परशुराम, रावण आदि में क्रमशः सत्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण की अतिशयता है। सामान्य मानव की भांति विभिन्न परिस्थितियों में अपनी सात्विक, राजस और तामस वृत्तियों का परिचय देने वाले पात्र यथार्थ हैं। जैसे—लक्ष्मण, कैकयी, मंथरा आदि। तुलसी ने उक्त दोनों प्रकार के पात्रों का उनके स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार सटीक निरूपण किया है।

नायक के केन्द्रबिन्दु से भी पात्रों के दो वर्ग हैं—नायक पक्ष के पात्र और प्रतिनायक पक्ष के पात्र। प्रथम वर्ग में वे सभी पात्र आते हैं जो राम की कार्य सिद्धि में सहायक हैं, जैसे—विश्वामित्र, हनुमान, विभीषण आदि। प्रतिनायक शब्द यहाँ पर नायक के विरोध का व्यंजक है। वे सभी पात्र जो राम के मार्ग में बाधक हैं, प्रतिनायक पक्ष के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, चाहे रावण के सम्बद्ध हों या न हों। रावण, मारीच, जयन्त बालि आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। परशुराम का अपना वैशिष्ट् है। वे स्वयं विष्णु के अवतार है, धनुष यज्ञ में अहंकारी राजाओं को आतंकित करके राम की शक्तिमत्ता और श्रेष्ठता स्थापित करते है। इस प्रकार वे तुलसी काव्य में स्पष्टतया राम के सहायक सिद्ध होते हैं।

पात्रों के चित्रांकन में तुलसी ने तीन पद्धतियां अपनायीं हैं। कहीं पर उन्होंने पात्र विशेष की अन्तर्वृत्ति का निरूपण करके उसकी चरित्रगत विशेषता का उद्घाटन किया है। कहीं पर पात्र के वाह्यरूप का चित्रण करके उसके सहज गुणों का निर्देश किया है और कहीं पर पात्रों के क्रियाकलाप का वर्णन करके उनके चरित्र का साक्षात् निदर्शन किया है। इस प्रकार बहुविध, पात्रों के स्वाभाविक चरित्र चित्रण द्वारा उन्होंने अपने काव्य के भाव पक्ष को पुष्ट किया है।

तुलसी के काव्य में शंकर का वर्णन प्राप्य है :

1. भस्म अंग, मर्दन अनंग, संतत असंग हर।
सीस गंग, गिरिजा अधंग, भूषन भुजंग वर ।।
मुंडमाल विधु बाल भाल, डमरू कृपालु कर।
विबुध बृन्द, नवकुमुद-चन्द, सुखकंद सूलधर ।।
त्रिपुरारि त्रिलोचन, दिग्वसन, विषभोजन, भवभयहरन।
कह तुल सिदासु सेवत सुलभ सिव सिव संकर सरन ।।

(क० 7.149)

महादेव जी के परम्परागत स्वरूप का यह सुन्दर वर्णन है। आलम्बन रूप में शंकर का वर्णन अनेक जगह मिलता हैं। राम तो तुलसी के आराध्य हैं ही। राम का चित्रण आलम्बन रूप में, राम का नख सिख वर्णन, राम का विभिन्न रसों के आश्रय रूप में वर्णन अनेक स्थानों पर तुलसी ने किया है :

1. सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन, वसति सो मृदु मूरति मन मोरे ।।
पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटिनट सो तृन तोरे।
स्यामल तनु स्रम-कन राजत, ज्यों नद घन सुधा-सरोवर खोरे ।।

(गी० 3.2.1-2)

भगवान राम अपने सुन्दर धनुष पर बाण बढ़ाये वन में मृगया खेलते फिर रहे हैं। मधुर मूर्ति मेरे हृदय में निवास करती हैं। उनकी कमर पीताम्बर और अति सुन्दर चार बाण हैं। उनकी चाल में देखकर करोड़ों नट मुग्ध होकर तृण तोड़ते हैं (जिससे उस चाल पर नजर न लगे)। प्रभु के श्याम शरीर पर पसीने की बूंदें ऐसी शोभायमान हैं जैसे कोई नवीन मेघ अमृत के सरोवर में डुबकी लगाकर निकला हो।

2. राजत राम काम-सत-सुंदर।
रिपु रन जीति अनुज संग सोभित, फेरत चात बिसिष बनरुह-कर ।।
स्याम सरीर रुचिर श्रम-सीकर, सोनित-कन बिच बीच मनोहर।
जनु खद्योत-निकर हरि हित-गन, भ्राजत मरकत-सैल-सिखर पर ।।

(गी० 6.16.1-2)

अपने शत्रु रावण को युद्धस्थल में जीत कर भगवान राम भाई के साथ विराजमान हैं। इसमें वे सैंकड़ों कामदेवों से भी सुन्दर जान पड़ते हैं और अपना करकमल धनुष और बाण पर फेर रहे हैं। उनके श्याम शरीर पर पसीने की सुन्दर बूंदें और बीच-बीच में मनोहर रुधिर कण शोभायमान हैं, मानो किसी मरकत-मणि के पर्वत-शिखर पर जुगनुओं के समूह में वीर बहुटियां शोभा पा रही हों।

तुलसी ने अनेक स्थलों पर राम की नख-शिख शोभा का वर्णन किया है। वे इस वर्णन में इतने रमे हैं कि एक के बाद एक पर रचते ही चले गए :

रघुबर-रूप बिलोकु नेकु, मन।
सकल लोक-लोचन-सुखदायक, नख सिख सुमय स्याम सुंदर तन॥
चारु-चरन-तल-चिह्न चारि फल चारि देत पर चारि जानि जन।
राजत नख जनु कमल-दलनिपर अरुन-प्रभा-रंजित तुषार-कन॥
जंघा जानु आनु कदली उर, कटि किंकिनि, पटपीरु सुहावन।
रुचिर निषंग, नाभि, रोमावलि, त्रिबलि बलित उपमा कछु आवन॥
भृगु पद-चिह्न, पदिक उर सोभित, मुकुत भाल, कुंकुम-अनुलोपन।
मनहुं परसपर मिलि पंकज-रवि प्रगट्या निज अनुराग, सुजस धन॥
बाहु विसाल ललित सायक धनु, कर कंकन केयूर महाधन।
विमल दुकुल दलन दामिनि-दुति, यज्ञोपवीत लसत अति पावन॥
कंब्रुग्रीव, छवि, सींव, चिबुक, द्विज, अधर, कपोल, बोल भय-मोचन।
नासिक सुभग कृपा परिपूरन तरुन अरुन राजीव विलोचन॥
कुटिल भ्रकुटिवर, भाल तिलक रुचि, सुचि सुंदरता स्रवन-विभूषन।
मनहुं मारि मनसिज पुरारि दिव ससिहि चाप-सर-मकर अदूषन॥
कुंचित कच, कंचन, किरीट सिर, जटित ज्योतिमय बहुविधि मनि गन।
तुलसिदास रबिकुल रवि छवि कवि कहि न सकत सुक-संभु-सहसफन॥
(गी॰ 7.16)

अरे मन ! तू तनिक रघुनाथजी का रूप तो देख। यह श्याम सुन्दर शरीर तो सम्पूर्ण लोकों के नेत्रों को सुख देने वाला और नख से सिख तक शोभायमान है। इनके चरणतल के (वज्र अंकुश, ध्वजा और कमल—ये) चारों मनोहर चिह्न अपने भक्तजनों को पहचान कर उन्हें आग्रहपूर्वक (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष—ये) चारों फल देते हैं। प्रभु के नख ऐसे शोभायमान हैं मानो कमल दलों के ऊपर बाल सूर्य की प्रभा से अनुरंजित हिमकण हों। इनकी जंघा और जानु कदली की याद दिलाती हैं, कमर में किंकिणी तथा सुहावना पीताम्बर है, इनके सुन्दर तुणीर, नाभि शेमावली और उदरदेश की त्रिवली की तो कोई उपमा ही नहीं

बनती। इनके वक्षस्थल में भगु जी का चरण चिह्न पदिक, मोतियों की माला और केसर का अनुलेपन ऐसा शोभायमान है मानो सूर्य और कमल ने आपस में मिलकर अपने प्रेम तथा महान सुयश को प्रकट किया है। वे अपनी विशाल भुजाओं में मनोहर धनुष-बाण धारण किए हैं, इनके हाथों में महामूल्यवान कंकण तथा केयूर हैं तथा इनके शरीर पर बिजली की छटा को छीनने वाला निर्मल दुकूल तथा पवित्र यज्ञोपवीत शोभायमान है। इनकी ग्रीवा शंख के समान है चिबुक, दंतावली अधर और कपोल मानो छवि की सीमा ही हैं वचन सब प्रकार के भय को दूर करने वाले हैं, नासिका बड़ी सुघड़ है तथा नवीन अरुण कमल से नेत्र कृपा से परिपूर्ण हैं। इनकी भ्रकुटिया बड़ी बांकी हैं, माथे पर मनोहर तिलक है तथा कर्ण-भूषणों (कुंडलों) की भी बड़ी ही सुन्दरता है। मानो महादेव जी ने कामदेव को मारकर उसके निर्दोष धनुष-बाण और मकर चन्द्रमा को दे दिए हैं। (यहाँ भगवान का मुख चन्द्रमा है, भ्रकुटियां धनुष हैं, तिलक बाण हैं तथा कुण्डल मकर हैं) प्रभु के कुन्वित केश हैं, सिर पर सोने का मुकुट है जिसमें अनेक प्रकार की कान्तिमयी मणियां जड़ी हुई हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि सूर्यकुल सूर्य भगवान राम की छवि कोई कवि क्या, शुकदेव, महादेव और शेष आदि भी नहीं कर सकते।

तुलसी ने नाग नर किन्नर का भी वर्णन किया है :

मारे रन रातिचर रावनु सकुल दलि,
अनुकूल देव-मुनि फूल बरषतु हैं।
नाग, नर, किंनर, विरंचि, छरि हरु है रि,
पुलक सरीर हिएं हेतु हरषतु हैं॥
वाम और जानकी कृपानिधान के बिराजैं,
देखत बिषादु मिटै मोदु करषतु है।
आपसु भो, लोकनि सिधारे लोकपाल सबै,
तुलसी निहाल कै कै दिए सरगखतु हैं॥ (क० 6.58)

श्री रामचन्द्रजी ने रावण का कुल सहित दलन कर युद्ध में राक्षसों का संहार किया। इससे देवता और मुनिगण प्रसन्न होकर फूलों की वर्षा करने लगे। यह देखकर नाग, नर, किन्नर तथा ब्रह्मा विष्णु और महादेव जी के शरीर पुलकित हो जाते हैं और हृदय में प्रेम और आनन्द भर जाता है। कृपानिधान (श्री रामचंद्र जी) की बांयी ओर जानकी जी विराजमान हैं, जिनके दर्शन से विषाद मिट जाता है और आनन्द वृद्धि को प्राप्त होता है। लोकपाल सब आज्ञा पार अपने-अपने लोकों को चले गए। गोसाई जी कहते हैं कि भगवान ने सबको निहाल करके मानो परवाना दे दिया (कि अब तुम लोग निर्भय रहो)! इन पंक्तियों में विशेष

रूप से यह देखने की बात है कि देवता, मुनिगण, नर, नाग, किन्नर, ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी के शरीर अनुभावों से युक्त होकर सहृदय के हृदय को रसिक करके आह्लादित करते हैं।

तुलसी काव्य में किरात-किरातनियों का भी सुन्दर वर्णन मिलता है :

मुदित किरात किरातिनि रघुबर रूप निहारि।
प्रभुगन गावत नाचत चले जोहारि जोहारि ।।
(गी० 2.47.19)

रघुनाथ जी का रूप देखकर किरात और किरातिनी भी खूब प्रसन्न हैं और प्रभु का गुण गाते नाचते जुहार कर-करके चले जाते हैं। यहाँ भी राम के शक्ति-शील गुण समन्वित सौन्दर्य का प्रभाव किरातों पर दिखाया गया है।

देवी-देवता और नाग गणों को राम की प्रशंसा करते हुए तुलसी ने अनूठे ढंग से चित्रित किया है :

भूपति-भाग वली सुर-बर नाग सराहि सिहाहिं।
तिय वर वेष अली रमा सिधि अनिमादि कमाहिं ।। (गी० 1.5.6)

बड़े-बड़े देवता गण और नाग गण भी महाराज के सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए प्रसन्न होते हैं। सुन्दरी स्त्री के रूप में लक्ष्मी जी और सखी रूप से अणि-मादिक सिद्धियां उनकी परिचर्या करती हैं। तुलसी ने देवी-देवताओं और नाग-गणों के वर्णन के ऐसे अनुपम वर्णन करने के लिए अवसर खोज निकाले हैं।

तुलसी ने राम के सहायक पात्रों में मातायें-कौशल्या, कैकयी, सुमित्रा, विभीषण, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन, केवट, सबरी, जाम्बवन्त, सुग्रीव आदि को भी चित्रित किया है :

निषाधराज—

पात भरी सहरी सकल सुत वारे वारे,
केवट की जाति, कछु वेद न पढाइहों।
सबु परिवारु मेरी याहिलाणि राजा जू,
हों दीन बित्तहीन, कैसे, दूसरी गढ़ाइहों।
गौतम की धरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी,
प्रभु सों निषादु ह्वै के बादु न बढ़ाइहों।
तुलसी के ईस राम, रावरे सों सांची कहों,
बिना पग धोएं नाथ, नाव ना चढ़ाइहौ ।। (क० 2.8)

इन पंक्तियों में कवि ने केवल जाति की साधारण दिनचर्य्या, निर्धनता, कार्यनिष्ठा और प्रभु-भक्ति का समन्वित रूप साकार कर दिया है।

शबरी

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन-बाहु।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु॥
मुनि-अगम उर आनन्द लोचन सकल, तनु पुलकावली।
तृन-पनसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र-बर बानी भली।
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल-फूलि सुखफली॥
(गी० 3.17.1)

शबरी के भावों-अनुभावों का अति सुन्दर महाकवि तुलसीदास ने किया है।

जाम्बवन्त

सोचत हानि मानि मन, गुनि गुनि, गये निधरि फल सकल सुकिय के।
बरने जामवंत तेहि अवसर, वचन विवेक बीर रस बिय के॥
(गी० 4.1.3)

सीताजी के गुणों को मन-ही-मन सोचकर, उनके वियोग से बड़ी हानि मान वे शोक करते हैं, मानो उनके समस्त पुण्यफल समाप्त हो गए। उस समय जाम्बवान् ने विवेक और वीरता दोनों से सने हुए वचन कहे। जाम्बवान को सर्वत्र तुलसी ने एक सुयोग्य विचारवान परामर्शदाता के रूप में प्रस्तुत किया है।

हनुमान

राम छाम, लरिका लषन, बालि-बालकहि,
घालि को गनत ? रीछ जल ज्यों न घन में।
काज को न कपिराज, कायर कपि समाज,
मेरे अनुमान हनुमान हरिगन में॥ (गी० 5.23.2)

रावण कहता है कि राम तो (सीता के वियोग में) बहुत दुर्बल है, लक्ष्मण अभी लड़का ही है, बालि का पुत्र अपने ही कुल का घातक है, उसे तो गिनता ही कौन है? और जाम्बवान् जलहीन मेघ की भाँति निस्सार है। सुग्रीव किसी भी अर्थ का नहीं है और सारा ही वानर समाज कायर है। हां, मेरे अनुमान से इन वानरों में एक हनुमान अवश्य ही शूरवीर है। तुलसी ने दिखाया है कि रावण जैसा व्यक्ति भी शूरवीर की कद्र करता है।

बिनती सुनि प्रभु प्रमुदित भए।
रीछ राज, कपिराज, नील-नल बोलि बालिनंदन लए॥
बूझिये कहा ! रजाइ पाइ नय-धरम सहित ऊतर दए।
बली बंधु ताको जेहि बियोंह-बस बैर-बीज बरबस बए॥

बांह-पगार द्वार तेरे तैं समय न कबहूं फिरि गए।
तुलसी असरन-सरन स्वामि के विरद विराजत नित नए ।।
(गी० 5.32)

दूत की विनय सुनकर प्रभु परम प्रसन्न हुए। उन्होंने ऋक्षराज जाम्बवान्, कपिपति सुग्रीव, नील, नल और बालिकुमार अंगद को बुलाया। (तथा उनसे पूछा—) आप लोग इस सम्बन्ध में क्या समझते हैं ? प्रभु की आज्ञा पा उन्होंने धर्म और नीति के अनुकूल उत्तर दिए। वे बोले—'प्रभो ! यह महाबलवान और उसका भाई है जिसने मोहबस बरबस ही आपके प्रति शत्रुता के बीज बोये हैं (इसलिए सावधान रहना ही ठीक है) ।। परन्तु है बांह-पगार (अपनी भुजा रूपी दीवार से आश्रित की रक्षा करने वाले) ! आपके द्वार पर आकर कोई भी भयभीत कभी उलटा नहीं लौटा। तुलसीदास जी कहते हैं, प्रभु के अशरण-शरण' ऐसे विरद तो नित्य नए विराजमान हैं। यहाँ पर तुलसी ने जाम्बवान्, सुग्रीव, नलनील और अंगद आदि के महत्त्व को दर्शाया है। भगवान राम अपने सभी साथियों की सलाह लेकर किसी भी कार्य को प्रारम्भ करते हैं। तुलसी ने सभी पात्रों की मानसिक भावनाओं का भी बड़ा ही रम्य एवं मनोहारी वर्णन किया है। विभीषण का भी तुलसी ने बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है :

अति भाग बिभीषन के भले।
एक प्रनाम प्रसन्न राम भए, दुरति-दोष-दारिद दले ।।
रावन-कुंभकरन बर मांगत सिव बिरंचि वाचा छले।
राम-दरस पायो अबिचल पद, सुदिन सगुन नीके चले ।।
मिलनि बितौकि स्वाति-सेवक की उकठे तरु फूले फले।
तुलसी सुनि सनमान बंधु को दसकंधर हंसि हिये भले ।।
(गी० 5.41)

विभीषण जी के भाग्य बड़े ही अच्छे हैं, जिनके एक प्रणाम से ही भगवान राम प्रसन्न हो गये और उनके सारे पाप दोष तथा दरिद्रता दूर कर दी। जिस समय रावण और कुंभकरण ने वर मांगा था, उस समय वे शिव और ब्रह्मा द्वारा वाणी के फेर से छले गए (अर्थात् वे मांगना कुछ चाहते थे और शब्दार्थ के फेर-फार से उन्हें कुछ और ही मिला। किन्तु विभीषण ने तो राम के दर्शन मात्र से ही अविचल पद प्राप्त कर लिया (उन्हें मागने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी) वास्तव में वे अच्छे दिन अच्छे शकुन से चले थे। स्वामी और सेवक का यह सम्मिलन देखकर सूखे वृक्ष भी फूलने-फलने लगे। तुलसीदास जी कहते हैं, भाई का सम्मान हुआ सुनकर रावण मुख से तो हंसने लगा, किन्तु हृदय में ईर्ष्यानल से जल उठा।

देवी देवताओं का भी अति सुन्दर चित्रण प्राप्य है :

> गावैं बिबुध विमल वर बानी।
> भुवन-कोटि-कल्यान-कंद जो, जायो पूत कौसिला रानी।
>
> (गी० 1.4.1)

देवता लोग अति विशुद्ध और सुन्दर वाणी में गाते हैं—महारानी कौशल्या ने जो पुत्र उत्पन्न किया है, वह करोड़ों भुवनों के कल्याण का मूल ही है।

तुलसीदास ने जहाँ सीता राम लक्ष्मण आदि के सौन्दर्य का वर्णन किया है, वहां वह अन्य पात्रों की विशेषताओं, उनके भावों-अनुभावों तथा क्रिया-कलापों एवं कथा निर्वाह में उनके योगदान को अभिव्यक्ति देने में भी नहीं चूका है। उसने सीता राम आदि के सौन्दर्य का तो विभिन्न उपमानों एवं अप्रस्तुतों के माध्यम से अत्यन्त आह्लादकारी ढंग से वर्णन किया है। तुलसी काव्य में चरण, करि, स्तन, हस्त, ग्रीवा, चिबुक, अधर, दशन, कपोल, नासिका, नेत्र, भृकुटि, मुख, केश, वर्ण और कान्ति सभी के वर्णन प्राप्त हैं। विभिन्न रसों के परिपाक में भाव विभाव, अनुभाव एवं संचारी ये तत्त्व होते हैं। तुलसी के पात्रों में विभात के दोनों पक्षों—आलम्बन और आश्रय का वर्णन तो हुआ ही है, जैसा कि उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है। अनुभावों का भी कवि ने बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। अनुभावों के बिना भाव संवेदनीय नहीं बनते। प्रत्येक उद्‌बुद्ध भाव की अनन्त प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। कवि जितना सूक्ष्मदर्शी होगा उसका अनुभाव विधान उतना ही प्रभावोत्पादक होगा। तुलसी ने एक-एक भाव व्यंजना में कई अनुभावों की योजना की है और वह भी अपूर्व मार्मिकता एवं सूक्ष्मदर्शिता के साथ। नाटक में जो महत्त्व अभिनय का है, काव्य में वही महत्त्व अनुभाव का होता है। सहृदय पाठकों को स्थायी भाव का परिज्ञान अनुभाव के द्वारा ही होता है। कायिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अनुभाव, भावों को अनुभव का विषय बनाते हैं। तुलसी ने सभी प्रकार के अनुभावों का मार्मिक चित्रण करके अभीष्ट घटना का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

तुलसी के काव्य में सभी रसों का सुन्दर परिपाक् हुआ है। कुछ उदाहरण देना यहां पर अप्रासंगिक न होगा :

भक्तिरस

> ऐसो को उदार जग माहीं।
> बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
> जो गति जोग विराग जतन करि नहि पावत मुनि ग्यानी।
> सो गति देत गीध सबरी कहं प्रभुन बहुत जिय जानी॥

जो संपति दस सीस अरप करि रायन सिव पहं लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहं अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
तुलसिदास सब भांति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तो भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥
(वि० 162)

यहां पर आलम्बन भगवान है, आश्रय भक्त हैं, उद्दीपन भगवान की सहज अनुकम्पा, सहायता अतीव दयालुता तथा संचारी हर्ष आदि हैं।

वात्सल्य

तुलसी काव्य वात्सल्य रस के उदाहरणों से तो भरा पड़ा है :

(माता) लै उद्दंग गोविंद मुख बार बार निरखै।
पुलकित तनु आनंदघन छन छन मन हरषै ॥
पूछत तोतरात बात मातहि जदुराई।
अतिसय सुख जाते तोहि मोहि कछु समुझाई ॥
देखत तुव बदन कमल मन अनंद होई।
कहै कौन रसन मौन जानें कोई कोई ॥ (कृ० 1.1-3)

यहाँ पर आलम्बन श्रीकृष्ण हैं, आश्रय-यशोदा, उद्दीपन बाललीला, अनुभाव रसना का मौन होना और संचारी हर्ष आदि हैं।

संयोग शृंगार

तुलसी मर्यादा का निर्वाह करने वाले कवि थे और उनके आराध्य भगवान राम मर्यादा पुरुषोत्तम। अतः शृंगार का वर्णन करते समय तुलसी ने सर्वत्र संयम से निर्वाह किया है। संयोग शृंगार के वर्णन स्वरूप गीतावली, कवितावली और श्रीकृष्ण गीतावली में से सीता स्वयंवर, विवाह वर्णन, राम की पंचवटी यात्रा; नखशिख वर्णन, हिण्डोला वर्णन आदि अनेक स्थल उपस्थित किए जा सकते हैं :

शृंगार

फटिक सिल मृदु विसाल, संकुल सुर तरु-तमाल,
ललित लता जाल हरति छबि वितान की।
मंदाकिनी-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की।
मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर,
जलकन घन-छांह, छन प्रभा न भान की।

सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध वाउ,
बिहार-वाटिका नृप पंच जान की ।।
विरचित महं परन साल, अति विचित्र लषन लाल,
निवसत जहं नित कृपालु राम-जानकी।
निजकर राजी व नयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परसपर पीयूष प्रेम-पान की।
सिय अंग लिखें धातु रोग, सुभननि भूषन-विभाग,
तिलक करनि का कहों कला निधान की।
माधुरी-विलास-हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ।।

(गी० 2.44.1-4)

विप्रलम्भ शृंगार

जहाँ अनुराग तो अत्यन्त उत्कट है परन्तु प्रिय समागम नहीं होता, उसे विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं। शृंगार के इस रूप की काव्य में विशेष स्थिति है क्योंकि संयोगावस्था में नायक, नायिका प्रेमलीन रहने के कारण संकुचित परिधि में रह जाते हैं, उनकी वृत्तियां भी सीमित और संकुचित रह जाती हैं जबकि वियोगावस्था में विरह के कारण वे प्रेम अधिक उदार हो जाते हैं। उनकी चेष्टाओं में संवेदना का गुण अधिक मात्रा में रहता है। इसी कारण प्रेम के क्षेत्र में वियोग को विशेष महत्त्व दिया गया है। तुलसी ने इस पक्ष को व्यापक एवं विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्यों ने वियोग के चार रूप निरूपित किए हैं— पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।

तुलसी में पूर्वराग के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रवास विप्रलंभ की चरमसीमा है। तुलसी काव्य इन प्रसंगों से भरा पड़ा है। प्रियतमा की अनुपस्थिति में विरह की तीव्रता अधिक बढ़ जाती है। आचार्यों ने वियोग की दस कामदशाएं निरूपित की हैं—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। विप्रलम्भ शृंगार के लिए गीतावली के सुन्दर काण्ड से कुछ स्थलउद्धृत किए जा सकते हैं :

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो शरीर, नीर नय नन्हि छायो ।।
कहन चह्यो संदेस, नहि कह्यो, पिय के जिय को जानि हृदय दुसह दुख दुरायो।

देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो ।।
मीच तें नीच लगी अमरता छल को न बल को निरखि थल पुरुष प्रेम पायो ।
कै प्रबोध मातु-प्रीति सों असीस दीन्हीं ह्वै है तिहारोइ मनभायो ।।
करुना-कोप-लाज-भय भरो कियो गौन मौन ही चरन-कमल सीस नायो ।
यह सनेह-सरबस सौ, तुलसी रसना रूखी, ताही तैं परत गायो ।।
(गी० 5.15)

यहाँ पर आलम्बन राम, आश्रय सीता, उद्दीपन-प्रियतम के संदेशवाहक नुमान का प्रस्थान, गहरता आदि अनुभाव, पुलक, शैथिल्य, नयनों में नीर, संदेश कहने की असमर्थता आदि तथा संचारी करुणा दुःख आदि हैं ।

वियोग का वर्णन कामदशाओं के अतिरिक्त पत्र और व्यक्ति के द्वारा भेजे गए संदेशों से भी हुआ करता है । गीतवली में मूंदरी के माध्यम से अति सुन्दर चित्रण हुआ है:

बोलि, बोलि मूंदरी ! सानुज कुसल कौसल पालु ।
अमिय-वचन सुनाई मेटहि बिरह-ज्वाला जालु ।।
कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय साइ सालु ।
रोष छमि सुधि करत कबहू ललित लछिमन लालु ।
परसपर पति-देवरहि का होति चरचा चालु ।।
देवि ! कहु केहि हेत बोले बिपुल वानर-भालु ।
सील निधि समरथ सुसाहिब दीनबंधु दयालु ।
दास तुलसी प्रभुहि काहु न कह्यो मेरो हालु ।। (गी० 5.3)

सीता की भावनाओं का इतना मार्मिक वर्णन मुद्रिका-प्रसंग के बिना संभवतः न किया जा सकता था । रानी कौशल्या की विरह व्यथा भी दृष्टव्य है जहाँ वह घोड़ों के व्याज से अपनी बात कहती है :

राघौ ! एक बार फिरि आवो ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहु री बनहि सिधावौ ।।
(गी० 2.87.1)

इसी पद में वह पथिकों से भी यह संदेश कहने की प्रार्थना करती है कि मुझे सबसे बढ़कर इन घोड़ों की ही चिन्ता है :

सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो यात संदेसो ।
तुलसी मोहि और सबहिन ते इन्हको बड़ो अंदेसो ।।
(गी० 2.87.4)

इस सम्पूर्ण प्रसंग में राम की विरह दशा भी दृष्टव्य है राम तुलसी के इष्ट हैं। सारा काव्य ही राममय है। राम की विरह व्यथा का चित्रण किए बिना यह सारा प्रसंग ही अधूरा रह जाएगा :

जबहिं सिय-सुधि सब सुरति सुनाई।
भये मुनि सजग, बिरह सरि पैरत थकै थाह-सी पाई।।
कसि तूनीर-नीर धनु-धर-धुर धीर वींर दोउ भाई।
पंचवटी गोदहि प्रनाम करि, कुटी दाहिनी लाई।।
चले बूझत बन-बेलि बिटप खग-मृग, अलि-अवलि सुहाई।
प्रभु की दसा सो सभौ कहिवै को कवि उर आह न आई।।
रटनि अकनि पहिचानि गीध फ़िरे करुनामय रघुराई।
तुलसी रामहि प्रिय बिसरि गई सुमिरि सनेह-सगाई।।

(गी० 3.11)

इस प्रकार यह सहज ही कहा जा सकता है कि तुलसी का वियोग वर्णन सभी दृष्टियों से पूर्ण एवं शास्त्र सम्मत है। इनके वियोग वर्णन में स्वाभाविकता है। राम के विरह में नगरवासी, आश्रमवासी, पशु-पक्षी और यहाँ तक कि प्रकृति-वृक्ष लताएं आदि भी दुखित हैं। यह कवि की प्रतिभा का कौशल है जो काव्य को इतना मनोरम रूप प्रदान करता है तथा सहृदय पाठकों को प्रभावित करता है।

तुलसी के प्रेम का स्वरूप स्थूल शारीरिक नहीं अपितु सात्विक है। तुलसी ने सीता और राम को इस संसार के प्राणियों के रूप में प्रस्तुत किया है अत: उनमें लोक प्रेम की तीव्रता और तरलता की मनोभिराम अभिव्यक्ति हुई है। पर उनका परमात्मा स्वरूप कवि को कहीं भी विस्मृत नहीं होता है अत: प्रणय रस की स्रोतस्विनी पूर्णत: सात्विक भावों से अनुप्राणित है।

करुण रस—तुलसी काव्य में करुण रस की अति सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है :

मौको विधु बदन बिलोकन दीजै।
रामलषन मेरी यह भेंट, बलि, जाउ, जहाँ मोहि मिलि लीजै।।
सुनि पितु-बचन चरन गहै रघुपति, भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुं अवनि विदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हें।।
पुनि सिरनाइ गवन कियो प्रभु मरछित भयो भूप न जाग्यो।
करम-चोर नृप-पथिक मारि, मानो राम-रतन ले भाग्यो।।
तुलसी रविकुल-रवि रथ चढ़ि चलै तकि दिसि दखिन सुहाई।
लोग नलिन भए मलिन अवध सर, विरह-विषम हिम पाई।।

(गी० 2.12)

यहां पर आश्रय माता कौशल्या, आलम्बन राम, उद्दीपन वनगमन, अनुभाव मूर्छा और संचारी आवेग आदि हैं।

वीररस

वीररस के अन्तर्गत युद्धवीर, दानवीर, दयावीर धर्मवीर आदि सभी प्रकार के उदाहरण तुलसी काव्य में मिलते हैं :

जौ हौ अब अनुसासन पावौं।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल-ज्यों, आनि सुधा सिर नावौं ।।
कै पातात्म दलौं व्यालावलि अमृत-कुण्ड महि लावौं।
मैंदि भुवन, करि भानु बाहिरौ तुरत राहु दै तावौं ।।
बिबुध-बेद बरबस आनौं, धरि, तौ प्रभु-अनुग कहा वौं।
पटकौ मीच नीच भूषक-ज्यौं, सबही को पापु बहावौं ।।
तुम्ह रिहि कृपा, प्रताप तिहारेहि नेकु विलंव न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी-प्रभु, जेहि तुसरे मन भावौं ।। (गी० 6.8)

दानवीर

मेरे मरिबे सम न चारि फल, होंहि तौ, क्यों न कही जै ?
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन ही, परी मानो प्रेम सही जै ।।
(गी० 3.15)

सब भांति विभीषन की बनी।
कियो कृपालु अभय कालहुतें, गए संसृति-सांसति घनी ।।
सखा लषन-हनुमान, संभु गुर, घनी राम कौसल घनी।
हिय ही और, और कीन्हीं विधि, रामकृपा औरे ठनी ।।
(गी० 5.39)

एकै दानि सिरौमनि सांचौ।
जोई जाज्यो सोई जाचकतावस, फिरि बहु नाच न नाच्यो ।।
(वि० 163)

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वीररस के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं। तुलसी ने अपने आराध्य के वीरत्व को पूर्ण सफलता के साथ स्थापित किया है।

हास्य—तुलसी गंभीर कवि थे पर उनके काव्य में हास्य रस के प्रसंग भी विद्यमान हैं। विनय पत्रिका का यह प्रसिद्ध पद पूर्णरूपेण हास्य रस की कसौटी पर खरा उतरता है :

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, वेद-बड़ाई मानी।
निज घर की बरबात बिचौकहु, हो तुम परन सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत, श्री-सारदा सिहानी।।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक संवारत, हौं आयो नकबानी।।
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी।।
प्रेम-प्रसंसा-विनय-व्यंग जुत, सुनि विधि की वरबानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी।। (वि० 5)

अन्य रसों की निष्पति के उदाहरण देना भी यहाँ पर प्रसंगानुकूल है :

शान्त रस

मन पछितैहैं अवसर बीतै।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु करम, वचन अरु ही ते।।
सहस बाहु, दस बदन आदि नृप बचै न काल बलौ तैं।
हम-हम करि धन-धाम संवारे, अंत चले उठि रीतै।।
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही तैं।
अंतहु तोहि तजैंगे पामर! तू न तजै अब ही तैं।
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तैं।।
बुझै न। कि काम अगिनि तुलसी कहुं, विषय भोग बहु घी तैं।।
(वि० 198)

रौद्र

जो हों प्रभु आयसु लै चलती।
तो यहि रिस तोहि सहित दसानन। जातुधान दल दलतौ।।
रावन सो रसराज सुभट-रस सहित लंकखल खलतौ।
करि पुटपाक नाक-नायक हित घने घने घर घलतौ।।
बड़े समाज लाज-भाजन भयो, बड़ो काज बिनु छलतौ।
लंकनाथ रघुनाथ, बैर-तरु आजु फैलि फूलि भलतौ।।
काल-करम, दिगपाल, सकल जग-जाल जासु करतल तौ।
ता रिपुसो पर भूमि रारि रन जीवन-मरन सुथल तौ।।
देखी में दसकंठ! सभा सब, भौं तें कोउ न सबल तौ।
तलसी अरि उर आनि एक अब एतो गलानि न गलतौ।।
(गी० 5.13)

यह रौद्र रस का सुन्दर उदाहरण है।

भयानक

ब्रज पर घन घमंड करि आए।
अति अपमान बिचारि आपनो कोपि सुरेस पठाऐ ।।
दमकति दुसह दसहुं दिसि दामिनि, भयो तम गगन गभीर।
गरजत घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर ।।
बार बार पबिपात, उपल घन बरषत बूंद बिसाल।
सीत सभीत तुकारत आरत गौ सुत गोपी ग्वाल ।।
राखहु राम कान्ह तहि अवसर, दुसह दसा भइ आइ।
नंद विरोध कियो सुरपति सों सो तुम्हरोइ बल पाई ।।
सुनि हंसि उठ्यो नंद को नाहरु लियो कर कुधर उठाइ।
तुलसीदास मघवा अपनी सो करि गयो गर्व गंवाई ।। (कृ० 18)

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में सभी रसों का सम्यक् चित्रण उपलब्ध है। रस योजना में उन्होंने सभी उपादानों का प्रयोग किया है। उनका रस चित्रण सहृदय को पूर्णतः आह्लादित करने में सक्षम है।

अप्रधान चेतन पात्र : पशु-पक्षी—

अप्रधान चेतन सिंह का वर्णन भी कवियों की वर्णना का विषय होता है। कुन्तक के अनुसार प्रत्येक प्राणी का अपनी-अपनी जाति और स्वभाव के अनुकूल जो व्यापार है, उसका सम्यक् रूप से उल्लेख और वास्तविक रूप से वर्णन कवियों की वर्णना का द्वितीय विषय है।[1]

कुन्तक ने वस्तुवक्रता के अन्तर्गत अप्रधान चेतन पदार्थ के वर्णन को प्रमुखता देकर पशु-पक्षियों तथा मानव के उस सम्बन्ध को स्थायी बनाए रखा है जो अनादि काल से चला आ रहा है। पशु-पक्षी मानव के चिरन्तन साथी हैं। इनके अभाव में यह विराट् सृष्टि सौन्दर्यहीन दिखाई पड़ेगी। मानव के लिए ये सदा प्रेरणा स्रोत रहे हैं। मानसिक चेतना के उद्बोधन, जीवन संघर्ष, क्षमता, आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति आदि में ये प्राणी विशेष सहयोगी रहे हैं। श्रीचन्द जैन ने पशु-पक्षी तथा मानव जगत के रागात्मक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'सौंदर्य-

---

1. स्वाप्रत्येकमात्मीया सामान्यलक्षणवस्तुस्वरूपा या जातिस्तया: समुचितो यो हैवीक: स्वभावानुसारी परिस्पन्द:, तस्थ समुल्लेख: सम्यगुल्लेखनं वास्तवेन रूपेणोपनिबन्धस्तेनोज्ज्वलं भ्राजिष्णु तद्विदाल्हादकारीति यावत।
—हि० व० जी० पृ० 331

बोध में आस्था को परिष्कृत बनाने वाले ये विहंग और पशु ही हैं। विविध कलाओं की सृष्टि में इन प्राणियों का योगदान असाधारण है। ये मूक होकर भी वाक्पटु हैं, निरीह होकर भी समर्थ हैं, ज्ञानहीन होने पर भी प्रबुद्ध हैं, निरालम्ब होकर भी जन-जन के आश्रयदाता हैं और आबद्ध होकर भी स्वतन्त्रता को जीवित रख रहे हैं।...प्रकृति की रमणीयता के प्रमुख उपकरण हैं, साहित्य-सर्जना के प्रधान आधार हैं एवं प्रबोधन के सरस उदाहरण हैं।[1]

तुलसी ने पशु पक्षियों का वर्णन स्वतन्त्र रूप से भी कहीं-कहीं किया है पर उपमान रूप में और अन्योक्ति रूप में उनके आकार, गुण स्वभाव आदि का वर्णन अधिकतर प्राप्त होता है। पशु जगत के मृग, चीता, रीछ, वानर, घोड़ा, सिंह, हाथी, मयूर, बाघ आदि के सुन्दर बिम्बों का निर्माण किया है। हंस, कपोल, कबूतर, चक्क और चकोर तथा मृग और मोर-पिक, हाथी, बन्दर आदि का नर-नारियों की तरह स्वाभाविक वर्णन है—

हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर।
गावत मनहु नारि नर मुदित नगर चहुं ओर॥
चित्र-विचित्र बिविध मृग डोलत डोंगर डांग।
जनु पुर बीथिन बिहरत छैल संवारे स्वांग॥
नचहिं मोर, पिक गावहिं, सुर बर राग बंधान।
निलज तरुन-तरुनी जनु खेलहिं समय समान॥
भरि-भरि सुंड करिनि-करि जहं तहं डारहिं बारि।
भरत परसर पिचकनि मनहु मुदित नर-नारि॥
पीठि चढ़ाइ सिसुन्ह कपि कूदत डारहि डार।
जनु मुंह लार गेरु-मसि भए खरनि असवार॥
(गी० 2.47.11-15)

इस वन में जो हंस, कपोत, कबूतर चकवा और चकोर आदि पक्षी बोलते हैं, वे ही इस काम नगर में मानो चारों ओर नर-नारि वृन्द प्रसन्न होकर गा रहे हैं। सघन वनखण्ड की ऊंची भूमि में जो चित्र-विचित्र अनेकों मृग डोल रहे हैं, वह ऐसा जान पड़ता है मानो उस नगर की गलियों में अनेकों छैल ही स्वांग बनाकर विचर रहे हों। मयूर नृत्य करते हैं तथा कोकिल पक्षी सुन्दर स्वर में राग बांधकर गान कर रहे हैं, वह ऐसा जान पड़ता है मानो निर्लज्ज युवक और युवतियां समयानुसार खेल रहे हों। हाथी और हथिनयां सूंडों में जल भर कर जहां-तहां उड़ेल देती है,

1. हमारे ये पशु-पक्षी—श्रीचन्द्र जैन, भूमिका भाग से उद्धृत, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 प्र० सं० 1967

मानो स्त्री और पुरुष आपस में प्रसन्न होकर पिचकारियां भर रहे हों। (काले और लाल मुख के) बन्दर अपने बच्चों को पीठ पर चढ़ाकर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते हैं, वह ऐसा जान पड़ता है मानो (स्वाँग रचने वाले लोग) मुखों पर गेरु या स्याही लगाकर गधों पर सवार हो गए हों।

पपीहा और मछली का वर्णन कवि ने अति विदग्धतापूर्वक किया है—

नेम तो पपीहा ही के, प्रेम प्यारो मीन ही के,
तुलसी कही है नीके हृदय आनि।
इतनी कही सो कही सीय, ज्योंही त्योंही,
रही, प्रीति परी सही, बिधि सों न बसानि ।। (गी० 5.7.4)

नियम तो पपीहा का और प्यारा प्रेम तो मछली का ही है जिसे लोगों ने भली भांति हृदय में विचार कर रहा है। तुलसीदास जी कहते हैं कि सीता जी ने इतना कहा सो कहा, फिर वे ज्यों-की-त्यों रह गयीं। उनकी प्रीति पर सही पड़ गई। (अर्थात् वे रामचन्द्रजी के विरह में व्याकुल होकर बेहोश हो गयीं)। विधाता से कुछ भी वश नहीं चलता।

शलभ, खग, कुरंग और मीन का सुन्दर वर्णन प्राप्य है—

ऐसे तो सोचहिं न्याय निठुर-नायक-रत
सलभ खग, कुरंग, कमल, मीन।
करुनानिधान को तो ज्यों-त्यों तनु दीन भयो,
त्यों-त्यों मनु भयो तेरे प्रेम पीन ।।

ऐसा शोक तो निष्ठुर प्रियतम में प्रीति करने वाले शलभ, पपीहा, मृग, कमल और मत्स्य आदि किया करते हैं, सो ठीक ही है, परन्तु करुणानिधान भगवान राम का तो जैसे-जैसे शरीर दुर्बल होता है, वैसे-वैसे ही उनका मन तुम्हारे प्रेम से पुष्ट होता जाता है। सारिका, मैना, शुक आदि का वर्णन भी तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में मिलता है—

सुक सों गहवर हिये कहै सारी
वीर कीर ! सिय-राम-लषन बिनु लागत जग अंधियारो ।।
भैया भरत भावते के, संग बन सब लोग सिधारो।
हम पंख पाइ पीजरनि तरसत अधिक अभाग हमारो ।।
सुनि खग कहत अब ! भोंगी रहि समुझि प्रेम पथ न्यारो।
गए ते प्रभुहि पहुंचाई फिरे पुनि करत करम-गुन गारो ।।
(गी० 2.66)

एक सारिका (मना) हृदय भरकर शुक से कहने लगी—मैया कीर ! सीता,

राम और लक्ष्मण के बिना तो सारा संसार अन्धकारमय जान पड़ता है। अब प्यारे भरत के साथ सब लोग बन को जा रहे हैं, परन्तु हम पंख पार भी पिंजड़ों में पड़े तरस रहे हैं—यह हमारा बड़ा भारी दुर्भाग्य ही है। सारिका के ये वचन सुनकर तोता बोला—'अरी मैया ! प्रेम का पंथ निराला समझकर तू मौन ही रह ! देख, जो उनके साथ गए थे वे भी प्रभु को वन में पहुंचा कर कर्म (भाग्य) के गुणों की निन्दा करते हुए फिर लौट आए।

यहां पर तोता मैना के माध्यम से कवि ने राम, लक्ष्मण, सीता के हितैषी लोगों की असहायता को बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। पंख होते हुए भी पिंजर बद्ध होने के कारण उड़ न पाने की विडम्बना, रामराज्य की कामना होने पर भी कैकेयी के प्रति वचनबद्धता से असहायता के विचार को तुलसी बड़े ही सुन्दर एवं मार्मिक ढंग में प्रस्तुत किया है। तुलसी का यह आहार्य कौशल सराहनीय है।

हिरणों का स्वभाव होता है कि वे आगे दौड़ते हुए भी मुड़-मुड़ कर पीछे देखने लगते हैं। कालिदास के ग्रीवाभंगाभिरामं जैसा ही मनोहारी चित्रण यहां भी है—

> प्रिया-बचन सुनि बिहंसि प्रेम बस गवहि चाप-सर लीन्हें।
> चल्यो भाजि, फिरि-फिरि चितवत मुनिमख रखबारे चीन्हें ।।
>
> (गी० 3.3.3)

प्राण प्रिया के वे वचन सुन हंस कर श्री रघुनाथ जी ने उसके प्रेमवश धीरे से हाथ में धनुष-बाण लिये। उन्हें देखकर वह मृग बार-बार पीछे को देखता हुआ दौड़ चला, उसने विश्वामित्र मुनि के यज्ञ की रक्षा करने वाले भगवान राम को पहचान लिया। हिरण का गर्दन मोड़कर पीछे को देखना एक स्वाभाविक क्रिया है। हिरण से सम्बन्धित चित्रण अनेक स्थानों पर प्राप्य है—

> फिरि-फिरि राम सीय तनु हेरत।
> तृषित जानि जल लेन लषन गए, भुज उठाइ ऊंचे चढ़ि टेरत ।।
> अवनि कुरंग, बिहंग द्रुम-डारन रूप निहारत पलक न फेरत।
> मगन न डरत निरखि कर-कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत ।।
> अवलोकत भग-लोग चहूं दिसि, मनहु चकोर चन्द्रमहि घेरत।
> ते जन भूरिभाग भूतल पर तुलसी राम पथिक पद जे रत ।।
>
> (गी० 2.14.1-3)

भगवान राम मुड़-मुड़ कर सीताजी की ओर देखते हैं। उन्हें प्यासी जानकर लक्ष्मण जी जल लेने गए, तब भगवान ऊंचे टीले पर चढ़कर उन्हें भुजा उठाकर

पुकारते हैं। पृथ्वी पर मृग और वृक्षों की डालियों पर पक्षी प्रभु का रूप-लावण्य देख रहे हैं—वे पलक भी नहीं मारते और प्रभु को अपने धनुष-बाण पर कर कमल फेरते देखकर भी भय नहीं मानते—प्रेम में मग्न हो रहे हैं। मार्ग में लोग चारों दिशाओं से देख रहे हैं, मानो चकोर पक्षी चन्द्रमा को घेरे हुए हों। तुलसीदास कहते हैं, जो लोग बटोही राम के चरणों में रत हैं वे पृथ्वी पर बड़े ही भाग्यशाली हैं। यहां पर मृगों का, पक्षियों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है। और भी—

देखत खग-निकट, मृग-खनिन्ह जुत, थकित बिसारि जहां तहां की भवनि।
हरि-दरसन फल पायो है ग्यान बिमल, जांचत भगति, मुनि चाहत जवनि।
(गी० 3.5.4)

क्यों हों आजु होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै सांची ?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बांची ?
(गी० 2.62.2)

हिरणों का चौंकना, चकित होना और चित्त लगाकर देखना—ये सभी स्वाभाविक क्रियाएं हैं जिनको कवि ने सहृदय को आह्लादित करने हेतु सुन्दर ढंग से चित्र पटल पर प्रस्तुत किया है। तुलसीदास ने मोर का वर्णन भी किया है जो काव्य सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम है—

देखे राम-पथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहु सतडित ललित घन, धनु सुरधनु, गरजनि टंकोर।
कंप कलाप वर बरहि फिरावत, गावत कल कोकिल-किसोर।
जहं जहं प्रभु विचरत तहं तहं सुख, दंडक बन कौतुत न थोर।।
सघन छांह तम रुचिर रजनि भ्रम, बदन-चंद चितवत चकोर।
तुलसी मुनि खग-मृगनि सराहत, भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर।।
(गी० 3.1.1-4)

सुन्दर भौंरों का नाचना दण्डक वन की श्री में अतिगुणित वृद्धि कर देता है। तुलसी का यह कवि-कर्म कौशल श्लाध्य है। भ्रमर का भी मनोहारी वर्णन तुलसी में अनेक स्थलों पर मिलता है—

अब नैनन प्रीति ठई ठग स्याम सों, स्यानी सखी हठि हौं बरजी।
नहिं जानो वियोग सो रोगु है आगे झुकी तब हों तेहि सो तरजी।।
अब देह भई पट नेह के घोल सों, ब्यौंत करे बिरहा-दरजी।
ब्रजराजकुमार बिना सुनु भृंग। अनंगु भयो जिय को गरजी।।
(क० 7.113)

पारम्परिक रूप से भ्रमर के माध्यम से गोपियों की विरह विदग्ध अवस्था का सुन्दर वर्णन किया गया है—

पठ्यो है छपदु छबीले कान्ह कँहूं कँहूं, खोजि कै खवासु खासो कूबरी-
सो बालको।
ग्यान को गढ़ैया, बिनु गिरा को पढ़ैया, बार-खाल को कढ़ैया, सो
बढ़ैया उर-साल को ।।
प्रीति को बंधिक, रस-रीति को अधिक, नीति-निपुन, बिबेकु है, निदेसु
देस-काल को।
तुलसी कहैं न बनैं, सहैं ही बनैंगी सब, जोगु भयो जोग को बियोगु
नन्दलाल को ।। (क० 7.135)

यहां पर भ्रमर की सभी विशिष्टताओं का कवि ने अत्यन्त मार्मिक ढंग से चित्रण किया है। काक और क्षेमकरी का भी कवि ने चित्रण किया है—

बैठी सगुन मनावति माता।
कब एहैं बाल कुसल घर, कहहु काग ! फुरि बाता।
दूध-भात की दौनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम-लषन उर लेहौं ।।
(गीं० 6.16.1-2)

क्षेमकरी ! बलि बोलि सुबानी।
कुसल क्षेम सिय राम-लषन कब ऐहैं, अम्ब अवध रजधानी ।।
ससिमुखि, कुंकुभ-बरनि, सुलोचनि, मोचनि सोचनि वेद बखानी।
दैवि ! दया करि देहि दरस फल, जोरि पानी बिनवहिं सब रानी ।।
(गी० 6.20.1-2)

अरी क्षेमकरी (लाल चील) ! मैं बलिहारी जाती हूं। अरी मैया ! तू अपनी सुन्दर वाणी से सच-सच बता कि, सीता, राम और लक्ष्मण कुशल क्षेमपूर्वक कब अपनी राजधानी अयोध्या को लौट आवेंगे ? हे देवि ! तू चन्द्रमा के समान मुख वाली, कुंकुम वर्णा और सुनयना है। वेदों ने तुझे सब प्रकार के शोकों से छुड़ाने वाली कहा है। तू दया करके हमें अपने दर्शनों का फल दे—इस प्रकार सब रानियां हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हैं।

तुलसीदास ने लाल चील के सौंदर्य और क्षेमकरी स्वभाव का बड़ा ही सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण चित्रण किया है जो पाठकों के मन को अभिभूत कर लेता है। जटायु का वर्णन तुलसीदास ने बड़े ही मनोयोग से किया है—

फिरत न बारहि बार प्रचारयो।
चपरि चोंच-चंगुल हय हति, रथ खण्ड खण्ड करि डारयो ।।

बिरथ बिकल कियो, छीन लीन्हि सिय, धन धायनि अकुलान्यो ।
तब असि काढ़ि, काटि पर पाँवर लै प्रभु-प्रिया परान्यो ।।
रामकाज खगराज आजु लरयो, जियतन जानकि त्यागी ।
तुलसीदास सुर-सिद्ध सराहत, धन्य बिहंग बड़भागी ।।
(गी० 3.8)

यहां तुलसीदास ने जटायु की वीरता, भगवद्भक्ति, धर्मपरायणता और कार्य-निष्ठा का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है—

मेरे एकौ हाथ न लागी ।
गयौ बपु बीति बादि कानन, ज्यों कलपलता दव दागी ।।
दसरथ सों न प्रेम प्रति पाल्यो, हुतौ जो सकत जग साखी ।
बरबस हरत निसाचर पति सों हठी न जानकी राखी ।।
(गी० 3.12)

यहां तुलसीदास ने जटायु को सीता की रक्षा न कर सकने के कारण पश्चाताप की आग में जलता हुआ दिखाया है ।

राधौ गीध गोद करि लीन्हों
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघ जल दीन्हों ।।
(गी० 3.13)

यहां पर राम के द्वारा जटायु को दिया गया सम्मान दृष्टव्य है । तुलसी की यह काव्यकला पाठक को बरबस स्नेह सिक्त कर देती है—

पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो ।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ ! तू चाहत सुख पायो ।।
(गी० 3.16)

राम ने जटायु का पिता की भांति अन्तिम संस्कार किया ।

तुलसीदास के काव्य में उदाहरण स्वरूप सर्प का वर्णन भी मिलता है—

सुमित्रा लाय हिये फनि मनि ज्यों गाए ।
तुलसी नैव छावरि करति मातु अति प्रेम-मगन मन, सजल सुलोचन कीये ।। (गी० 1.14.2)

सर्प जैसे मणि को छिपा लेता है, उसी प्रकार सुमित्रा ने बालकों को हृदय से लगा लिया है । तुलसीदास जी कहते हैं कि माता कौशल्या अत्यन्त प्रेममग्न होकर निछावर कर रही है और उनके नेत्रों के कोये सजल हो गए हैं ।

अश्वों का भी मनोहारी वर्णन मिलता है—

आली ! हों इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
लेत हियँ भरि-भरि पति को हित, मातु हेतु सुत जैसे ।।
बार बार हिनहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे ।
अंग लगाई लिए बारे ते करुनामय सुत प्यारे ।।
लोचन सजल, सदा सौवत-से, खान-पान बिसराए ।
चितवत चोंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आए ।।
तुलसी प्रभु के बिरह बधिक हठि राजहंस-से जोरे ।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम लखन के घोरे ।।

अरी सखि ! मैं इन घोड़ों को कैसे समझाऊं। देख जैसे माता के लिए पुत्र व्याकुल रहता है उसी प्रकार इनके हृदय में बारंबार अपने स्वामी राम की प्रीति उमड़ आती है । यदि कोई द्वार पर बोलता है तो ये बारंबार उसी ओर देखकर हिनहिनाने लगते हैं, क्यों ? इन्हें मेरे उन करुणामय प्रिय पुत्रों ने बालकपन से ही अपने से हिला-मिला लिया था । इनके नेत्र सदा आंसुओं से भरे रहते हैं और ये खान-पान को भूलकर सदा सोये हुए से रहते हैं । ये राम का नाम सुनते ही चौंक पड़ते हैं और हृदय में उनका स्मरण आते ही शोकग्रस्त हो जाते हैं । ये राम-लक्ष्मण के घोड़े राजहंसों के जोड़े के समान हैं, हाय ! इन्हें प्रभु के वियोग रूप बधिक से इस प्रकार हठपूर्वक व्यथित होते देखकर भी मैं जी रही हूं । यहां पर माता कौशल्या की विरह वेदना को कवि ने घोड़ों के विरह वेदना के स्वाभाविक चित्रण से और भी अधिक मार्मिक बना दिया है ।

तुलसी के काव्य में अप्रधान चेतन पदार्थ-पशु-पक्षियों का वर्णन पर्याप्त रूप में प्राप्य है । इस वस्तु का वर्णन आलम्बन रूप में तथा अप्रस्तुत रूप में दोनों ही प्रकार संभव हुआ है । कहीं-कहीं तो इन्हें मानवीकृत रूप भी प्रदान किया गया है । ये पशु पक्षी केवल रूप-सौंदर्य-चित्रण में ही वृद्धि नहीं करते, अपितु मानव जगत को शिक्षा भी देते हैं । यही नहीं, रस की उद्दीपन सामग्री के रूप में भी इनका विशेष योगदान रहा है ।

अचेतन पदार्थ : उद्दीपन रूप में प्रकृति

अचेतन पदार्थों से तात्पर्य है षड्ऋतु, जल, वृक्ष, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थ । कुन्तक के अनुसार इन जड़ पदार्थों का स्वरूप भी रस के उद्दीपन की सामर्थ्य सन्निवेश से मनोहर कवियों की वर्णन का विषय होता है ।[1] प्रकृति को देखकर मनुष्य के भाव सुख या दुःख की भावना से उद्दीप्त होते हैं । जहां कवि प्रकृति का

---

1. हि० व० जी० 3.9

इस रूप में वर्णन करता है कि वह मानव के भावों को उद्दीप्त करती है, वहां वह प्रकृति का उद्दीपन रूप कहलाता है। यद्यपि सभी रसों में प्रकृति का उद्दीपन रूप होता है, पर श्रृंगार रस का तो वह प्राण है। इसके बिना श्रृंगार रस के अस्तित्व की कल्पना ही असंभव है। श्रृंगार रस के दो भेद होते हैं—संयोग और वियोग। संयोग श्रृंगार सुख की भावात्मक स्थिति है और वियोग श्रृंगार सुख की अभावात्मक स्थिति है। आश्रय अपनी मनः स्थिति के अनुरूप ही प्रकृति के रूप, गुण को निहारता है। अतः कवियों ने इन दोनों रूपों को ध्यान में रखकर संयोग श्रृंगार में प्रकृति के सुखात्मक रूप और वियोग श्रृंगार में उसके कष्ट साध्य रूप की अभिव्यक्ति में अपनी सफलता समझी है। तुलसी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। भावप्रवण कवि तुलसी मनुष्य की दुःख सुखात्मक मनोदशाओं के अनुकूल प्रकृति को प्रस्तुत करने में सजग रहे हैं—

चित्रकूट अति विचित्र, सुन्दर बन, महि पवित्र,
पावनि पय-सरित सकल मल निकन्दिनी।
सानुज जहं बसत राम, लोक-लोचनाभिराम,
बाम अंग बामाबर विस्व-बंदिनी ॥ (गी॰ 2.43.1)

फटिक सिला मृदु विसास, संकुल सुरतरु-तमाल।
ललित लता-जाल हरति छवि बितान की।
मंदाकिनि-तटिनी-तीर, मंजुलमृग-बिहग-मोर,
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की॥ (गी॰ 2.44.1)

आइ रहे जबतें दोउ भाई।
तब तें चित्रकूट-कानन-छवि दिनदिन अधिक अधिक अधिकाई।
सीता-राम-लषन-पद अंकित अवनि सोहावनि बरनि न जाई।
मन्दाकिनि मज्जत अवलोकत त्रिविध पाप, त्रयताप नसाई॥
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह, नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत, फलत, पल्लवत, पलुहत बिटप वेलि अभिमत सुखदाई॥
(गी॰ 2.46.1-3)

आजु वन्यो है विपिन देखो, राम धीर। मानो खेलत फागु मुद मदन बीर।

वट, बकुल, कदंब, पनस, रसाल। कुसुमित तरु-निकट कुरव तमाल॥
मानो विविध वेष धरें छैल-यूथ। बिच बीच लता ललना बरुथ॥
पनवानक निरझर, अलि उपंग। बोलत पाखत मानौ डफ-मृदंग॥
गायक सुक-कौकिल, झिल्लि ताल। नाचत बहु भांति बरहि-मराल॥

मलयानिल सीतल, सुरभि मंद। बह सहित-सुमन-रस रेनु बूंद।।
मनु छिरकत फिरस सबनि सुरंग। भ्राजत उदार लीला अनंग।।
क्रीड़त जीते सुर-असुर-नाग। हठि सिद्ध-मुनिन के पंथ लाग।।
कह तुलसिदास, तेहि छाड़ु मेन। जैहि राख राम राजीव नैन।।
(गी० 2.48.1.5)

प्रकृति चित्रण का यह अनुपम उदाहरण है। प्रकृति को मानवीकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। वन को कामदेव और उट, बकुल (मोलसिरी), कदम्ब, कटहल आम, कुख और तमाल आदि वृक्षों को विभिन्न वेषधारी युवा तथा बीच-बीच में लताओं की स्त्री समुदाय माना है। झरने मानो नगाड़े और ढोल हैं। भ्रमर उपंग (मुरचंग) तथा कबूतर मानो डफ और मृदंग हैं। शुक्र और कोकिल गान करने वाले हैं। झिल्ली की झनकार उनकी ताल है तथा मयूर और हंस अनेकों प्रकार से नृत्य कर रहे हैं। शीतल मन्द सुगन्ध मलय मारुत फूलों का रस और पराग लेकर वह रहा है, सो ऐसा जान पड़ता है मानो उदार लीला बिहारी कामदेव सब पर सुन्दर रंग छिड़कता हुआ विराजमान हो। इसने खेल में ही देवता, असुर और नाग आदि को जीत लिया है तथा यह हठपूर्वक सिद्ध मुनीश्वरों के मार्ग में रोड़े अटकाये हुए है। तुलसीदास कहते हैं—यह कामदेव तो उसी को छोड़ता है जिसकी कमल नयन भगवान रक्षा करते हैं। प्रकृति के उपादानों का अत्यन्त मनोहारी वर्णन तुलसीदास के काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। विभिन्न ऋतुओं का सुन्दर वर्णन भी यहां उपलब्ध है—

ऋतुपति आए भलौ बन्यौ समाज। मानो भए हैं मदन महाराज आज।
(गी० 2.49.1)

वर्षाऋतु का वर्णन भी दृष्टव्य है—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रबेस बिसेष गिरि देखन मन अनुरागत।।
(गी० 2.50.1)

कौशल्या की विरह वेदना की अभिव्यंजना में भी प्रकृति ने उद्दीपन का कार्य किया है—

जिन्हहिं बिलौकि सौचिहैं लता-द्रुम, खग-मृग-मुनि लोचन जल हैं।
तुलसिदास तिन्ह की, जननी हौं, मौसी निठुर-चित औरौ कहुं हैं हैं।।
(गी० 6.18.3)

कितनी लावण्यमयी अभिव्यंजना है कि जिन्हें देखकर लता और वृक्षादि को भी शौक होगा तथा पक्षी मृग और मुनियों के नेत्रों से जल चूने लगेगा, मैं उन्हीं

की माता हूं। भला मुझ जैसी निष्ठुर हृदया भी कोई कहीं होगी? ये पंक्तियां और भी अधिक मार्मिक हैं जब कवि ने निर्जीव शिला को द्रवीभूत होते दिखाया है—

चित्रकूट तेहि समय सबनि की बुदि विषाद हुई है।
तुलसी राम-भरत के बिछुरत सिला सप्रैम भई है।

(गी० 2.78.4)

उस समय चित्रकूट में सभी की बुद्धियां विषादग्रस्त हो गयीं। तुलसीदास जी कहते हैं तब राम और भरत का वियोग होते देख वहां की शिला भी प्रेमवश (द्रवीभूत) हो गयीं। सीतावट का भी तुलसी ने बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है—

मरकत वरन परन, फ़ल मानिक-से
लसै जटा जूट जनु रुख वेष हरु है।
सुषमा को ढेरू कैधों, सुकृत-सुमेरु कैधों,
संपदा सकल मुद-मंगल को घरु है॥
देत अभिमत तो समेत प्रीति से इये
प्रतीति मानि तुलसी, बिचारि काको थरु है।
सुरसरि निकट सुहावनी अवनि सौहे
रामरवनी को बटु कलि कामतरु है॥ (क० 7.139)

पत्तों के मरकत मणि के समान नील वर्ण और फलों को माणिक्य के समान हरा चित्रित करके तुलसी ने अपूर्व सौंदर्य का समावेश किया है।

तुलसी ने प्रकृति वर्णन को आलम्बन एवं उदीपन तथा उपमान रूप में अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उनका यह वर्णन उक्ति चमत्कार के द्वारा अपूर्व मनोहारिता को प्राप्य हुआ है। वास्तव में उद्दीपन रूप में किया गया यह वर्णन स्वाभाविक और सुकुमार है।

नैतिक व्यापार—वर्णनीय वस्तु अपनी उपादेयता के कारण कवियों के वर्णन का विषय होती है। वस्तु का सहज और आहार्य वर्णन अपने स्वभाव के कारण तथा चेतन-अचेतन पदार्थ रसौद्दीपन में समर्थ होने के कारण क्राव्य में सहज रूप से ग्राह्य बन जाते हैं। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त वर्ण्य विषय की उपादेयता के तीसरे प्रकार का भी उल्लेख कुन्तक ने किया है। उनका कहना है कि धर्मादि (धर्म अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय) की सिद्धि का उपाय होने के कारण व्यवहार योग्य अन्य स्वरूप भी का विवेच्य विषय होता है—

धर्मादि साधनोपाय परिस्पन्द निबन्धनम्।
व्यवहारिचितं चान्यल्लभते वर्णनीयताम्॥[1]

तुलसी साहित्य में वर्णित विषय भी पुरुषार्थ चतुष्ट्य के व्यापार से युक्त हैं। कवि ने सिद्धान्ततः इन व्यापारों पर स्वतंत्र रूप से टिप्पणी की है। तुलसी ईश्वर को पौरुष एवं भाग्य का संचालक तथा नियायक मानते हैं—

पुरुषारथ पूरक करम परमेस्वर परधान।
तुलसी पैरत सहित ज्यौं सबहि काज अनुमान।।

(दो० 468)

इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक कारण है। ईश्वर बुद्धि से कर्म वाले जीव को पुरुषार्थ की सफलता पर अहंकार नहीं होता, उसकी असफलता पर कुण्ठा नहीं होती। तुलसी ने सीता-वट के सेवन को चारों फल प्राप्त कराने वाला बताया है—

रामभगतन को तो कामतरु तें अधिक,
सिय बटु सेयें करतल फल चारि हैं।

(क० 7.140)

यह सीता वट रामभक्तों के लिए तो कल्पवृक्ष से भी अधिक है क्योंकि इसका सेवन करने से (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) चारों फल करतल गत हो जाते हैं (जबकि कल्पवृक्ष से धर्म, अर्थ और काम, केवल तीन ही फल मिलते हैं)।

वे भगवान शंकर को चारों फलों का दाता मानते हैं—

दानि जो चारि पदारथ को, त्रिपुरारि, तिहूं पुर में सिरटी को।
मोरो भलो, भले भाय को भूखो, भलोइं कियो सुमिरें तुलसी को।
ता बिनु आस को दास भयों, कबहूं न मिट्यौ लघु लालचु जी को।
साधों कहा करि साधन तैं, जो पै राधो नहीं पति पारबती को।।

—(क० 7.156)

जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों का दाता है, त्रिपुरासुर का वध करने वाला और तीनों लोकों में सबका सिरमौर बना हुआ है। जो बड़ा भोला है, केवल शुद्ध भाव का भूखा है तथा स्मरण करने पर जिसने तुलसीदास का भी भला ही किया है। उनको छोड़कर तू विषयों की आशा का दास बना हुआ है, किन्तु तुम्हारे जी का तुच्छ लोभ कभी नष्ट नहीं हुआ। (तुलसीदास कहते हैं—) यदि तूने पार्वतीपति भगवान शंकर की आराधना नहीं की तो बहुत-से साधनकरके भी क्या फल पाया?

महाकवित्व और महाकाव्य के लिए दो आवश्यक गुण हैं—जीवनदर्शन और लालित्य। तुलसी महाकवि थे क्योंकि वे स्रष्टा के साथ-साथ जीवन दृष्टा भी थे। उन्होंने जीवन को उसके समग्र रूप में देखा। वे दार्शनिक कवि थे। भारतीय दर्शन

की सात प्रमुख विशेषताएं हैं—गहरी आध्यात्मिक भावना, मोक्ष की परम-पुरुषार्थता, चैतन्यवाद, सत्यनिष्ठता, धर्म से धनिष्ठ सम्बन्ध, परम्परा के प्रति आस्था और समन्व दृष्टि। तुलसी में ये सभी विशेषतायें प्रतिफलित हुई हैं। इन सबसे ऊपर महत्त्वपूर्ण है तुलसी की कवित्वमयी प्रतिपादन शैली। अपनी विचार-धारा को उन्होंने बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। तुलसी की मूल विचारधारा है कि जीव नाना प्रकार के दैहिक (आधि और व्याधि-शारीरिक और मानसिक) रोगों से ग्रस्त है। शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब इष्ट राम की कृपा से शान्ति पद की प्राप्ति हो जाये। कवि ने इस बात को कवित्वमयी शैली में रहकर हृदय-ग्राह्य बना दिया है।

तुलसी यह तनु तवा है तपत सदा चैताय।
सांति होई जब सांति पर पांव राम प्रताप।।

—(वैं॰ 6)

गीतावली में तुलसी का काव्य आद्यन्त कवित्वयम है। वह रामचरितमानस या विनयपत्रिका की भांति दार्शनिक अथवा भक्तिरस प्रधान नहीं है तथापि उसमें कवि की भक्ति भावना का तिरोभाव नहीं हुआ है। कितने ही पदों में भक्ति दर्शन का न्यूनाधिक निदर्शन किया गया है—

जो सुखसिंधु सुकृत सीकर ते सिव विरंचि प्रभुताई।
सोई सुख अवधि उमंग रह्यों दस दिसि कौन जतन कहौं गाइ।।

(गी॰ 1.1.11)

दसरथ गृह सोइ उदार मंजन संसार भार
लीला अवतार तुलसिदास त्रास हारी।

(गी॰ 1.25.6)

गांठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की
छोरी अनायास साधु सौधक अपान को।

(गी॰ 1.88.3)

रूप सोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं।
मुनिवेष किये कैधौ ब्रह्म जीव माय हैं।।

(गी॰ 2.28.3)

गीतावली में दर्शन के जो विरल सूत्र मिलते हैं उनसे सिद्ध है कि ब्रजभाषा काव्य में तुलसी का सिद्धान्त वही है जो अन्य रचनाओं में मिलता है।

विनयपत्रिक़ा में तुलसी ने स्तुतियों के क्रम में दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप से निदर्शन किया है—

ब्रह्म राम : राम सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वज्ञ और आनन्द निधान हैं—

1. सच्चित् व्यापकानंद परब्रह्म पद विग्रह व्यक्त लीलावतारी।
(वि० 43-1)

2. सच्चिदानंद आनंद कंदा करं बिस्व बिश्राय रामभिरामं।
(वि० 51.1)

3. नित्य निर्मम नित्यमुक्त निर्माण हरि ज्ञानधन सच्चिदानंद मूलै।
(वि० 53.6)

वे विश्व के कर्ता, पालक एवं संहारक हैं। ब्रह्मा-विष्णु-शिव उन्ही की शक्ति के प्रतीक हैं और उन्हीं की शक्ति से शक्तिमान हैं—

1. बिस्वधृत विस्वहित अजित गौतीत सिव विस्व पालन
हरन बिस्वकर्ता।
(वि० 61.8)

2. सर्वंरक्षक सर्वंभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढ़ार्चि भक्तानुकूलं।
(वि० 53.8)

तुलसी ने राम को निर्गुण और सगुण दोनों माना है—

अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन एगुन ब्रह्म सुमिरामि नर भूप रूपं।
(वि० 50.8)

ब्रह्मरामदेबों तथा सज्जनों की रक्षा, पृथ्वी के भार-हरण, धर्मसंस्थापन एवं भक्तों के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के अवतार धारण करते हैं—

जब जब जग जाल ब्याकुल करम काल सब रबल भूप भये।
भूतल भरन।
तब तब तनु धरि भूमि भार दूरि करि थापे मुनि सुर साधु
आश्रय बरन।
(वि० 248.2)

इसी प्रकार माया, जगत और जीव के सम्बन्ध में भी तुलसी ने अपने विचार दिए हैं। जीव को वे राम का अंश मानते हैं परन्तु राम की भांति सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और सर्व व्यापी नहीं। राम सर्व रूप सर्ववासी, जीव की गति-प्रगति के संचालक, स्वतंत्र, ईश और मायापति हैं, जीव एक देहवासी, राम के अधीन, परतंत्र, ग्रंथिवद्ध एवं मायावश है—

सर्वमेवात्र त्वद्रूपभूपालमणि। व्यक्तमव्यक्त, गतभेद, विष्णौ।
भुवन भवदंग कामारि-वंदित, पदद्वंद्व मंदाकिनी-जनक जिष्णों।
(वि० 54.3)

उरग नायक-शयन, तरुण पंकज-नयन, छीर सागर-अयन, सर्ववासी ।।
—(वि० 55.7)

आचार्य कुन्तक ने नैतिक व्यापारों के अन्तर्गत धर्मादि सिद्धि (धर्म अर्थ काम मोक्ष) के लिए किए गए कामों, प्रयासों का सन्निविष्ट किया है । मोक्ष साधन के लिए तुलसी ने ज्ञान और भक्ति को आवश्यक बतलाया है । वे कहते हैं कि विवेक और भक्ति के बिना जीव का निस्तार नहीं हो सकता—

बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न कोई ।
(वि० 115.5)

विवेक और भक्ति के लिए करुणामय भगवान की कृपा अनिवार्य है—

1. तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिलम विवेक होई ।
(वि० 115.5)

2. बिनु सतसंग भगति नहिं होई । ते तब मिले द्रवै जब सौई ।
(वि० 136.10)

मौक्ष शास्त्रियों ने भव-नाश के अनेक साधन बतालये हैं—यज्ञ, वैराग्य, योग, ज्ञान आदि । उपयोगी होने पर भी वे सुकर और अमोघ नहीं हैं—

जप तप तीरथ जोग समाधी । कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी ।।
—(वि० 128.2)

तुलसीदास मानते हैं कि ये सब साधन झूठे नहीं है, किन्तु रामभक्ति और रामकृपा ही अमोध उपाय हैं—

ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठे कछु नाहीं ।
तुलसिदास हरिकृपा मिटे भ्रम यह भरोस मन माहीं ।।
(वि० 116.5)

मुक्ति साधनों के सामान्यतः तीन बर्ग किये गये हैं, कर्म, ज्ञान और भक्ति । कर्म के लिए ज्ञान आवश्यक है, अज्ञानप्रेरित कर्म उल्टे बंधन कारक होता है—

जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यौ ।
होइ न बिमल बिवेक नीर बिनु बेद पुरान बरवान्यो ।।
(वि० 88.3)

पापों का कारण मन की मलिनता है, और सभी प्रकार के मतों का मूल कारण अभक्ति है । कर्म और ज्ञान के द्वारा चित-शूद्धि होती है, किन्तु वे मल का आत्यंतिक नाश करने में असमर्थ हैं । उसका रामबाणउपाय रामभक्ति है—

सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये ।

तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावे।
राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावे ।।

(वि० 82.3-4)

तुलसीदास जी की मान्यता है कि जिसने जीव को मोह शृंखला में बांधा है, वही मुक्त कर सकता है—

1. तुलसीदास येहि जीव मोहरजु जोई बांध्यों सोइ छोरे

(वि० 102.5)

2. तुलसीदास प्रभु मोह सृंखला जुटिहि तुम्हारे छोरे।

(वि० 114.5)

तुलसिदास न विनय पत्रिका के विभिन्न पदों में प्रेमरूपा भक्ति के विविध साधनों का उल्लेख किया है। उनके छः मुख्य वर्ग किये जा सकते हैं, कृपा, सज्जन धर्म, राम से रागात्मक सम्बन्ध, विषय-वैराग्य, ज्ञान और नवधा भक्ति। संतों, द्विजों देवों गुरु और भगवान की कृपा आवश्यक है—

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पाइये।

(वि० 136.12)

पुरुषकार रूपा सीता की कृपा का विशेष महत्व है, क्योंकि वे राम की प्रिया हैं। इसीलिए तुलसी ने उनसे साग्रह निवेदन किया है—

1. कधहुंक अंक अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि पाइ बी, कछु करून कथा चलाई।

(वि० 41.1)

2. कबहुं समय सुधि द्याहबी मेरी मातु जानकी।

(वि० 42.1)

रागात्मक बृत्तियों के उदात्तीकरण का श्रेयस्कर उपाय यह कि सभी भौतिक सम्बन्धों का भगवान पर आरोप कर दिया जाए। तुलसी ने राम के प्रति उन सभी सम्बन्धों की कल्पना की है जो उसे वांछनीय लगे हैं—

1. सखा न सुसेवक न सुतिय न प्रभु आप
माय बाप तुही सांचों तुलसौं कहत।

(वि० 256.3)

2. वहुत नात रघुनाथ तोहि मोहि अब न तजे बनि आवै।
जनक जननि गुरु बंधु सहृद पति सब प्रकार हितकारी।

(वि० 113.3-4)

3. तात मात गुरु सखा तू सल विधि हितु मेरौ।

(वि० 73.3)

तुलसी ने विषय-लोलुप मन के प्रसंग में वैराग्य की चर्चा बार-बार की है।[1] विनयपत्रिका में विनय की भी सात भूमिका बतलायी गई हैं, दीनता, मानमर्षता भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा।[2] निम्नलिखित पद में विरति'विवेक और नवधा भक्ति के विशिष्टि रूपों का सारगर्भित निर्देश किया गया है—

> जो मन मज्यो चहे हरि सुर तरु।
> तौ तज विषय विकार सार मज अजहूं जौ में कहौं सौइ करु।।
> सम संतोष बिचार विमल अति सतसंगति ये चारि दृढ़ करि धरू।
> काम क्रोध अरु लौभ मोह मद राग द्वैष निसेष करि परिहरु।।
> श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
> नयननि निरसि कृपा समुद्र हरि अग जग रूप भूप सीता बरु।।
> इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितौषन यह सुभ ब्रत आचरु।
> तुलसिदास सिदमत मारग यहि चलन सदा सपनेहुं नाहिन डरु।।
> (वि० 205)

सत्संग से विषय-वैराग्य, उससे शम (मानसिक शांति), उससे संतोष, उससे ज्ञान, उससे मनोविकारों का अत्यंताभाव, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन आदि नवधा भक्तियों का उन्मेष, उससे सर्वात्मभाव, और तब अविरल हरिभक्ति का उदय होता है।

तुलसी प्रपत्ति को अलग से मोक्ष साधन नहीं मानते। उनकी भक्ति स्वयं प्रपत्यात्मक है। डॉ० उदयभानुसिंह के अनुसार, उन्होंने भागवत पुराण और अध्यात्म रामायण दोनों की नवधा भक्तियों के विभिन्न रूपों का विनयपत्रिका में स्थान-स्थान पर निरूपण किया है। 'भागवत' की नवधा भक्ति के अन्तर्गत जिसे आत्म निवेदन कहा गया है, वही पांचरात्र आगम और विशिष्टाद्वैत आदि में सिद्धान्ततः प्रतिपादित शरणागति अथवा प्रपत्ति है। वह एक मानसिक स्थिति है जिसमें अपने को अतिदीन एवं निराश्रित समझने वाला भक्त सर्वतोभावेन अपने सर्वस्व को भगवान के प्रति महाविश्वासपूर्वक समर्पित कर देता है। इनका मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है कि भगवान को आत्मसमर्पण कर देने के बाद भक्त चिन्ता-मुक्त हो जाता है। वह निर्लिप्त रहकर कर्म करता है, सफलता से इतराता नहीं है, असफलता पर कुण्ठा का शिकार नहीं होता। यह चित्त मुक्ति ही मुक्ति है।[3]

---

1. तुलसीदर्शन मीमांसा, पृ० 258
2. तुलसी के भक्तयात्मक गीत, पृ० 175
3. तुलसी काव्य मीमांसा, पृ० 459

कवितावली में भी तुलसी ने राम को निर्गुण-सगुण रूप दोनों प्रकार का माना है निर्गुण रूप की अपेक्षा उनका सगुण रूप अधिक श्रेयस्कर है—

1. अंतरजामिहुतें बड़े बाहेर जामि हैं रामुजे नाम लिये तें।
पैज परै प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें।।
(क० 7.129)

2. प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब ते सब पाहन पूजन लागे।
(क० 7.128)

वे विश्व के रचयिता, पालक और संहारक हैं, सर्वशक्तिमान एवं सभी शक्तियों के मूल स्रोत हैं, करुणानिधान, सज्जनरंजन, पापनाशक, संकटमोचन, सेवक सुखदायक और प्रणतपालक हैं।

1. जो करता भरता हरता सुर साहेब साहेब दीन दुनी को।
(क० 7.146)

2. ईसन के ईस महाराजन के महाराज
दैवन के दैवदैव प्रानहु के प्रान हो।
कालहु के काल महाभूतन के महाभूत
कर्मंहू के करम निदान के निदान ही।
निगम को अगम सुगम तुलसी हू से को
एते मान सील सिंधु करुनानिधान हो।
महिमा अपार काहू बोल को न पारावार।
बड़ी सहिबी मैं नाथ बड़े सावधान हो।। (क० 7.126)

राम धर्म-संस्थापन, लोक मंगल और भूमि-भार-हरण के लिए अवतार लेते हैं—

धर्म के सेतु जगमंगल के हेतु भूमिभार हरिबै को अवतार लियो नर को। (क० 7.122)

राम से भिन्न प्रतीयमान जगत का दृश्यमान रूप मिथ्या है—

झूठो है झूठो है झूठो सदा जगु संत कहंत जे अंत लहा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत कहा है।।
(क० 7.39)

अज्ञान और अभक्ति के कारण विषयों में फंसा हुआ जीवन असंख्य कष्ट झेलता है। (क० 7.30-32, 39) दुःख निवृत्ति के अनेक साधन बतलाये गये हैं: धर्म-कर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान, भक्ति आदि। भगवान राम तुलसी के लिए सर्वस्व

है। अज्ञान के अन्धकार को मिटाने के लिए भी राम को प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है—

तुलसी मिटै न मोह तम, किएं कोटि गुन ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं, विनु रवि-कुल रवि राम॥ (वै॰2)

राम को वे निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में मानते हैं, पर सगुण रूप को वरीयता देते हैं—

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप-गुन-रहित जो।
माया पति सोइ राम, दास हेतु नर-तनु धरेउ॥ (वै॰ 4)

तुलसी यह मानते हैं मनुष्य जीवन कष्टमय है, उसे छुटकारा राम ही दिला सकते हैं—

तुलसी यह तनु तवा है तपत सदा त्रैताप।
सांति होइ जब सांति पद, पावै राम प्रताप॥ (वै॰ 6)

तुलसी यह मानते हैं कि जैसा करोगे वैसा भरोगे —

तुलसी यह तनु खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप-पुण्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान॥ (वै॰ 5)

तुलसी ने संतों के स्वभाव का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि।
तुलसी सरले संत जन, ताहि परी पहिचानि॥ (वै॰ 8)
तुलसी ऐसे कहूं कहूं, धन्य धरनि वह संत।
परकाजै परमारथी, प्रीति लिये निबहंत॥ (वै॰ 10)
कोमल बानी संत की, स्रवत अमृत भय आइ।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन ह्वोइ जाइ॥ (वै॰ 19)

शान्ति को तुलसी ने सर्वोत्कृष्ट सुख माना है—

सात दीप नवखण्ड लो, तीन लोक जग माहिं।
तुलसी सांति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं॥ (वै॰ 50)

तुलसी ने शान्ति को प्रखर माना है—

जद्यपि सीतल, सम सुखद, जग में जीवन प्रान।
तदपि सांति जल जनि गनो, पावक तेज प्रमान॥ (वै॰ 56)

तुलसीकृत 'दोहावली' में नैतिक व्यापार का वर्णन सर्वत्र हुआ है। काव्य की वस्तु नीति भी होती है, इस बात को सिद्ध करने के लिए सम्पूर्ण साहित्य में इससे श्रेष्ठतर उदाहरण मिलना असंभव है।

शिव और राम की एकता के लिए तुलसी कहते हैं—

संकर प्रिय मय द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुं बास।। (दो० 101)

तुलसी ने प्रार्थना को महत्त्व दिया है—

परमानन्द कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ।। (दो० 125)

सतसंग भजन को भी तुलसी ने करणीय माना है—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोहन भाग।
मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ।। (दो० 133)

तुलसीदास जी शिक्षा देते हैं कि प्रेम में प्रपंच बाधक है—

प्रेम सरीर प्रपंच रुज उपजी अधिक उपाधि।
तुलसी भली सुबैदई बेगि बांधिए व्याधि ।। (दो० 242)

अभिमान को उन्होंने सभी बन्धनों का मूल माना है—

हम हमार आचार बड़ भूरि भार धरि सीस।
हठि सठ पर बस परत जिमि कीर कोस कृमि कोस ।। (दो० 243)

तुलसीदास जी मानते हैं कि मनुष्य को गुणवान होना चाहिए। दूसरों का आदर-अनादर का कोई महत्त्व नहीं होता, गुणों का ही मूल्य होता है—

निज गुन घटत न नाग नग परखि परिहरत कोल।
तुलसी प्रभु भूषन किए गुंजा बढ़ै न मोल ।। (दो० 385)

सज्जनों को कवि ने स्वाभाविक रूप से पूजनीय माना है—

सठ सहि सांसति पति लहत सुजन कलेस न कायं।
गढ़ि गुढ़ि पाहन पूजिए गंडकि सिला सुभायं ।। (दो० 392)

तुलसी ने विपरीत बुद्धि को विनाश का लक्षण माना है—

राज करत बिनु काजहीं ठटहि जै कूट कुठाट।
तुलसी ते कुरुराज ज्यों जइहैं बारह बाट ।। (दो० 417)

तुलसी ने क्षमा का महत्त्व प्रतिपादित किया है—

क्षमा रोष के दोष गुन सुनि मनु मानहि सीख।
अविचल श्रीपति हरि भए भूसुर लहै न भीख ।। (दो० 427)

क्रोध की अपेक्षा प्रेम के द्वारा वश में करने को वे जीत मानते हैं—

बोल न मोटे मारिए मोटी रोटी मारु।
जीति सहस सम हारिबो जीते हारि निहारु ।। (दो० 429)

तुलसी का कहना है कि नीति का पालन करने वाले सभी के सहायक बन जाते हैं—

खग मृग मीत पुनीत किए बनहुं राम नयपाल।
कुमति बालि दसकंठ घर सुहृद बंधु कियो काल।। (दो० 442)

नीति के पालने वाले श्री रामचन्द्र जी ने वन में भी पशु-पक्षियों (जटायु आदि) और पशुओं (वानर-भालुओं) को अपना पवित्र (सच्चा) मित्र बना लिया; परन्तु वालि और रावण ने घर में ही अपने हितैषी भाइयों को (सुग्रीव और विभीषण) को अपना काल बना लिया।

तुलसी ने माना है कि अवसर चूकने से बड़ी हानि होती है—

लाभ समय को पालिबो हानि समय की चूक।
सदा बिचारहिं चारुपति सुदिन कुदिन दिन दूक।। (दो० 444)

अनुकूल समय आने पर काम बना लेना ही लाभ है और समय पर चूक जाना ही हानि है। इसलिए सुन्दर बुद्धि वाले लोग इस बात का सदा विचार किया करते हैं, क्योंकि अच्छा और बुरा समय दो ही दिन का होता है। (अतएव समय पर चूक जाना बुद्धिमानी नहीं है।) तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन का यह अवसर भगवद् भजन के लिए ही मिला है। इस समय जो चूक जायेगा—भगवान को नहीं भजेगा, उसे मनुष्य जीवन के परम लाभ से वांचित होकर बड़ी हानि सहनी पड़ेगी।)

तुलसी ने धीरज, धर्म, विवेक, सत्-साहित्य, साहस और सत्य का व्रत अथवा एकमात्र श्रीराम का भरोसा—इन्हीं को विपत्ति काल के मित्र माना है—

तुलसी असमय के सखा धीरज धरम बिबेक।
साहित साहस सत्यब्रत राम भरोसो एक।। (दो० 447)

परमार्थ प्राप्ति के तुलसी ने चार उपाय बताये हैं—

कै जूझिबो कै बूझिबो दान कि काय कलेस।
चारि चारु परलोक पथ जथा जोग उपदेस।। (दो० 451)

परलोक के लिए सुन्दर चार मार्ग हैं और (अधिकार भेद से) इनका यथायोग्य उपदेश किया गया है—

(वेदाध्ययनादि के द्वारा) ज्ञान अर्जन करना (ब्राह्मण के लिए), (सम्मुख समर में) युद्ध करना (क्षत्रिय के लिए), (व्यापार में धन कमाकर) दान देना (वैश्य के लिए) और शरीर से कष्ट सहकर सेवा करना (शूद्र के लिए)।

तुलसीदास कहते हैं कि धर्म का परित्याग किसी भी हालत में नहीं करना चाहिए—

सहि कुबोल सांसति सकल अंगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परि हरि अकहि करि गए सुजान ।। (दो० 466)

तुलसीदास जी कहते हैं कि बुरे वचनों को और सब प्रकार के कष्टों को सहलो तथा मिथ्या अपमान को भी अंगीकार कर लो, परन्तु धर्म को मत छोड़ो। श्रेष्ठ बुद्धिमान पुरुष ऐसा ही उपदेश और आचरण कर गए हैं।

दूसरे का हित ही करना चाहिए, अहित नहीं—

अनहित भय परहित किएं पर अनहित हित हानि।
तुलसी चारु बिचारु भल करिज काज सुनि जानि ।। (दो० 467)

किसी भी कार्य की सिद्धि में तुलसी ने पुरुषार्थ, प्रारवध और परमात्मा की कृपा की अवलम्वन माना है—

पुरुषारथ पूरब करम परमेस्वर परधान।
तुलसी पैरत सरित ज्यों सबहिं काज अनुमान ।। (दो० 468)

तुलसी ने नीति पथ पर चलने की आवश्यकता पर बल दिया है—

चलब नीति भंग राम पग नेह निबाहब नीक।
तुलसी पहिरिअ सो बसन जो न पखारें फीक ।। (दो० 469)

नीति पथ पर चलना और श्रीराम जी के चरणों में प्रेम का निबाहना (अटूट प्रेम करना) ही उत्तम है। तुलसीदास जी कहते हैं कि वस्त्र वही पहनना चाहिए, जिसका रंग धोने पर भी फीका न पड़े।

तुलसी ने नियम की अपेक्षा प्रेम की महत्ता को स्वीकार किया है—

बड़ि प्रतीति गठिबंध ते बड़ो जोग ते छेम।
बड़ो सुसेवक सांइ ते वड़ो नेम ते प्रेम ।। (दो० 473)

बाहरी ग्रन्थि-बन्धन की अपेक्षा विश्वास बड़ा है। योग से क्षेम बड़ा है। स्वामी की अपेक्षा श्रेष्ठ सेवक बड़ा है और नियमों से प्रेम बड़ा है।

तुलसी ने प्रतिष्ठा के विषय में यथार्थ का मौलिक उद्घाटन किया है—

मागि मधुकरी खात ते सोवत गौड़ पसारि।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी ताते बाढ़ी रारि ।। (दो० 494)

जब तक मधुकरी मांग कर खाते थे, तब तक पैर पसार कर (निश्चिन्त रूप से) सोते थे। परन्तु इधर यह पापमयी प्रतिष्ठा बढ़ गई, इसी से झगड़ा (झंझट) भी बढ़ गया। वस्तुतः प्रतिष्ठा प्राप्त करने, उसे बनाये रखने के लिए मनुष्य को तरह-तरह से मेहनत करनी पड़ती है।

तुलसी ने अंधविश्वास के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई है—

लही आंखि कब आंधरे बांझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ।। (दो० 496)

दुनिया बहराइच को दौड़ी जाती है, परन्तु कोई इस बात का पता नहीं लगाता कि वहां जाकर कब किस अंधे ने आंख पाई, कौन बांझ कब लड़का लेकर आयी और कब किस कोढ़ी ने कन्चन सी काया प्राप्त की ? बहराइच में सैयद सालार जंग मसऊद गाजी (गाज़ी मियां) की दरगाह है। वहां जेठ के महीने में हर साल मेला होता है। वहां लोग अंध विश्वास के कारण तरह-तरह की कामनाओं को लेकर जाते हैं। कहते हैं कि यह गाजी मियां महमूद गजनी का भानजा था। यह गाजी होने की इच्छा से अवध की ओर बढ़ आया था और श्रावस्ती के राजा सुहृददेव के हाथों मारा गया था।

तुलसीदास ने यह भी उपदेश दिया है कि राजा को कैसा होना चाहिए—

माली भानु किसान सम नीति निपुल नर पाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुं कबहुं कलिकाल।। (दो० 507)

माली, सूर्य और किसान के समान नीति में निपुण राजा इस कलियुग में प्रजा के सौभाग्य से कभी-कभी होंगे (सदा नहीं) माली मुरझाये हुए पौधों को सींचता है, बढ़े हुए जबरदस्तों को काट-छांट कर अलग कर देता है, झुके हुए (कमजोर) पौधों को लकड़ी का टेका देकर गिरने से बचा लेता है और फिर फ़ल-फूलों का संग्रह करता है। सूर्य किसी को भी प्रत्यक्ष में दुःख न देकर समुद्र और नदी से जल खींच लेता है, उसी को अमृत-सा बनाकर यथायोग बरसा देता है। किसान खेत तैयार करता है, खाद देता है, बीज बोता है, सींचता रक्षा करता है फिर फसल पकने पर काटता है।

राजा के लिए कवि कहता है—

मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुं एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।। (दो० 522)

तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रधान (राजा) को मुख के समान होना चाहिए, जो खाने-पीने के लिए तो एक ही है, परन्तु विवेक के साथ समस्त अंगों का पालन-पोषण करता है।

तुलसी ने इस प्रकार विभिन्न विषयों पर अवसरानुकूल नैतिक उपदेश दिये हैं। कामनीति के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण आदर्श है। वे प्रेम के आदर्शों के रूप को स्वीकार करते हैं। वे भक्त कवि हैं और स्त्री को भवसागर पार करने में बाधक मानते हैं। कामरति मोक्ष साधन में बाधक है। पुरुष की कामरति का एक-मात्र और विवशीकारक आलंबन नारी है—

1. कामक्रोध लोभादि मद प्रबल मोह के धारि।
तिन्ह महं अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥ (दो० 267)
2. दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥ (दो० 269)
3. काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे भवकूप॥ (दो० 270)
4. विकटतर वक्र क्षुरधार प्रमदा, तीव्र दर्प कंदर्प खर खड़गधारा।
धीर-गंभीर मन-पीर-कारक, तंत्र के वराका वय विगत सारा॥
(वि० 60.7)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी ने वस्तु के इस विशिष्ट भेद का भी अपने काव्य में अच्छी तरह वर्णन किया है।

वस्तु वर्णन के अन्तर्गत कुन्तक ने सहजा आहार्य दो भेद करके सौंदर्य शास्त्रीय प्रतिमान प्रस्तुत किए। सहजा के अन्तर्गत स्वाभाविक सौंदर्य तथा आहार्यों के अन्तर्गत अभिव्यंजना कौशल को आचार्य ने रखा। तुलसी के काव्य में सहजा सौंदर्य तो सर्वत्र बिखरा पड़ा ही है, व्युत्पत्ति जन्य काव्य सौंदर्य को प्रस्तुत करने में भी कवि ने कहीं कोई कमी नहीं आने दी। आहार्या के अन्तर्गत सम्पूर्ण अलंकार विधान को लिया जाता है और तुलसी इस विधा के सिद्ध हस्त कवि हैं। तत्पश्चात सहृदय की प्रतिक्रिया के आधार पर वस्तु के भेद किए गए—चेतन (प्रधान और गौण) तथा अचेतन। तुलसी के काव्य में इन सबके सुन्दर सरस, सौंदर्यपूर्ण उदाहरण उपलब्ध हैं। अन्त में नैतिक शास्त्र से सम्बन्धित उपदेश बहुल सूक्तियां तुलसी के सम्पूर्ण काव्य में यत्र-तत्र मणि राजी-सी बिखरी पड़ी हैं। उनका काव्य मोक्ष विषयक एक विशिष्ट प्रेरणा देता-सा प्रतीत होता है। तुलसीदास का ब्रजभाषा काव्य वस्तुवक्रता की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध काव्य है। कुन्तक प्रणीत वस्तु-वक्रता के सभी भेद-प्रभेदों के सुन्दर उदाहरण यहाँ पर उपलब्ध हैं। भावाभिव्यंजना का जो कौशल तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी का कर्मकौशल आद्यन्त प्रशंसनीय है।

8

प्रकरण वक्रता

प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता में आचार्य कुन्तक ने कथानक के संगठन और स्वरूप के विषय में विचार किया है। यद्यपि यह विवेचन गहन नहीं है पर यह मानना आवश्यक हो जाना है कि उन्होंने प्रबन्ध शिल्प की अनेक दिशाओं को उद्‌घाटित करने का सुष्ठु प्रयास किया है। उनकी यह मीमांसा कथानक-संगठन की मीमांसा है। उनका अध्ययन ठोस बुनियादी अध्ययन है। इसी कारण इसका लक्ष्य केवल प्रस्तुत विषय का विवेचन-विश्लेषण मात्र न करके अप्रस्तुत विषयों के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करना है। इस दृष्टि से हम उनके कार्य की गरिमा को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। वास्तव में इस मार्ग को प्रशस्त करने का श्रेय उन्हीं को दिया जाना चाहिए।

प्रबन्ध के एक देश अथवा कथा के एक प्रसंग को प्रकरण कहते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रकरण कथा की सबसे छोटी इकाई है। इन्हीं छोटी-छोटी इकाइयों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने से प्रबन्ध का निर्माण होता है। अर्थात् कथा एक प्रसंग प्रकरण है और उनके समुच्चय का नाम ही प्रबन्ध है। प्रकरण विशेष का सौंदर्य सम्पूर्ण प्रबन्ध को संगठन, शक्ति और दीप्ति प्रदान करता है। अतएव प्रबन्ध के एक देश की रमणीयता को ही प्रकरण वक्रता कहते हैं। प्रकरण को चमत्कृत, सरस या रोचक बनाने वाले अनेक प्रसंग होते हैं, जिनका चयन तथा परिपोषण रससिद्ध कवि के लिए आवश्यक है। एक देश अथवा एक अंग के सदोष होने पर अंगी को भी निर्दृष्ट नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकरण वक्रता का अपना विशिष्ट महत्व है और कोई भी प्रबन्धकार कवि उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है।

---

1. प्रबन्धस्यैकदेशानां : हि० व० जी०—4.15.1

प्रकरण-वक्रता प्रबन्ध-विधान का ही एक अंग है। प्रबन्ध-विधान के कई अंग होते हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, विचार तत्व, पद रचना आदि। अवश्य ही प्रबन्ध विधान के सभी अंगों पर विचार न कर कुन्तक ने केवल कथानक के संगठन पर ही विचार किया है। कथानक का संगठन ही वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि अरस्तू ने भी कहा है कि 'सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है घटनाओं का संगठन।'[1] कवि में आभ्यंतरिक सामंजस्य का सामर्थ्य किस कोटि का है, इसका पता घटनाओं के संगठन से ही लगता है। घटनाओं का संगठन ही प्रबन्ध को स्थापत्य प्रदान कर देना है। एक नवोदित कवि और एक प्रौढ़ कवि का अन्तर सबसे अधिक कथानक के संगठन अथवा घटनाओं के विन्यास में ही दीख पड़ता है। अरस्तू का कहना है कि "नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण की अन्वर्यता में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है।"[2]

अतः कथानक का संगठन ही प्रबन्ध शिल्प की रीढ़ है। इसके अभाव में प्रबन्धकार कवि का सारा कौशल बिखर जाता है। कथानक की अस्त-व्यस्तता और घटनाओं की विश्रृंखलता से प्रबन्ध उसी प्रकार विच्छुरित हो जाता है जिस प्रकार इस स्ततः जल के छींटे पड़ने से चित्र की रंग योजना। प्रकरण-वक्रता कथानक के इसी संगठन के अध्ययन का एक वैज्ञानिक प्रयास है।

प्रकरण वक्रता के भेद

भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना

कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के 9 उपभेदों का विवेचन-विश्लेषण किया है। यह विवेचन-विश्लेषण संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों को ध्यान में रखकर किया गया है। अतएव उन सभी भेदों को तुलसी की प्रबन्ध-मुक्तक काव्य रचनाओं में ढूंढ़ निकालना असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। उसमें पहली वक्रता है भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना। वस्तुतः प्रकरण का लक्ष्य घटनाओं का अंकन नहीं अपितु भावपूर्ण स्थितियों की उद्भावना होती है। काव्यों और विशेषकर प्रबन्ध काव्यों का लक्ष्य रसोद्बोध ही होता है। आधुनिक समीक्षा की भाषा में कह सकते हैं कि रागदीप्त कर देना ही प्रबन्ध कविताओं का मुख्य काम है। कुन्तक के शब्दों में——जहां अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभाय-

1. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृ० 20
2. वही, पृ० 21

मान कवियों की व्यावृति होती है, वहां और प्रारम्भ से ही निःशक रूप से उठने की इच्छा होने पर प्रकरण में वह कुछ अपूर्व वक्रता असीम रूप से प्रकाशित हो उठती है।[1]

कुन्तक की भाषा कुछ पुरानी है, पर वे इस प्रकरण वक्रता के द्वारा प्रबन्ध रचना के एक महत्त्वपूर्ण गुण की ओर संकेत कर रहे हैं। कविताओं में कवि का हृदय ही खुलता-खिलता है। इसी के खुलने-खिलने पर भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना संभव है। हृदयोल्लास ही जब शतधा होकर विकीर्ण हो उठता है, तब प्रबन्ध रचना विलक्षण मार्मिकता से मंडित हो उठती है। 'स्वाशयोल्लेख शालिनी' से कुन्तक का तात्पर्य यही है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जब प्रबन्ध काव्यों में मार्मिक स्थलों की पहचान का सिद्धान्त देते है, तब वे नई भाषा में वही पुरानी उद्‌भावना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार 'प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मार्मिक स्थलों को पहचान सका है या नही।[2] यहाँ मार्मिक स्थलों की पहचान में भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना को भी समाहित समझना चाहिए। इस भावुकता के अभाव में कथा का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है। कथा तो शुष्क रेगिस्तान है। उसमें सरसता का समावेश भावुकता की स्रोतस्विनी से ही होता है। भावुकता कथा को मार्मिक बनाती है, रंग देती है, उसे पूरी तरह जीवन्त बना डालती है। इसीलिए प्रत्येक श्रेष्ठ कवि भावपूर्ण स्थितियों की उद्‌भावना करता है। ये ही वे प्रकरण हैं जिन पर सहृदय का मन बार-बार लौट कर आता है।

भावुकता व्यापक जीवनानुभूति का भी दूसरा नाम है। प्रबन्धकार कवि विराटता में जीवन की उपलब्धि करता है। उसे जीवन का एक ही पक्ष देखते रहना पसन्द नहीं है। वह जीवन के क्षण-क्षण बदलने वाले परिदृश्य का भोक्ता और चितेरा होता है। अपनी भावना के प्रसार में वह उन वस्तुओं का भी भावन करता है, जिनका प्रत्यक्ष अनुभव उसे नहीं है। यानी दूसरे के अनुभव का मानसिक प्रत्यक्षीकरण उसकी विशेषता होती है। पूर्ण भावुक की यही पहचान है। श्री रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि, "पूर्ण भावुक वे ही हैं, जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के

---

1. यत्र नियन्त्रणोत्साह परिस्पन्दोपशोभिनी।
   व्यावृत्तिर्व्यवहतॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी।।
   अव्यामूला दनाशंक्यशमुत्थाने मनोरथे।
   कात्त्युन्मीलति निः सीमा सा प्रकरणे वक्रता।। हि० व० जी० 4.1.2
2. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० 70

सम्मुख अपनी शब्द शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।"[1] सर्वांगपूर्ण भावुकता की यही व्याख्या हो सकती है।

परानुभव के मानसिक प्रत्यक्षीकरण को भी समझ लेना आवश्यक है। यह जीवनानुभव से कटी हुई कोई चीज नहीं है। एक अनुभव दूसरे अनुभव के लिए सम्बुद्धि और बुद्धि के धरातल पर मार्ग तैयार करता है। जिसको जीवन का कोई अनुभव नहीं है, वह परानुभव का भावन नहीं कर सकता है। अतः दूसरे को अनुभव का मानसिक प्रत्यक्षीकरण तभी संभव होगा जब सामाजिक को व्यापक जीवनानुभव हो। जिस कवि में जीवनानुभूति जितनी बिस्तृत होगी, उस कवि में भावपूर्ण स्थितियों की उद्भावना की शक्ति उतनी ही अधिक होगी। जीवनानुभूति कवि का कच्चा माल है। नई समीक्षा में इसी को 'अनुभूति की प्रामाणिकता' कहते हैं।

अनुभूति की प्रामाणिकता से यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि दूसरे के अनुभव का मानसिक प्रत्यक्षीकरण इसके बाहर की वस्तु है। उससे तात्पर्य इतना ही है कि कवि कल्पना का महल किस नींव पर उठा रहा है, वह नींव काल्पनिक नहीं है। कविताओं की नींव जीवनानुभूति की होती है, किन्तु उस पर झरोखे, मेहराव कंगूरे बनाने का काम कल्पना करती है। आधारभित्ति अनुभूति है और चित्र कल्पनाजन्य है। कल्पना की आंख के द्वारा ही कवि दूसरे के हृदय की स्थिति को झांक आता है। अतएव जीवनानुभूति में जब कल्पना का योग हो जाता है, तब भावुकता की परिधि पूर्ण हो जाती है।

प० रामचन्द्र शुक्ल की सूक्ति है कि कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।[2] दूसरे शब्दों में हम इसे मानव स्थितियों का व्यापक भावन कह सकते हैं। प्रबन्ध कविताओं में इन्हीं मानव स्थितियों से सम्पर्क पाने की व्यापक भूमि रहती है। यहां जीवन का प्रत्येक फैलाव हमारे वर्णन की परिधि में आ सकता है। प्रबन्ध काव्य में भावुकता के विस्तार के लिए पूरा क्षेत्र मिलता है। कवि की सबलता भावुक स्थितियों के सुन्दर वर्णन में है। यदि कवि सचमुच का न होकर बना हुआ होता है, तो यहां उसकी दुर्बलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है।

शेक्सपियर की महिमा का बखान करते हुए दिनकर जी लिखते हैं—'एक ही शेक्सपियर ने आदमी के कितने रूपों का सफल प्रतिनिधित्व किया हैं, यह देख कर आश्चर्य होता है। युद्ध का वर्णन वे सेनापति की तरह करते हैं। अदालतों का

---

1. वही, पृ० 75
2. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० 74

दृश्य वे वकील की तरह लिखते हैं और राजा रानियों का हाल वे इस सफाई से लिखते हैं, मानो वे खुद कोई दरबारी सामन्त रहे हों। हेमलेट के स्वभाव का चित्रण उन्होंने उच्चकोटि के मनोविज्ञान वेत्ता की तरह किया है और राजा लियर की प्रक्षिप्तता, उन्होंने इस बारीकी और स्वाभाविकता से चित्रित की है, मानो वे खुद पागल रहे हों। बड़ों का वर्णन बड़प्पन के साथ और छोटों का उनके सहज लाघव के साथ करके उन्होंने यह बता दिया है कि मनुष्य की भावदशा का उन्हें पूर्ण ज्ञान था।[1] शेक्सपियर की इस वर्णन क्षमता से प्रभावित होकर दिनकर जी आगे लिखते हैं—"शेक्सपियर की इस सफलता से चमत्कृत होकर आलोचक उन रहस्यों का पता लगाना चाहते हैं, जिनके प्रयोग से शेक्सपियर ने यह कामयाबी हासिल की होगी। मगर असली रहस्य कभी उनके हाथ नहीं आयेगा।"[2] दिनकर जी ने शेक्सपियर की सबसे बड़ी शक्ति को ठीक पकड़ लिया है, किन्तु उसे परिभाषित करने में उन्हें कठिनाइ हुई। अतएव उन्होंने उसे रहस्य कह कर छोड़ दिया।

किन्तु, यह भाषा पं० रामचन्द्र शुक्ल के पास है वे उसे 'भाव प्रसार की शक्ति' कहते हैं। यह वही चीज है जिसमें शेक्सपियर की प्रतिद्वन्द्विता व्यास के सिवा और किसी कवि से नहीं हो सकती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी यह अति प्रसिद्ध उद्भावना 'रामचरित मानस' की समालोचना के प्रसंग में की है और रामायणी कथा की करुणा और शक्ति के सन्दर्भ में यह उद्भावना पूरी तरह सही है। किन्तु इस उद्भावना के सबसे बड़े कवि व्यास और शेक्सपियर हैं।

भाव प्रसार की शक्ति के अन्तर्गत भावों के विस्तार और तीव्रता दोनों को ग्रहीत किया जाता है। इसी को 'व्यापकता' और 'गहराई' नामों से भी अभिहित कर सकते हैं। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। भाव की ये ही दो विभाएँ हैं और इनसे भावचक्र की सम्पूर्ण परिधि का बोध हो जाता है।

कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के प्रथम भेद में इतनी दूर तक विचार नहीं किया है। उन्होने भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना को मुख्यतया पात्र-प्रवृत्ति के ही रूप में ग्रहण किया है। किन्तु इसे पात्र प्रवृत्ति तक सीमित करना ठीक नहीं होगा। यह एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य शास्त्रीय उद्भावना है, जिसका परीक्षण व्यापक मानव-स्थिति के प्रसार में होना चाहिए। वैसे तो कुन्तक के मन्तव्य का सही अर्थ भी यही है। आखिर पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष भी तो ऐसी ही भावपूर्ण स्थितियों में हुआ करता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रामकथा के मर्मस्पर्शी स्थलों में इन्हें रेखांकित

1. साहित्यमुखी, पृ० 53
2. वही, पृ० 54

किया है। राम का अयोध्या त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य ग्रहण, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा—ये ही तो वे स्थल हैं जहां राम और भरत के चरित्र को उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। अयोध्या त्याग और वन-गमन के समय राम के, चित्रकूट में राम और भरत के, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के और भरत की प्रतीक्षा में भरत के चरित्र को अनन्य असाधारण उत्कर्ष प्राप्त हुआ है।

रामचरितमानस तुलसीदास के प्रबन्ध काव्य का शीर्ष बिन्दु है और भावपूर्ण स्थितियों की उद्भावना की दृष्टि से भी यह समृद्ध काव्य है। पर हमारे विवेचन का विषय यह नहीं है। गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका और श्रीकृष्ण गीतावली यद्यपि मुक्तक काव्य हैं, पर प्रसिद्ध आख्यानों पर आधृत होने के कारण प्रसिद्ध आलोचकों ने इनमें प्रबन्ध तत्त्व खोजने का प्रयास किया है। भले ही ये प्रबन्ध काव्य नहीं हैं, पर इनमें प्रबन्ध काव्य के विरल तत्त्व विद्यमान अवश्य हैं। प्रकरण तो इन काव्यों के सुन्दर बन पड़े हैं। तुलसी अपने इष्ट राम के सौन्दर्य, शक्ति और शील से इतने अधिक प्रभावित थे कि जब वे रामचरित मानस में पूर्ण सांगोपांग वर्णन करने के पश्चात् भी सन्तुष्ट नहीं हुए, उनकी मेघा तृप्त नहीं हुई, उनके हृदय के भाव उमड़-उमड़ कर आते रहे तो उन्हें गीतावली और कवितावली के मुक्तक रचने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मार्मिक प्रसंगों का जितना सुन्दर वर्णन गीतावली में मिलता है, उतना वे रामचरितमानस में भी न कर सके थे। गीतावली में यों तो सम्पूर्ण रामकथा ही काव्य में पिरोई हुई है, किन्तु इसमें कथा का वैसा सुगठित और सुललित रूप नहीं है, जैसा मानस में है। मूलतः कवि का उद्देश्य उसे गीतात्मकता प्रदान करना था। कथा के अविच्छिन्न प्रवाह में राम के सौन्दर्य, उनके कारण उत्पन्न करुण स्थल और भक्ति भावना पर ही उनकी दृष्टि विशेष रूप से जमी है, अन्य स्थलों को कवि ने या तो वर्णन के अयोग्य समझ कर छोड़ ही दिया है, अथवा संकेत भर दे दिया है कुछ प्रसंगों का अवलोकन यहां पर अभीष्ट है—

> रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन।
> कहि न सकत कछु राम-प्रेम बस, पुलक गात भरे नीर नयन।।
> गुरु वसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने, जाने सेष-सयन।
> सौंपे सुत गहि पानि, पांय परि, भूसुर उर चले उमगि चयन।।
> तुलसी प्रभु जोहत पोहत चित, सौहत मोहत कोटि मयन।

---

1. गोस्वामी तुलसीदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 75

मधु-माधव-मूरति दोउ संग मानो दिनमनि गवन कियो उतर अयन ।।
(गी० 1.51.1-3)

मुनिवर विश्वामित्र के द्वारा राम और लक्ष्मण कोमांग लिए जाने पर दशरथ ठगे से रह गये। वे भगवान राम के प्रेमवश कुछ कह न सके। उनका शरीर रोमांचित हो गया तथा नेत्रों में जल भर आया। प्राणप्रिय पुत्र के बिछुड़ने का प्रसंग अति ही मार्मिक है। राजा दशरथ के वात्सल्य की प्रबलता यहां पर द्रष्टव्य है। तुलसी ने इस भावपूर्ण स्थिति की बड़ी ही सुन्दर मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है। राम और लक्ष्मण मुनिवर विश्वामित्र के साथ जनकपुर में प्रवेश करते हैं। उस समय के राम के सौन्दर्य वर्णन के अवसर से भी तुलसी चूके नहीं हैं। पुष्प-वाटिका में राम सीता के साक्षात्कार को भी कवि ने वर्णन करते समय संवृत करके मनोहारी बना दिया है।

राधो जू-श्री जानकी-लोचन मिलिबे को मोद
कहिबे को जोगुन, मैं वाहें सी बनाई हैं।
स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन तुलसी को तैसो,
तैसो मन भयो जाकी जै सिये सगाई हैं।। (गी० 1.71.4)

भगवान राम और सीता जी के दृष्टि मिलाप का जो आनन्द हुआ, वह कहने योग्य नहीं है, मैंने तो कुछ बातें सी बता दी हैं। उस समय भगवान राम, सीता सखी जन, लक्ष्मण जी और तुलसीदास—इनमें जिनका जैसा सम्बन्ध है, उनका वैसा ही चित्त हो गया। तुलसीदास का यह सुन्दर वर्णन अनुभव ही की व्यापकता का संकेत तो देता ही है, इस सौन्दर्य शास्त्रीय उद्भावना को भी पुष्ट करता है कि काव्य व्यापार को सामाजिक अपने भावों के अनुसार ग्रहण करके ही किसी स्थिति विशेष के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। साधारणकरण के सिद्धान्त के विरल बिन्दु को यहां खोजा जा सकता है। प्रथम मिलन, प्रथम दर्शन अपने में एक विशिष्ट मार्मिक प्रसंग है, जिसका अवरेखन तुलसी ने अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। ऐसे मार्मिक प्रसंग की पहचान तुलसी का व्यापक अनुभव वाला कवि ही कर सकता था। यद्यपि यह प्रबन्ध एक देश का, प्रकरण विशेष का सौन्दर्य है, पर यह सम्पूर्ण कथा विस्तार को आलोकित व प्रकाशित करने में समर्थ है। रंग-भूमि में राम के सौन्दर्य का वर्णन करने में कवि अघाता नहीं है—

नील पीत नीरज कनक मरकत घन
दामिनी बरन तनु, रूप के निचोर हैं।
सहज सलोने राम-लषन ललित नाम,
जैसे सुनै तैसेई कुंवर सिर मोर हैं।। (गी० 1.73.2)

तुलसी ने राम-सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन करने के अवसर खोज निकाले हैं। समस्त जनकपुर की जनता, आसपास से सीता स्वयंबर में भाग लेने आये राजाओं राजकुमारों की उपस्थिति में राम सौन्दर्य का वर्णन सहृदय को आह्लादित करने में समर्थ है। कुन्तक ने भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना को पात्र-चरित्रोत्कर्ष के लिए माना है। पर भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना सहृदय के चित्र को भी द्रवित करती है। राम और सीता का दुल्हा-दुल्हन के रूप में वर्णन एक अपूर्व चमत्कार की उत्पत्ति करता है—

दूलह राम, सीय दुलही री।
धन-दामिन बर धरन, हरन-मन सुंदरता नखसिखनि बही, री॥
ब्याह-विभूषन-वसन-विभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही, री।
जीवन-जनम-लाहु, लोचन फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री॥
(गी० 1.106.1-2)

सम्पूर्ण रामकथा में सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग हैं कि जिसे राजकुमार बनाया जा रहा हो, उसे बनवास दे दिया जाये तब उस पर और माता, पिता, पत्नी, बंधुओं, नगरजनों पर क्या बीतेगी? इसका वर्णन तुलसी ने बहुत ही सुन्दरता के साथ किया है और एक दो पदों में नहीं किया, बल्कि वे पद के बाद पद लिखते चले गए हैं। राम का निर्वासन राम कथा का जटिलतम प्रसंग है। तुलसी नेदशरथ के सौमनयपूर्ण परिवार में एक अप्रत्याशित कौने से दुर्भाग्य को उठता हुआ दिखाया है—

सुनत नगर आनंद बधावन, कैकेयी बिलखानी।
तुलसीदास देवमायावस कठिन कुटिलता ठानी॥
(गी० 2.1.4)

यह ऐसा प्रसंग है जिसके विषय में जानकर समस्त नगर शोकसागर में निमज्जित हो जाता है। इसी पीठिका पर कवि ने दशरथ, कौशल्या, नगर वासियों के शोक को अभिव्यक्ति प्रदान की है। पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं 'एक सुन्दर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मर्म-स्पर्शी ही दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्य का गोस्वामी जी ने मानस कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सर्वाधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करने वाला, उनकी प्रीति दया, और आत्म त्याग को सबसे अधिक स्पर्श करने वाला, उनकी प्रीति, दया और आत्म त्याग को सबसे अधिक

उभारने वाला होता है, यह बात समझ कर मार्ग में उन्होंने ग्राम वधुओं का सन्निवेश किया है।'[1]

सखि ! नींके के निरखि, कोऊ सुठि सुंदर बटौही।
मधुर मूरित मदन मोहन जोहन-जोग
बदन सोभासदन देखि हों मोही ॥
सांवरे-गोरे किसोर, सुर-मुनि-चित्त-चोर,
उभय-अंतर एक नारि सोही।
मानहुं बारिद.बिधु बीच ललित अति,
राजति तड़ित निज सहज बिछौही ॥

(गी० 2.19.1-2)

राम जानकी लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखकर ये ग्राम-वनिताएं स्नेह-शिथिल हो जाती हैं। राजा की निष्ठुरता और कैकेयी की कुचाल पर दुःखित होती हैं। सौन्दर्य के साक्षात्कार से अपने आप को भूल जाती हैं और उनकी वृत्तियां कोमल हो जाती हैं—

उर धीरजहि धरिः, जनम सफल करि,
सुनाहि सुमुखि ! जनि विकल होही।
को जाने, कोने सुकृत लह्यो है लोचन लाहु,
ताहितें वारहि बार कहित तोही ॥
सखिहि सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई अपनी औही।
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी,
कौन जाने, कहां तें आई, कौन की को ही ॥

(गी० 2.19.9 3-4)

सुखी को सुशिक्षा देकर स्वयं प्रेम में डूबना, सुध बुध खो बैठना, पत्थरवत हो जाना ये सब संवेदन की चरम सीमाएं हैं। तुलसी सदृश स्वानुभव एवं परानुभव का साक्षात्कार करने वाला मर्मज्ञ कवि ही इतने सुन्दर भावनापूर्ण स्थलों की उद्भावना करने में समर्थ हो सकता है। राम जानकी के अयोध्या से निकलने के दृश्य का वर्णन करने में गोस्वामी जी ने कुछ भी उठाकर नहीं रखा। अयोध्या में उमड़ती शोक की सरिता का भावना-विभोर वर्णन करने में वे पूर्णतः सक्षम हैं—

---

1. गोस्वामी तुलसीदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 75

प्राणनाथ के साथ चली उठि, अवध सोकसरि उमगि वही है।
तुलसी सुनी न कबहुं काहु कहुं, तनु परिहरि परिछांहि रही है ।।
(गी० 2.9.3)

वन-मार्ग में सीता के प्रेम भरे वचनों को सुनकर धैर्यशाली का भी हृदय भर आया—

तुलसिदास प्रभु प्रिया वचन सुनि नीरज नयन नीर आए पूरि।
कानन कहां अबहिं सुनु सुंदरि, रघुपति फिरि चितए हिन भूरि ।।
(गी० 2.13.3)

प्रभु का रूप लावण्य देखकर मानव ही नहीं, अपितु पशु पक्षी भी भाव-विभोर हैं :—

अवनि कुरंग, बिहंग द्रम-डारन रूप निहारत पलक न फेरत।
मगन न डरत निरखि कर-कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत ।।
अवलोकत मग-लोग चहूं दिसि मनहु चकोर चन्द्रमहि धेरत।
ते जन भूरि भाग भूतल पर तुलसी राम-पथिक पद जे रत ।।
(गी० 2.14.2-3)

चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, एक अति भावुकतापूर्ण प्रसंग है। यह केवल दो भाइयों का ही मिलन नहीं है बल्कि यह शील, स्नेह और नीति के दो अवतारों का मिलन है। भरत की प्रार्थना, राम का स्नेह, ऐसे स्थल हैं जो भाव-विभोर कर देते हैं—

बहुरो भरत कह्यो कचु चाहैं।
सकुच-सिंधु बोहित विवेक करि बुधि-बल निबाहें ।।
छोटे हुते छोह करि आए, में सामुहें न हेरो।
एकहि बार आजु बिधि मेरो सील-सनेह निदेरो ।।
तुलसी जो फिरियो न बने, प्रभु ! तो हों आयुस पावों।
घर के फेरिए लषन, लरिका हैं, नाथ साथ हों आवों ।।
(गी० 2.73.1-3)

भरत की अपनी बात कहने में कठिनाई और राम के साथ चलने की उसकी प्रार्थना का तुलसी ने सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। जब भरत चित्रकूट से प्रस्थान करते हैं, तब उनके विगोग का प्रभाव पत्थर पर भी पड़ता है—

चित्रकूट तेहि समय सबनि की बुद्धि विषाद हुई है।
तुलसी राम भरत के बिछुरत सिला सप्रेम भई है ।।
(गी० 2.78.4)

उस समय चित्रकूट में सभी की बुद्धि विषादग्रस्त हो गयी। तुलसीदास जी कहते हैं, तब राम और भरत का वियोग होते देख वहां की शिला भी प्रेमवश (द्रवीभूत) हो गयी। राम के वियोग में उसके घोड़े भी दुःखी हैं—

आली ! हों इन्हहिं बुझावों कैसे ?
लेत हिये भरि भरि पति को हित, मातु हेतु सुत जैसे ।।
बार-बार हिहिनात हेरि उत, जो बोले कोउ द्वारे।
अंग लगाई लिए बारे तें करुनामय सुत प्यारे ।।
लोचन सजल, सदा सोवत-से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आए ।।
तुलसी प्रभु के विरह अधिक हठि राजहेस-से जौरे।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम-लखन के धौरे ।।
(गी० 2.87.1-4)

अयोध्यावासियों की भाव विह्वलता का एक और चित्र द्रष्टव्य है—

काहू सौं काहू समाचार ऐसे पाए।
चित्रकुट तें राम-लषन-सिय सुनियत अनत सिधाए ।।
सेल सरित निरझर, बन, मुनि-थल देखि-देखि सब आए।
कहत सुनत सुमिरत सुखदायक, मानव-सुगम सुहाए ।।
बड़ि अवलव बाम-बिधि बिघटित बिषम बिषाद बढ़ाए।
सिरिस-सुमन-सुकुमार मनोहर बालक विध्य चढ़ाए।
अवध सकल नर-नारि बिकल अति, अकनि बचन अनभाए।
तुलसी राम-वियोग-सोग-वस, समुझत नहि समुझाए ।।
(गी० 2.88.1-4)

वन-बिहार के समय राम के शील सौन्दर्य का प्रभाव पशु-पक्षियों पर भी दृष्टव्य हैं—

देखे राम-प्रथिक नाचत मुदित मोर।
मानत मनहु सतड़ित ललित धन, धनु सुरधनु, गरजनि टंकोर ।।
कंपे कलाप बर बरहि फ़िरावत, गावत कल कोकिल-किसोर।
जहं जहं प्रभु निचरत, तहं तहं सुख, दंडक बन कौतुक न थोर ।।
सघन छांह-तम रुचिर रजनि भ्रम, उदन-चंद चितवत चकोर।
तुलसी मुनि लग-मृगनि सराहत, भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ।।
(गी० 3.1)

वन-मार्ग में जानकी की आतुरता सहृदय को आह्लादित कर देती है—

पुर तें निकसी रघु बीर बधू, धींर-धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वे।
फिर बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहों कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियां अति चारु चली जल च्वै।।

(क० 2.11)

भगवान राम का भी हृदय सीता कीं इस दशा को देखकर द्रवित हो उठा है। मार्ग के नर नारी श्रीराम, लल्मण और सीता को देखकर इस प्रकार बातें करते हैं—

जलज नयन, जलजानन, जटा है सिर,
जोबन-उभंग अंग उदित उदार हैं।
साँवरे-गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी-सी,
मुनि पट धारें, उर फूलनि के हार हैं।
करनि सरासन-सिलीभूख, निषंग कटि,
अति ही अनूप काहू भूप के कुमार हैं।
तुलसी बिलोकि के त्रिलोक के तिलक तीनि,
रहे नर नारि ज्यों चितेरे चित्र सार हैं।

(क० 2.14)

नर नारियों का स्तब्ध रह जाना, भावों को संवेद्यता प्रदान करता है। उन तीनों के सौन्दर्य को देखकर सभी जन अभिभूत हो जाते हैं—

साथ निसिनाय मुखी पाथनाथ नंदिनी-सी,
तुलसी विलौकें चितु लाइ लेत संग हैं।
आनंद उमंग मन, जीवन-उमंग तन,
रूप कीं उमंग उमगत अंग-अंग है।। (क० 2.15)

सभी नर नारियों का मन उन्हीं के साथ चला जाता है। भावाभिव्यंजना का यह अति समृद्ध उदाहरण है।

पं रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—'उस पुण्य समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्म ज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूट की उस सभा की कार्यवाही क्या थी, धर्म के एक एक अंग की

पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरित मानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी।'[1] जो बात शुक्ल जी ने मानस के संदर्भ में कही है, वही बात गीतावली के संदर्भ में भी सही है। गीतावली में तुलसी ने अति तन्मयता के साथ इस चित्र को प्रस्तुत किया है।

भरत आत्मग्लानि से पीड़ित हैं। वे रह रहकर सोचते हैं कि वे अपनी सफाई भी दें फिर भी निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकते—

जो पे हों मातु मते महं ह्वै हों।
तो जननी जग में या मुख की कहां कालिमा ध्वैहों?
क्यों हों आजु होत सुचि समर्थनि? कोन मानिहें सांची?
महिमा मृगी कौन सुकृती को खल बच बिसिषन बांची?
गहि न जाति रसन कांहू की, कहो जाहि जोइ सूझे।
दीन बंधु करुण्य सिंधु बिनु कौन हिये की बूझे।।
(गी० 2.62.1-3)

भरत की दशा अति करुण है। चित्रकूट के लिए प्रस्थान करने से पहले उन्होंने ये उद्गार माता कौशल्या के सम्मुख प्रकट किये थे। चित्रकूट में राम भरत को समझाते हैं—

तात! विचारो घों, हों क्यों आवों।
तुम्ह सुचि, सुहृद, सुजान सकल बिधि, बहुत कहा कहि कहि समुझावों।।
निज कर खाल खेंचि या तनु तें जो पितु पग पान ही करावों।
होउं न उरिन पिता दसरथ तें, कैसे ताके बचन मेटि पति पावों।।
तुलसिदास जाको सुजस तिहूं पुर, क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावों।
प्रभु-रुख निरख निरास भरत भए, जान्यो है सबहिं भांति विधि बावों।।
(गी० 2.72.1-3)

राम की धर्म निष्ठा, पितृ-भक्ति, कुल मर्यादा की रक्षा यहां पर दृष्टव्य है। राम आगे कहते हैं—

काहे को मानत हानि हिये हों?
प्रीति-नीति-गुण-सील-धरम कहं तुम अवलंब दिये हों।।

---

1. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० 142

तात । जात जानिबे न ए दिन, करि प्रमान पितु-बानी ।
ऐहों बेगि धरहु धीरज उर कठिन कालगति जानी ।।
तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें ।
मनहु सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें ।।
(गी० 2.75.1-3)

राम भरत को धैर्य धारण करने की सलाह देते हैं । वे मानते हैं कि भरत ने ही तो प्रीति, नीति, गुण, शील और धर्म सभी को सहारा दे रखा है । राम के द्वारा दी गई चरण-पादुकाओं को भरत ने सिर पर धारण किया है । ये सभी दृश्य हृदय-द्रावक हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ब्रजभाषा काव्य में हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति और मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्द शक्ति का परिचय विभिन्न मानव दशाओं के चित्रांकन में दिया है । तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में मानव प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ गोस्वामी जी का रागात्मक सामंजस्य दृष्ठव्य है । उनके काव्य में प्रफुल्लता, प्रणति हर्षणपुलक, आदर, घृणा, क्रोध, विस्मय, कुढ़न, करुणा, उल्लास, कृतज्ञता सभी कुछ तो प्राप्य है ।

तुलसी की भावात्मक सत्ता निस्सन्देह विस्तृत है । साथ ही उनके भावों में गहराई भी है । इसी गहराई और तीव्रता के कारण ही तो उनके ब्रजभाषा काव्य में भावों का पूर्ण उद्रेक संभव हो सका है । भावों के साधारण उद्‌गार से सब की तृप्ति नहीं हुआ करती । यह बात अवश्य है कि जो भाव सबसे अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यंजना सबसे अधिक गूढ़ और ठीक है । जो प्रेमभाव अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुंचा है, उन्होंने प्रकट किया है, वह अलोकिक है अविचल है और अनन्य है । वह घन और चातक का प्रेम है—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास ।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ।
(दो० 277)

दाम्पत्य प्रेम का दृश्य भी तुलसी ने बहुत सुन्दर ढंग से दिखाया है । नायिका-भेद वाले कवियों का सा या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का सा, लोक मर्यादा का उल्लंघन, उन्होंने नहीं किया । तुलसी का शृंगार चित्रण पूर्णत: मर्यादित है । अभिषेक के राम को बन गमन की आज्ञा मिलती है तो आनन्दोत्सव का सारा दृश्य करुण दृश्य में परिवर्तित हो जाता है । वन के क्लेश बताते हुए राम, सीता को घर रहने के लिए कहते हैं, पर सीता कहती है—

कृपानिधान सुजान प्रानपति. संग विपिन ह्वै आवोंगी।
गृहतें कोटि-गुनित सुख मारग चलत, साथ सचु पावोंगी।।
थाके चरनकमल चापोंगी, श्रम भए बाउ डोलावोंगी।
नयन-चकोरनि सुखमयंक-छवि सादर पान करावोंगी।।
जो हठि नाथ राखिहों भो कहं, तो संग प्रान पठावोंगी ?
तुलसिदास प्रभु बिनु जीवन रहि क्यों फिरि वदन देखावोंगी ? ।।
(गी० 2.6.1-3)

सीता को पति के साथ ही कष्टों में भी सुख प्राप्त होगा। वह उसकी हर प्रकार सेवा करना अपना धर्म समझती है और राम के सौन्दर्य से अभिभूत होती रहेगी। यदि राम ने उसे साथ न लिया तो वह अपने प्राण त्याग देगी। दाम्पत्य प्रेम की यह सुष्ठु अभिव्यक्ति तुलसी काव्य में सर्वत्र बिखरी पड़ी है।

बिरचित तहं परनसाल, अति बिचित्र लषनलाल,
निवसत जहं नित कृपालु राम-जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लव-दल रचित सयन,
घास परसपर पीयूस प्रेम-पान की।
(गी० 2.44.3)

तुलसी ने शृंगार के संचारी भाव व्रीढ़ा की व्यंजना के लिए बड़े उपयुक्त अवसर खोज निकाले हैं। वन के मार्ग में ग्रामीण में स्त्रियां राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं। इस अवसर पर सीता का वर्णन देखिए—

सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दे सैन, तिन्हें समुझाइ कछू, मुमुकाइ चली।।
तुलसी तेहि ओसर सौहें सबै अवलोकति लौचन लाहु अलीं।
अनुराग-तड़ाग में भानु-उदैं बिगसीं मनो मंजुल कंज कली।।
(क० 2.22)

अमृत से सने हुए सुन्दर वचनों को सुनकर जानकी जी जान गयी कि ये सब बड़ी चतुर हैं। अतः नेत्रों को तिरछा कर उन्हें सेन से ही समझाकर, मुस्करा कर चल दीं। तुलसीदास कहते हैं कि उस समय लोचन में लाभरूप श्री रामचन्द्र जी को देखती हुई वे सब सखियां ऐसी सुशोभित हो रही है, मानो सूर्य के उदय से प्रेम रूपी तालाब में कमलों की मनोहर कलियां खिल गयी हैं। (अर्थात् श्री रामचन्द्र रूपी सूर्य के उदय से प्रेम रूपी सरोवर में सखियों के नेत्र कमल कली के समान

विकसित हो गये।) सीता जी में शृंगारी चेष्टाओं का विधान बड़ी ही निपुणता के साथ किया गया है। बीच में उन स्त्रियों को डाल देने से परदा भी हो गया और स्वाभाविकता का समावेश भी हो गया। कुल वधू की इस अल्प व्यंजना में दाम्पत्य प्रेम का जो गौरव और माधुर्य है, किसी भी शंगारी कवि के उद्धत प्रेम प्रलाप में मिलना असंभव है।

जानकी हरण के पश्चात्, दग्ध वन प्रान्तर की दशा का चित्रण, तुलसी ने इतना सुन्दर किया है कि हृदय द्रवित हो उठता है—

आश्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले,
अलि-लग-मृग मानो कबुहुं न है।
मुनि न मुनिवधूटी, उजरी परन कुटी,
पंचवटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे।।
उठी न सलिल लिए, प्रेम मुदित हुए,
प्रिया न पुलिक प्रिय बचन कहे।
पल्लव-सालन हेरी, प्रान बल्लभा न टेरी,
विरह विथकि लखि सघन गहे।।
देखे रघुपति-गति विबुध बिकल अति,
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसों, तोलों है सोचु खरो सों,
सिय-समाचार प्रभु जोलों न लहे।।

(गी० 3.10)

विप्रलंभ, शोक, करुणा की व्यंजना के लिए तुलसी ने अति स्वाभाविक भावना पूर्ण एवं मार्मिक स्थलों की उद्भावना की है। दशरथ के मरण पर शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुंच जाता है। उस समय की अयोध्या की दक्षा के वर्णन में पाठकों को करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं। दशरथ मरते समय बहुत दुःखी हैं। उन्हें अपने कार्य पर ग्लानि हो रही है—

करत राउ मन मों अनुमान।
सोक-विकल, मुख बचन न आवें, बिछुरे कृपानिधान।।
राजदेन कहि बोल नारि-बस में जो कह्यो बन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान।।
ऐसे सुत के बिरह-अवधि लों जो राखों यह प्रान।
तो मिरि जाइ प्रीति की परमिति, अजस सुनों निजकान।।

राम गए अजहूं हो जीवत, समुझत हिय अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान।।
(गी० 2.59.1-4)

सभी नगरवासी भी इस दुःख में दुःखी है—

सुक सों गहवर हिये कहै सारो।
वीर कीर ! सिय-राम-लषन बिनु लागत जन अंधियारो।।
पापिनि चेरि, अयानि रानि, नृप हित अनहित न विचारो।
कुल गुरु-सचि व—साधु सोचुत, बिधि को न बसाइ उजारों ?
अवलोकेन चलत भरि लोचन, नगर कोलाहल भारों।
सुने न वचन करुना कर के, जब पुर-परिवार संभारों।।
भैया भरत भावने के, संग बन सब लोग सिघारो।
हम पंत पाइ पींजरनि तरसत अधिक अभाग हजारो।।
(गी० 2.66.1-4)

राम वनगमन से नर नारी के तो दुःखी हैं ही, पशुपक्षी भी अत्याधिक व्याकुल हैं। भरत जब राम से मिलने चले, उस समय भी ये पक्षी उनके साथ न जा सके तो इनकी व्याकुलता और भी अधिक बढ़ जाती है। यह भावाभिव्यंजना सहृदय को चमत्कृत कर देती है। सीता के वियोग में राम की भाव-विह्वल अवस्था का चित्रण करके तुलसी ने अभिव्यजना व्यापार को समृद्ध करने का स्तुत्य कार्य किया है—

भूषन बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे प्रिय के।।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उभगत, सील-स्नेह-सुगुण गन तिय के।
स्वामि-दसा लखि लखन सखा कपि, पिघले हैं आंच माठ मानो घिय के।।
(गी० 4.1.1-2)

सीता अति दुःखी मन से हनुमान से पूछती है—

कबहूं, कपि ! राघव आवहिंगें।
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगें।।
मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धानहिंगें।।
अंग अंग छावि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहं तहं छावहिंगे।।
विरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपा दृष्टि-जल पलुहावहिगे।
निज वियोग-दुख जानि दया निधि मधुर बचन कहि समुझावहिगें।।

लोकपाल, सुर, नाग, यनुज सब परे बंदि कब मुकतावहिंगे ?
रावनबध रघुनाथ—बिमल-जस नारदादि मुनिजन गावहिगें ।
यह अभिलाषा रेन-दिन मेरे, राज विभीषन कब पावहिगें ।
तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम, भेद बुद्धि कब बिसरावहिगें ?
(गी० 5.10.1-5)

सीता की दुःखकातरता की अभिव्यंजना रसोद्रेक करने में पूर्णतः समर्थ है। सीता के इस कथन में आगामी घटनाओं की सूचना भी मिलती है। विभीषण शरणागति के अबसर को भी तुलसी ने नूतन भाव व्यापारों की अभिव्यंजना के लिए तथा भगवान राम के गुणगान के लिए प्रयुक्त किया है—

अति भाग बिभीषन के भले ।
एक प्रनाम प्रसन्न राम भए, दुरित-दोष-दारिद दलै ।।
रावन-कुंभकरन बर मांगत सिव-बिरंचि वाचा छले ।
राम-दरस पायो अविचल पद, सुदिन सगुन नीके चले ।।
मिलनि बिलोकि स्वामि-सेवक की उकठे तरु फूले-फले ।
तुलसी सुनि सनमान बंधु को दसकंधर हंसि हिये जले ।।
(गी० 5.41.1-3)

राम और विभीषण के मिलन अवसर पर सूखे वृक्षों का भी फूलना-फलना आनन्दातिरेक की सृष्टि करता है।

तुलसी की रामकथा के अन्तर्गत एक बड़ा की प्रसिद्ध प्रसंग आता है जो भावपूर्ण स्थलों की उद्भावना के लिए एक नया आयाम खोल देता है। और वह प्रसंग है लक्ष्मण मूर्छा का। इस अवसर पर राम का करुण विलाप शोक की अति स्वाभाविक अभिव्यंजना का अप्रतिम प्रतिमान है। उसके प्रवाह में एक क्षण के लिए सारे नियम व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है। इसे कुछ लोग राम चरित कीं ग्लानि भी कहने का दुस्साहस कर सकते हैं। पर ऐसे प्रिय बंधु का शोक, जिसने एक क्षण के लिए भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिए सब बातों का विचार छुड़ा देने वाला न होता तो राम के हृदय की कोमलता के दर्शन न हो पाते। यह कोमलता और सहृदयता भक्तों का अवलम्बन है तथा सब प्रकार के नियमों से परे है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको ।
विपति बंटावन बंधु-बाहु बिनु करों भरोसो काको ।।
सुनु, सुग्रीव ! सांचेहु मो पर फेरयो बदन बिधाता ।
ऐसे समय समर संकट हों तज्यो लषन-सो भ्राता ।।

गिरि कानन जेहैं साखामृग, हों पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु बचन भालु-कपि सकल विकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, ओसर जानि प्रचारे॥
(गी० 6.7.1-4)

भाव विह्वलता की यह चरम सीमा है जब राम धैर्य खो बैठते हैं और आत्म-हत्या की बात सोच लेते हैं। इस विषम परिस्थिति में भी उन्हें विभीषण का ध्यान है। कवि ने भावपूर्ण स्थिति की वड़ी ही सुन्दर उद्भावना की है—

मानी मेघनाद सों प्रचारि भिरे भारीं भट,
आपने अपन पुरुषारथ न ढील की॥
घायल लखन लालु लखि बिलखाने रामु,
भई आस सिथिल जगन्निवास-ढील की॥
भाई को न मोहु, छोहु सीय को न तुलसीस,
कहैं 'मैं बिभीषन की कछु न सबील की'।
लाज बाँह बोले की, नेवाजे की संभार-सार,
साहेबु न राम से बलाइ लेउं सींल की॥ (क० 6.52)

तुलसी ने मन्दोदरी के मुख से रावण की भर्त्सना के अवसर को भी अपने हाथ से नहीं जाने दिया। यह प्रसंग बड़ा ही मार्मिक है और सहृदय को आह्लादित करता है—

रे नीच! मारी चु विचाइ, हति ताड़का,
भंजि सिचापु सुखु सबहि दीन्ह्यो।
सहस दसचारि खल सहित खर-दूषनहि,
पठे जमधाम, तें तउ न चीन्ह्यो॥
मैं जो कहो, कन्तो सुनु मन्तु भगवंत सों,
विमुख ह्वै बालि भलु कौन लीन्ह्यो।
बीस भुज, दससीस खीस गए तबहिं जब,
ईस के ईस सों बेरु कीन्ह्यो॥ (क० 6.18)

यहां पर सहृदय का पूर्ण तादात्म्य मन्दोदरी के साथ हो जाता है। अतः यह प्रसंग रसोद्रेक के द्वारा चित्र का द्रवित करने में पूर्णतः समर्थ है।

तुलसी के द्वारा भाव प्रवण प्रसंगों के उद्भावन की संख्या को गिनना एक कठिन कार्य है। गीतावली, कवितावली और कृष्ण गीतावली में ऐसे प्रसंग भरे पड़े हैं—

भोर जानकी जीवन जागे।
सूत-मागध प्रबीन, बेनु-बीना-धुनि द्वारे, गायक सरस राग रागे।।
स्यामल सलोने गात, आलस वस जंमात प्रिया प्रेम रस पागे।
उनींदे लोचन चारु, मुख-सुखमा-सिंगार हेरि हारे मार भूरि भागे।।
सहज सुहाई छवि, उपमा न लहैं कवि, मुदित विलोकन लागे।
तुलसीदास निसि बासर अनूप रूप रहत प्रेम अनुरागे।।
(गी० 7.2.1-3)

राजा राम के दाम्पत्य जीवन का, उनके सौंदर्य का अति ही मनोहारी चित्रण तुलसीदास ने प्रस्तुत किया है। तुलसीदास ने भगवान राम की नखसिख शोभा का भी अति ही मनोहारी रूप प्रस्तुत किया है। राम-हिंडोला और अयोध्या की रमणीयता के वर्णन भी बड़े ही मनोहारी बन पड़े हैं।

तुलसी रामचरितमानस में सीता-वावास के प्रसंग को बचा गये हैं, पर इसकी मार्मिक अभिव्यंजना के लोभ को वे संवरण न कर सके। उन्होंने गीतावली में इस प्रसंग को बड़े ही मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया है—

तो लों बलि आपुही कीबी बिनय समुझि सुधारि।।
जो लों हों सिखि लेउं बन रिषि-रीति बसि दिन चारि।
ताहसी कहि कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।।
बहुरि तिहि विधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि।
लषन लाल कृपाल। निपटहि डारिबी न बिसारि।।
पाजबी सब तापसनि ज्यों राजधरम बिचारि।
सुनत सीता-बचन मोचत सकल लोचन-बारि।।
वालमीकि न सके तुलसी सो सनेह संभारि।।
(गी० 7.29.1-4)

सब तपस्विनियों के समान पालन करते रहने का आग्रह बड़ा ही हृदय-द्रावक है। सीता के कष्ट को देखकर बाल्मीकि भी स्नेह-शिथिलित हो गए।

श्रीकृष्ण का वाक्-चातुर्य रसोद्रेक करने में पूर्णतः समर्थ हैं। ऐसे प्रसंगों की सुष्ठु अभिव्यंजना में तुलसी सिद्धहस्त हैं—

अबहिं उरह नो दे गई, बहुरो फिरि आई।
सुनु भैया तेरी सों करो, याको टेव लरन की;
सकुच बेंचि सी खाई।।
या ब्रज में लरिका घने, हों ही अन्याई।
मुंह लाएं मूंडहि चढी, अंतहुं अहिरिनि, तू सूधी करि पाई।।

सुनि सुत की अति चातुरी जसुमती मुसुकाई।
तुलसीदास ग्वालिनि ठगी, आयो न उतरू
कछु, कान्ह ठगौरी ताई ।। (कृ० 8)

कृष्ण का प्रभाव यहां पर दृष्टव्य है। बालकृष्ण की ये लीलाएं रसोद्रेक करके सहृदय को आह्लादित करती हैं। गोपी विरह का भी बहुत ही हृदय-द्रावक वर्णन तुलसीदास ने किया है—

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु,
इन नयनन की परतीति गई।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि,
ह्वै न गए सखि स्याम भई।।
रूप रसिक लालची कहावत,
सो करनी कछु तो न भई।
सोचेहुं कूर कुटिल सित मेचक,
वृथा मीन छबि छीन लई।।
अब काहें सोचत मोचत जल,
समय गएं चित सूल नई।
तुलसिदास जड़ भए आपहि तें,
जब पलकनि हठि दगा दई।। (कृ० 28)

विरह की दशा में गोपियों की भावनाओं को तुलसी ने मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है—

ससि तें सीतल मोको लागे भाई री ! तरनि !
याके उयं बरति अधिक अंग अंग दब,
वाके उयं मिटति रजनि जनित जरनि ।।
सब बिपरीत भए माधव बिनु,
हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसीदास स्यामसुंदर-बिरह की,
दुसह दसा सो भौ वें परति नहीं बरनि ।। (कृ० 30)

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना के अनेक मार्मिक स्थल खोजे जा सकते हैं। तुलसी एक भाव प्रवण कवि हैं। उनके जीवनोनुभवों और परानुभवों के साक्षात्कार की सीमा व्यापक और तीव्र है। वे भावाभिव्यंजना के सिद्धहस्त कवि हैं। तुलसो में अनुभूति की प्रामाणिकता है और उसके ऊपर कल्पना का सुन्दर योगदान है। उन्होंने अपने आपको विभिन्न परिस्थितियों में

डालकर काव्य रचना की है। राम कथा के अन्तर्गत उन्होंने मार्मिक प्रसंगों को चुनकर, उनके वर्णन में अपने हृदय को उडल कर दिया है। उनके भाव-प्रसार की शक्ति भी व्यापक एवं तीव्र है। जिन प्रसंगों को वे अपने महाकाव्य रामचरित मानस में प्रसार न दे पाये थे, उनका भी गीतावली, कवितावली, श्रीकृष्ण गीतावली और विनयपत्रिका में पूर्ण विस्तार के साथ वर्णन किया है। तुलसी साहित्य में इन भावप्रवण मार्मिक प्रसंगों की अभिव्यंजमा कवि मेघा प्रसूत काव्य कौशल है जो बरबस ही सहृदय को बांधे रख सकता है। तुलसी के काव्य में अनेक स्थलों पर इन मार्मिक प्रसंगों की अवतारणा हुई है। विभिन्न भावों, अनुभावों और संचारी भावों को रूपायित करने वाले स्थलों को तुलसी के इन गीति काव्यों में खोज निकालना असम्भव नहीं है।

2. उत्पाद्य लावण्य

उत्पाद्य लावण्य प्रकरण वक्रता का दूसरा नियामक है। ख्यात बृत्त में कल्पित कथांश का सन्निवेश ही उत्पाद्य लवण्य है। वस्तुतः कवि कर्म की दृष्टि से यह इतिहास अथवा पुराण में कवि कल्पना का योग है। कवि कर्म का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसमें कल्पना का योग नहीं होता है।

कुन्तक ने कथा में कल्पना के इस योग की बड़ी ही स्वच्छ मीमांसा की है। उनके अनुसार 'इतिहास में वर्णित कथा के वैचित्र्य के मार्ग में तनिक से कल्पना प्रसूत अंश के सौन्दर्य से कुछ और ही अपूर्व चमत्कार हो जाता है। उस तनिक से परिवर्तन से इतना सौन्दर्य काव्य में आ जाता है जिससे वह प्रकरण चरम सीमा को पहुंचते हुए रस से परिपूर्ण होकर सारे प्रबन्ध का प्राण सा प्रतीत होने लगता है'[1] वस्तुतः रसोद्रेक ही इस उत्पाद्य लावण्य का लक्ष्य है। कवि अथवा नाटककार रसोद्रेक का ध्यान रखते हुए, ख्यातबृत्त में या तो कुछ जोड़ देता है या कुछ परिवर्तन कर देता है।

प्रबन्ध काव्यों के क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण सौन्दर्य शास्त्रीय उद्भावना है। इसे पहली बार व्यवस्थित रूप से उपस्थित करने का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है। आनन्दवर्द्धन ने बतलाया है कि प्रबन्धगत रस के अभिव्यंजक पांच हेतुओं में पहला यह है कि ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल कथांशादि को छोड़कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण

---

1. इतिवृत्त प्रयुक्तेऽपि कथा वैचित्र्य वर्त्मनि।
   उत्पाद्य लवलावण्यादन्या भवति वक्रता ॥
   तथा, यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम्।
   भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढ़ रस निर्भरम् ॥—हि० व० जी० 4.3-4

किया जाता है।[1] कथा के इसी संस्कार को कुन्तक ने उत्पाद्य लावण्य से अभिहित किया है। यद्यपि यह संस्कार कवि की स्वेच्छा का परिणाम है, पर आनन्दवर्द्धन ने इसकी सीमाएं निर्धारित कर दी हैं। उनका कहना है कि कथाओं के आश्रय जो रामायणादि इतिहास हैं, उनके साथ रस-विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[2] आनन्दवर्द्धन की बात बिलकुल स्पष्ट है कि ख्यातवृत्ति में कल्पना के योग का उद्देश्य रसोचित्य की ही प्राप्ति है। उनके अनुसार प्रबन्ध काव्य के रसाभिव्यंजकत्व का यह भी कारण है कि ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त होने पर किसी प्रकार भी रस विरोधी कथांश को छोड़कर और बीच में कल्पना करके भी अभीष्ट रसोचित कथा का निर्माण करना चाहिए।[3] आनन्दवर्द्धन कालिदास आदि की रचनाओं से अपने मन्तव्य को उदाहृत करते हैं। उनका कहना है कि काव्य निर्माण करते समय कवि को पूर्णतः रस परतन्त्र बन जाना चाहिए।[4] इसलिए यदि इतिहास में रस के विपरीत स्थिति दिखे तो उसको तोड़कर स्वतन्त्र रूप से रस के अनुरूप दूसरी कथा बना ले।[5]

कथा तो वह खूंटी है जिस पर कवि अपनी कल्पना, भावना, विचार और चिन्तन के परिधान लटकाता है। अतः यह उपेक्षणीय नहीं है। साहित्य ठोस होता है। अतएव कथा की आवश्यकता सब दिन बनी रहेगी। लेकिन जैसाकि आनन्द वर्द्धन ने कहा है, इतिवृत्त के निर्वहण मात्र से कवि का कोई लाभ नहीं है : 'न हि कवेरितिवृत्त मात्र निर्वहणेन किञ्चत् प्रयोजनम्।[6] कवि को आत्मपद का लाभ तो रसोद्रेक से ही होता है, अतएव उत्पाद्य लावण्य का समग्र लक्ष्य रसोद्रेक ही है। इसके बिना वह व्यर्थ है। इसीलि कवि ख्यावृत्त में संस्कार करता हैं।

कुन्तक ने भी अन्तर श्लोक में कहा है—

निरन्तर रसोद्गार गर्भ संदर्भ निर्भराः।
गिर कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः।:[7]

---

1. इतिवृत्त वशायातां त्यक्त्वा नुनगुणां स्थितम्।
उत्प्रेक्ष्यान्तराभीष्ट—रसोचित—कथोन्नय॥—हिन्दी ध्वन्यालोक 3.11
2. सन्ति सिद्धरस प्रख्या येच रामायणादयः।
कथाश्रया न तेयोज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥ —वही, तृतीय उद्योग, पृ० 264
3. हिन्दी ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० 264
4. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रस परतन्त्रेण भवितव्यम्।
वही, पृ० 264
5. वही, पृ० 265
6. वही, पृ० 264
7. हि० व० जी०, पृ० 495

अर्थात् 'निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण महाकवि की वाणी केवल (इतिहास में प्रसिद्ध) कथामात्र के आश्रय से ही नहीं जीवित रहती है। वहां कवि कल्पना के संचरण की अनेक भूमियां उट खड़ी होती हैं।

कथा के इस संस्कार को अरस्तू ने कवि कर्म से जोड़ दिया है। उनका कहना है कि 'कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के अधीन सम्मत है उसका वर्णन करना है।'[1] यही सम्भाव्यता उत्पाद्य लावण्य की सृजन भूमि है। अरस्तू ने इतिहासकार और कवि के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है।[2] इसी सम्भावना का सूत्र पकड़ कर कवि कथा-संस्कार की ओर प्रवृत्त होता है। अतएव जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि यह आवश्यक नहीं कि हम, जैसे भी हो, परम्परागत दन्त कथाओं को ही ग्रहण करें—वैसे त्रासदी का आधार प्रायः ये ही होती हैं।···इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि कवि अर्थात् 'रचयिता' को पद्य की अपेक्षा कथानक का रचयिता होना चाहिए क्योंकि कवि वह इसलिए है कि अनुकरण करता है और जिसका अनुकरण करता है वह है कार्य। और यदि संयोग से वह कोई ऐतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले, तब भी उसका कवि रूप अक्षुण्ण रहता है—क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि कुछ घटनाएं जो वास्तव में घटी हैं, सम्भव और सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हों और उनके इसी गुण के नाते वह उनका कवि या श्रष्टा होता है।[3] कथानक के क्षेत्र में इस उत्पाद्य लावण्य के कारण कवि स्रष्टा के पद का आत्म लाभ होता है वह अपने रचना संसार को वैसा ही बना लेता है, जैसा उसको अच्छा लगता है।

काव्य में मुख्य है रस-सृष्टि। कवि रसोद्रेक के लिए ही ख्यातवृत्त का संस्कार करता है। ऐतिहासिक कथा में इस संस्कार के मनोविज्ञान की मीमांसा करते हुए रवि बाबू लिखते हैं—'यह बात नहीं है कि इस तरह की घटनाएं आद्यन्त कल्पना के द्वारा नहीं बनाई जा सकतीं, किन्तु जो स्वभावतः ही हमसे दूरस्थ है, जो हमारी अभिज्ञता से बाहर हैं, उसे किसी बहाने से यदि हम प्रकृत घटना के साथ मिला दें, तो लेखकों के लिए पाठकों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना सुगम हो जाता है। उसकी सृष्टि ही उद्देश्य है। अतएव उसको उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक उपकरणों की जिस मात्रा में आवश्यकता होती है, कवि लोग उतनी ले लेने में

---

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ॰ 26
2. वही, पृ॰ 26
3. वही, पृ॰ 27

किसी प्रकार का संकोच नहीं करते।'[1] इसका तात्पर्य यह है कि कवि इतिहास का उतना ही अंश ग्रहण करता है, जितना रस-सृष्टि में सहायक सिद्ध होता है। इतिहास का जो अंश रस विरोधी होता है, कवि उसका परित्याग कर देता है। उसका ग्रहण और त्याग रस-सापेक्ष होता है। रवीन्द्रनाथ आगे लिखते हैं : 'अर्थात् लेखक चाहे इतिहास को अखण्ड रखकर रचना करे या तोड़-फोड़ कर, यदि वे ऐतिहासिक रस की अवतरणा कर सकें तो उन्हें अपने उद्देश्य में कृतकार्य समझना चाहिए।[2] इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ख्यातवृत्त में पूर्ण परिवर्तन की सम्भावना पर भी विचार करते हैं। रस-सृष्टि की दृष्टि से विचार करते हुए उनका स्पष्ट मत है कि 'इसलिए यदि कोई रामचन्द्र को नीच और रावण को साधु के रूप में चित्रित करे, तो क्या कोई दोष न होगा? दोष होगा, किन्तु वह दोष इतिहास के पक्ष में नहीं होगा, काव्य के पक्ष में ही होगा। सर्वजनविदित सत्य को एकदम उलटा कर देने से रसभंग हो जाता है, मानो पाठकों के सिर पर एकदम लाठी पड़ जाती है। उसकी एक ही चोट से काव्य एकदम चित्त होकर गिर जाता हैं।[3]

(अ) अविद्यमान की कल्पना

उत्पाद्य लावन्य की व्याख्या कुन्तक ने दो तरह से की है। एक है अविद्यमान की कल्पना और दूसरा है विद्यामान का संशोधन। अविद्यमान की कल्पना के उदाहरण के रूप में उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुर्वासा के शाप को उपस्थित किया है। वस्तुतः नवीन प्रसंगों की उद्भावना काव्य की आन्तरिक विवशता के कारण ही होती है। नवीन प्रसंगों की अवतरणा कथानक के निर्माण की दृष्टि से कविप्रतिभा के संचरण का सबसे अच्छा क्षेत्र और प्रमाण है।

गीतावली के उत्तरकाण्ठ के अन्तिम गीत में तुलसी ने सम्पूर्ण रामकथा को इस प्रकार बांधा है—श्रीराम मनुष्य देह में अजन्मा परम ब्रह्म ही हैं। उदार राम ने सर्वप्रथम ताड़का का निपात किया और सुबाहु का वध करके यज्ञ निरत विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की। तत्पश्चात् शिला रूप शापित अहिल्या का उद्धार किया। जनकपुर में शिव के विशाल धनुष का भंग करके अभिमानी राजाओं के दर्प को भी भंग किया। सीता सहित अयोध्या को लौटते समय मार्ग में परशुराम का मान मर्दन किया। तदनन्तर पितृ आज्ञा शिरोधार्य करके राज्य का परित्याग किया और मुनिवेश धारण करके देव-कार्य के लिए चित्रकूट पर निवास किया। वहीं देवेश के पुत्र जयन्त को एक नेत्र वाला बनाया। उसी समय विराध राक्षस का वध करके

1. साहित्य, पृ० 104
2. वही, पृ० 105
3. वही, पृ० 105

ऋषियों के शोक को दूर किया। तत्पश्चात् पंचवटी में निवास करते समय लंकापति रावण की बहिन के कान, नाक का निपात किया और खर-दूषण को मार कर मारीच और जटायु को शुभगति प्रदान की। मार्ग में आगे चलते हुए कबंध का वध करके सुग्रीव से मित्रता की और ताड़ वृक्षों को एक बाण से बेध करके बाली का वध किया। तत्पश्चात् रीछ बानरों की सहायया से सेतु-बन्धन करके सुयश विस्तृत किया। फिर कुटम्ब सहित दशमुख रावण को मारकर देवताओं का दुःख दूर किया और साधु विभीषण को लंकापति बनाया। फिर सीता-लक्षमण और कुछ सेवकों को लेकर पुष्पक विमान द्वारा अयोध्यापुरी के निकट आये। अयोध्यावासी स्त्री-पुरुषों ने उनके दर्शन किए। उस समय चौदह लोकों के सम्पूर्ण चराचर प्राणी आनन्दित हुए। उसी अवसर पर शिव, ब्रह्मा तथा शुकदेव और नारदादि मुनिगण स्तुति करते हुए अयोध्यापुरी में पधारे। वसिष्ठ मुनि ने शास्त्र सम्मत विचार करके श्रीराम को राज्याभिषेक किया।

उक्त गीत में निवद्ध कथासार और गीतावली में वर्णित कथा में अन्तर है। कथासार में ताड़का, सुरबाहु, परशुराम, जयन्त, विराध, शूर्पणखा, खरदूषण, कबंध सुग्रीव मैत्री, ताल वेध, बालि-वध और रावण-वध का उल्लेख है, पर गीतावली की वर्णित कथा में इनका उल्लेख नहीं है। सीता निर्वासन और लवकुश चरित कथासार में उपेक्षित है जबकि गीतावली में उनकी व्यवस्था है। इसका कारण उत्पाद्य लावण्य हेतु कवि की दृष्टि मानी जा सकती है। गीतावली में तुलसी राम के शक्ति स्वरूप को इतना महत्व नहीं देते, जितना माधुर्य को देते है। साथ ही गीता की सीमा में कथात्मक अंशों का भली प्रकार निर्वाह नहीं हो पाता। इसी लिए कवि ने गीतावली में कोमल भाव-प्रधान प्रसंगों का ही चयन किया है और यही कारण है कि लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद, बालि-वध, लंकादहन, रावण-वध आदि रौद्र भाव सम्पन्न उत्तेजक अंशों की उपेक्षा हुई है तथा कौशल्या की विरह-वेदना, विभीषण-शरणागति आदि की सकुशल अवतारणा हुई है। रामभक्ति तुलसी सीता त्याग की बात इस पद में नहीं कह सके क्योंकि उन्हें राम राज्या-भिषेक के सुअवसर पर ही मुक्ति का दान मांगना था—'तुलसीदास जिस जानि सुअवसर भगति दान तब मांग लियो।' यद्यपि सीता-वनवास की व्यवस्था उत्तर-काण्ड में कर चुके हैं। गीतावली में कवि तुलसीदास ने सीता वनवास की घटना की उपेक्षा नहीं की है, जबकि भक्त तुलसी 'मानस' में उसे विलकुल भुला देते हैं। इस प्रकार गीतावलीकार कवि तुलसी की राम-कथा की परिधि मानसाकर भक्त तुलसी की राम-कथा की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

रामचरितमानस और गीतावली का कथानक कुछ इस प्रकार भिन्न है—मानस की भांति 'गीतावली' में परशुराम-सम्वाद का उल्लेख नहीं है। 'जानकी

मंगल' आदि रचनाओं में भी ऐसा ही है। अयोध्या-आगमन पर माता कौशल्या ही इतना संकेत कर देती हैं—

दुसह रोष मूरति भृगुपति अति नृपति निकट खयकारी।
क्यों सोप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी ।।

'मानस' में सीता निर्वासन और लव-कुश के बालचरित सम्बन्धी विभिन्न प्रसंगों का वर्णन नहीं है। गीतावली के ये दोनों प्रसंग उत्पाद्य लावण्य की दृष्टि से सुन्दर हैं। वैसे इन दोनों प्रसंगों तथा लव-कुश के द्वारा राम की सभा में रामायण-गान, सीता के अग्निप्रवेश का उल्लेख तुलसी ने रामाज्ञा प्रश्न (षष्ठ सर्ग, सप्तक 7) में किया है जो वाल्मीकि रामायण और आध्यात्म रामायण से प्रभावित हैं। कवितावली में 'तीय सिरोमनि सीय तजि, जेहि पावक की कलुषाई वही है।' (7.6) इसका संकेत मात्र है। वास्तव में गीतावली में सीता निर्वासन की कथा को व्यवस्था देने के लिए तुलसी के भक्ति परक हृदय ने अपने आराध्य के अरुचिकर चरित्र को प्रेषणीयता के लिए नवीन प्रसंग की उद्भावना की है। वह यह है कि राजा दशरथ की पुत्र-शोक में मृत्यु हुई थी और उनकी अवशिष्ट आयु का भोग श्रीराम को करना था। पत्नी के साथ रहते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस आयु का भोग कैसे कर सकते थे। इसलिए श्रीराम ने सीता का परित्याग किया। इस कारणोक्ति से तुलसी ने राम के ऊपर आरोपित लांछन को हटाने का प्रयास किया है।

गीतावली में अविद्यमान की कल्पना भी प्राप्य है। ये नवीन उद्भावनाएं प्रबन्ध गीत काव्य की भावप्रवणता के सहायक सिद्ध हुई हैं। ऐसे प्रसंग हैं—(1) मातृ चिन्ता—विश्वामित्र के साथ बनगमन के पश्चात् राम-लक्ष्मण का समाचार न मिलने पर सुमित्रा आदि रानियों की चिन्ता मातृ वत्सलता को प्रभावी बनाती है। देखिए—

जब तें ले मुनि संग सिधाए।
राम लषन के समाचार सखि, तबतें कछुअ न पाए ।।
(गी० 1.11.1)

यह प्रसंग मानस व अन्य रचनाओं में नहीं है। कवि की यह कल्पना रसोद्रेक में सहायक है। (2) कौशल्या की भाव-व्यथा—इसी प्रकार वियोग विधुरा कौशल्या की भाव-व्यथा की अभिव्यक्ति में नवीन प्रसंग होते हुए भी वात्सल्य व्यंजना की सिद्धि अपूर्व है। इसके लिए निम्न पद द्रष्टव्य हैं—

आजु को भोर, ओर सो, भाई। (गी० 2.51)
जननि निरखति बान-धनुहियां। (गी० 2.52)
भाई री! मोहि कोउ न समुझावे। (गी० 2.53)
जब जब भवन विलोकबि सूनो। (गी० 2.54)
मेरो अभिलाषु विधाता। (गी० 2.55)
हाथ मींजिबो हाथ रह्यो। (गी० 2.84)
कैकयी करी धौ चतुराई कौन? (गी० 2.83)
हों तो समुझि रही अपनी सी। (गी० 2.85)
आली हों इन्हहि बुझावों कैसे। (गी० 2.86)
राधौ। एक बार फिरि आवो। (गी० 2.88)
काहू सों काहू समाचार ऐसे पाए। (गी० 2.87)
आली अव राम लषन कित ह्वै हैं। (गी० 6.18)
बैठी सगुन मनावति माता। (गी० 6.19)
छेमकरी! बलि, बोलि सुबानी। (गी० 6.20)

उपरिलिखित सभी पद मार्मिक भाव-व्यंजना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और रसोद्रेक में पूर्णतः सक्षम हैं। इनमें कौशल्या के द्वारा किसी पथिक के माध्यम से राम के पास घोड़ों की करुण दशा का संदेश भेजना भी अविद्यमान की कल्पना ही है। (3) शुक-सारिका-सम्वाद—कथा की दृष्टि से शुक-सारिका-सम्वाद नवीन योजना है। इस सम्वाद योजना से आगे की सम्भावित घटना की सूचना देना कवि को अभिप्रेत है। इस सम्वाद के प्रथम पद 'सुक सों गहवर हिये कहै सारो।' (2.66) में अयोध्वासियों की राम वियोगजन्य अवस्था का तथा भरत के द्वारा चित्रकूट प्रस्थान की तैयारी का संकेत है। दूसरे पद 'कहे सुक, सुनहि सिखावन सारो।' (2.67) में कर्म या भाग्य की भर्त्सना करते हुए बताया है कि भरत चित्रकूट में जाकर श्रीराम की चरण पादुकाएं लायेंगे। (4) निषाद की पत्रिका-निषादराज की पत्रिका का प्रसंग भी सर्वथा नया है। 'सुनी में, सखि। मंगल चाह सुनाई' (2.89) पद निषादराज द्वारा भरत को भेजी गई पत्रिका का प्रसंग उद्भासित करता है। इससे अयोध्यावासियों को श्रीराम की 'पन्थ कथा' का विवरण मिलता है। भरत मिलन के पश्चात् निषादराज की पत्रिका के द्वारा तुलसी ने राम के वनवास समाचार से अयोध्यावासियों को अवगत कराया है। इसी पत्रिका के द्वारा विराध-वध का भी संकेत करा दिया गया। सहृदय अपने इष्ट के समाचार जानकर रससिक्त अनुभव करता है। (5) सीताहरण का कथन देवताओं द्वारा भावविह्वल राम को सीता-हरण की बात देवता लोग बताते हैं—

जबहि सिय-सुधि सब सुरनि सुनाई।
भए सुनि सजग, विरह सरि पेरत थके, चाह-सी पाई।।
(गी० 3.11.1)

भाव-विह्वल राम के प्रति देवताओं की सहानुभूति सहृदय को स्नेहसिक्त कर देती है। यह कल्पना भावाभिव्यंजना में सहायक हुई है। (6) राम के द्वारा जटायु के प्रति पितृ भावना और शबरी के प्रति मातृ भावना-तुलसी ने गीत 'कलेवर में जटायु की भावानुकूलता तथा शबरी की आतिथ्य भावना को तो बांधा ही है, साथ ही भक्ति-भावना से अधिक मातृ हृदय को शबरी के भावों में अभिव्यक्त करा के प्रसंग को मनोवैज्ञानिक एवं मार्मिक बना दिया है फलादि का संग्रह शबरी ने मातृ-भावना से ही किया है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंब हित सब आनके।
सुन्दर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकें।।
(गी० 3.17.3)

इसी प्रकार राम भी मातृ-स्नेह से उसके भाव की रक्षा करते हुए उसका सम्मान करते हैं। देखिए—

सो जननी ज्यों आदरी सानुज, राम भूखे भाय के।
(गी० 3.17.4)

तेहि मातु-ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई।।
(गी० 3.17.8)

राम का हृदय जटायु के प्रति पितृवत आदर से परिपूर्ण है। द्रष्टव्य हैं—

सुनहु लषन। खगपतिहि मिले वन में पितु-मरन न जान्यो।
सहि न सक्यो सो कठिन विधाता, बड़ो पछु आजुहि मान्यो।।
(गी० 3.13.2)

मेरे जान तात! कछू दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन-सेवामुख, मोहि पितु को सुख दीजै।।
(गी० 3.15.1)

मेरो सुनियो, तात! संदेसो।
सीय-हरन जनि कहेहु पितासों, ह्वै है अधिक अंदेसो।
(गी० 3.16.1)

पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ! तू चाहत सुख पायो।।
(गी० 3.16.4)

उपरोक्त पद राम के द्वारा शबरी और जटायु के प्रति माता और पिता का भाव दरशाते हैं। ये कल्पनाएं कविकर्म से संयुक्त होकर भावाभिव्यंजना के क्षेत्र में विशिष्ट योग देती है। (7) अशोक वाटिका में सीता का मुद्रिका-सम्वाद—यह उत्पाद्य लावण्य का अप्रतिम उदाहरण है। यहां सीता का परिचय मुद्रिका ने ही पवनपुत्र हनुमान से कराया है। मनोवैज्ञानिक ढंग से मुद्रिका ने ही सीता के मनस्ताप को-कि लक्ष्मण के प्रति मेरे कठोर वचन ठीक नही थे, मैंने उनका अपमान किया था आदि मुद्रिका सम्वाद में अभिव्यक्त कराया है—

कहत हित अपमान में कियो, होत हिय सोइ सालु।
रोष छमि सुधि करत कबहु ललित लछिमन लालु॥
परस्पर पति-देवरहि का होति चरचा चालु।
देवि! कहु केहि हेत बोले विपुल बानर-भालु॥
(गी० 5.3.2-3)

सीता के भावों की अभिव्यंजना का यह अनूठा ढंग है जो काव्य को लावण्य एवं सरसता प्रदान करता है। साथ ही हनुमान के लंका-गमन के उद्देश्य को मुद्रिका ही अभिव्यक्त करती है—

दई हों संकेत कहि, कुसलात सियहि सुनाउ।
देखि दुर्ग बिसेषि जानकि, जानि रिपु-गति आउ॥ (गी० 5.4.5)

यह कथन राम के युद्ध चातुर्य का भी परिचायक है। मुद्रिका प्रसंग के माध्यम से सीता के विरह जन्य मनस्ताप की सफल अभिव्यक्ति हुई है। सीता-मुद्रिका सम्वाद सुनकर हनुमान इतने द्रवित होते हैं कि वे बालक के समान रो पड़ते हैं—

सुवन समीर को धीर-धुरनि, बीर बड़ोइ।
देखि गति सिय-मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ (गी० 5.5.1)

ये पद भावाभिव्यक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। (8) विभीषण की राम शरणागति गीतावली में तुलसी ने विभीषण की शरणागति को बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया है। बड़े भाई रावण के पद-प्रहार के पश्चात् वे सीधे राम की शरण नहीं आते, वरन् उनकी नैतिक एवं विवेक-बुद्धि लोक-पद को तुष्ट करना चाहती है। इसीलिए सर्वप्रथम वह घर के परिवेश में माता से अनुमति मांगते हैं, समाज के परिवेश में बड़े भाई कुबेर से और 'धर्म' के परिवेश में गुरु महादेव से आज्ञा लेते हैं। यद्यपि सभी जगह उन्हें अपने मन के संकल्प के अनुकूल आज्ञा नहीं मिलती, फिर भी वे शरणागति के पथ को ही चुनते हैं जिसमें गुरु का सहयोग अवश्य मिलता है। परन्तु मर्यादा का निर्वाह सर्वत्र किया है। माता नैतिक आधार पर विभीषण को राम के पास जाने से रोकती है –

समाधान करति विभीषन को बार बार,
'कहा मयो तात ! लात मोर, बड़ो भाई है ।।
इहां तें विमुख भये, राम की सरन गए
भलो नेकु, लोक राखे निपट निकाई है ।'
मातु पंग सीस नाइ, तुलसी असीस पाइ,
चले भले सगुन, कहत 'मन भाई' है ।। (गी० 5.26.1,3)

विभीषण की बात सुनकर कुबेर किकर्तव्यविमूढ़ हो गए थे, तभी संकल्प-रक्षक शिव से विभीषण की भेंट हुई और उन्होंने कहा कि राम की शरणागति के लिए किसी की आज्ञा की आवश्यकता नहीं, उनकी शरणागति के लिए किसी विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं। देखिए—

कृपानिधि को मिलों पै मिलिकै कुबेरे ।
जाइ गइ पांय, काह धनद उठाइ भेंटयों,
समाचार पाइ पोच सोचत सुमेर ।
तहंई मिले महेस, दियो हित—उपदेस,
राम की सरन जाहि, सुदिन न हेरे ।। (गी० 5.27.2)

श्रीराम के शिविर में पहुंचने पर विभीषण सीधे राम के निकट नहीं पहुंचते। पहले वे अपने मन्त्री को राम के समीप भेजते हैं, जिसने विभीषण के मन्तव्य को राम तक पहुंचाया। यह भी कथानक की उत्पाद्य लावण्य हेतु एक नई योजना ही है, क्योंकि मानस में तो हनुमान विभीषण के मन्तव्य को राम से कह सुनते हैं। अपने मन्त्री द्वारा संदेश भिजवाने से कथ्य में सौन्दर्य आ गया है—

आइ सचिव बिभीषन के कही ।
कृपा सिंधु दसकन्ध बन्धु लघु चरन-सरन आयो सही ।।
(गी० 5.31.1)

(9) लक्ष्मण की मूर्छा पर वीर जननी सुमित्रा का संकल्प—जब सुमित्रा को हनुमान के द्वारा लक्ष्मण मूर्छा का समाचार मिलता है, तो वह अपने दूसरे पुत्र को भी युद्ध-स्थल में जाने के लिए प्रेरित करती है। इस कथन से सुमित्रा के चरित्र की प्रेषणीयता द्विगुणित हो गई है। ऐसा लगता है कि ऐसे कथन से कैकयी के मन को खेद जन्य ठेस भी लगी होगी। लक्ष्मण भाई का साथ देते हुए, युद्धाभिमुख होकर ही घायल हुए हैं, इससे वीर जननी का हृदय एक विशेष सन्तोष से भर गया होगा, जिसकी अभिव्यक्ति इस पद में हुई है—

सुनि रन घायल लषन परे हैं ।
स्वामि काज संग्राम सुभट सों लोहे लजकारि लरे हैं ।

सुवन-सोक, सन्तोष सुमित्रहि रघुपति-भगति भरे हैं ।।
× × ×
रघुनन्दन बिनु वन्धु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं ।
तात ! जाहु कपि संग, रिपुसूदन कर जोरि खरे हैं ।।
(गी० 6.13.3)

(10) राज्याभिषेक के पश्चात् कुछ नये प्रसंग—उत्तर काण्ड में राम के अभिषिक्त होने पर 'रामहिंडोले' (गी० 7.18), दीपमालिका (गी० 7.20), 'वसन्त विहार' (गी० 7.21-22), आनन्दोत्सव (गी० 7.23) आदि शीर्षक कथा-योजना में नवीन प्रसंग जोड़े गए हैं जो उत्पाद्य लावण्य में वृद्धि करते हैं। भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से ये प्रसंग गीतावली की भाव योजना के अनुकूल ही हैं। राज्यारोहण के पश्चात् श्वान, यती, खग के न्याय तथा ब्राह्मण बालक के जीवनदान की ओर भी संकेत है। (11) सीता वनवास और लवकुश चरित-उत्तर काण्ड में उक्त प्रसंग की योजना (गी० 7.25-26) सम्पूर्ण गीतावली में विशेष महत्व की है। इसका उल्लेख उत्पाद्य लावण्य की शुरुआत करते समय किया जा चुका है। यह प्रसंग भावप्रवणता में अप्रतिम है। (12) उत्तरकाण्ड में कैकयी का स्मरण कवि तुलसी उत्तरकाण्ड के आनन्दाभिषेक के समय भी कैकयी को विस्मृत नहीं कर सके हैं। परन्तु वहां भी उसके प्रति सहृदयता नहीं हो पाई है। भरत ने जीवन भर उससे मुंह भर न वोलने का दण्ड दिया है—

कैकेयी जो लौं जियति रही,
तौ लौं बात मातु सों मुंह भरि भरत न भूलि कही ।। (गी० 7.36.2)

किन्तु मर्यादावादी राम परिस्थिति को समझते हुए कैकेई को माता से भी अधिक सम्मान देते रहे हैं—

मानी अधिक जननी तें, जननिहुं गंस न गही।
सीय-लषन, रिपुदवन राम रुख लखि सबकी निवही ।।
(गी० 7.36.2)

'कवितावली' का विभाजन रामायण की पद्धति पर सात काण्डों में किया गया है। इसका उत्तरकाण्ड पूरी कृति के आधे से भी अधिक है। इसमें विषय का विस्तार है। वह केवल रामकथा और रामभक्ति तक सीमित नहीं है। उत्तरकाण्ड में कृष्ण चरित सम्बन्धी भ्रमरगीत प्रसंग के तीन कवित्त भी संकलित हैं। अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियां भी हैं। हनुमान बाहुक की भी अपनी महत्ता है। इस रचना में अनेक स्थलों पर उत्पाद्य लावण्य के ऐसे अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्य

हैं जहां विद्यमान का संशोधन किया गया है। राम के आचरण की दो महत्त्वपूर्ण घटनाए हैं—राम के द्वारा सीता का निर्वासन और राम के द्वारा लक्ष्मण का परित्याग। इस दूसरी घटना का संकेत केवल कवितावली में प्राप्य है—

तीय सिरोमनि सीय तजी, जेहिं पावक की कलुषाई दही है।
धर्मधुरन्धर बन्धु तज्यो, पुरलोगनि की बिधि बोलि कही है।।
कीस-निसाचर की करनी न सुनी, न बिलोंकी, न चित रही है।
राम सदा सरनागत की अनखोंही, अनैसी सुभायं सही है।।
(पृ० 7.6)

इन घटनाओं का अपना विशिष्ट लावण्य है। राम को मनुजोचित दिखलाने के लिए तुलसी का यह कर्म कौशल पूर्णतः मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है।

भारतवर्ष की श्रेष्ठता का उल्लेख तुलसी ने अपने समूचे साहित्य में केवल एक बार किया है—

भलि भारतभूमि, भलें कुल जन्मु, समाजु सरीरु भलो लहि के।
करषा तजिके परुषा, बरषा, हिम, मारुत, धाम सदा सहि के।।
जो भजे भगवानु सयान सोई, 'तुलसी' हठ चातुक ज्यों गहि के।
न तु और सबे बिषबीज बए, हर हाटक काम दुहा नहि के।।

तुलसी ने आलचरितात्मक उक्तियां भी सर्वाधिक कवितावली में ही दी हैं। जिससे यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए विशेष रूप से आकर्षक हो गया है। कवितावली के अनेक पद्यों में उन्होंने अपने बचपन से लेकर अन्तिम समय तक की जीवन-स्थितियों पर यत्किंचित् प्रकाश डाला है। (क० 7.83-87, 96-105, 169-71 174, 177)। तुलसी के अधूरे प्रामाणिक जीवन-वृत्त के आकलन में इन पद्यों का योगदान अनुपेक्षणीय हैं।

कवितावली में किया गया कलियुग वर्णन (क० 7.96-103) और उसके बहानु से युगीन परिस्थितियों का निदर्शन, विशद एवं चित्ताभिभावी है। रामचरितमानस, दोहावली और विनयपत्रिका में भी कलियुग के प्रभाव का प्रभावशाली चित्रण है। 'मानस' में भी काकभुशुण्डि के द्वारा पूर्वकल्प के किसी कलियुग का विस्तृत वर्णन कराया गया है। उसमें कलिकाल के दोषों के साथ हीं उसके गुणों का भी उद्घाटन है। पर कवितावली का कलियुग वर्णन कहीं अधिक प्रभावी है। 'दोहावली' का संक्षिप्त वर्णन (दो० 545-62) कुछ तटस्थ दृष्टि से किया गया है। 'विनयपत्रिका' के संक्षिप्त वर्णन में भी स्वानुभव का पुट द्रष्टव्य है—

राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है ।
नीति, प्रतीति, प्रीति परमित पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ।।
आश्रम-बरन-धरम विरहित जग, लोक वेद मरजात गई है ।
प्रजा पतित, पाखण्ड-पापरत, अपने अपने रंग रई है ।।
सान्ति, सत्य, सुभ रीति गई घटि बढ़ी, कुरीति कपट कलई है ।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ।।
परमारथ स्वारथ, साधन भए अफल, सफल नहिं सिद्धि सई है ।
कामधेनु, धरनी कलि-गोभर-बिबस बिकल जाभति न बई है ।।
(वि० 139.3-6)

'कवितावली' के वर्णन में विस्तार के साथ ही आत्मानुभूति की मार्मिकता है जो काव्य को आस्वाद्य बनाती है । विशेष रूप से महामारी का प्रसंग द्रष्टव्य है—

गौरीनाथ, भोरानाथ, भवत भवानी नाथ ।
विस्वनाथपुर फिरी आन कलिकाल की ।।
संकर-सेनर, गिरिजा-सी नारीं कासी बासी ।
वेद कही, सही ससिसेखर कृपाल की ।।
छमुख—गनेस तें महेस के पियारे लोग ।
विकल विलोकियत, नगरी विहाल की ।।
पुरी-सुर बेलि केलि काटत किरात कलि ।
निठुर निहारियै उधारि डीठि भाल की ।। (क० 7.169)

यहां पर महामारी का वर्णन उत्पाद्य लावण्य की दृष्टि से बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है । और भी देखिए—

एक तो कराल कलिकाल सूल-मूल, ता में ।
कोढ़ में की खाजु सी सनीधरी है मीन की ।।
वेद-धर्म दूरि गए, भूमि और भूप भए ।
साधु सीधमान जानि रीति पाप पीन की ।।
दूबरे को दूसरों न द्वार, राम दयाधाम ।
राव रीए गति बल-विभव विहीन की ।।
लागेगी पै लाज का विराजमान बिरुदहि ।
महाराज ! आजु जों न देत दादि दीन की ।। (क० 7.177)

'कवितावली' के अनेक प्रसंग उत्पाद्य लावण्य की दृष्टि से गीतावली व मानस की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट हैं । कवितावली का सुन्दर काण्ड अप्रतिम है । तुलसीदास भक्तिनिष्ठ कवि हैं । उनके मर्यादा पुरुषोत्तम राम परम गम्भीर हैं ।

अतएव 'रामचरित मानस' जैसे विशाल ग्रन्थ में भी किसी पात्र ने कहीं पर उनसे हंसी मजाक नहीं किया। ससुराल में कौतुक विनोद के अवसर पर सीता की सहेलियों ने भी नहीं। 'गीतावली' में बसन्त विहार के प्रकृत अवसर पर भी इसकी योजना नहीं की गई। केवल दो कृतियों में कवि ने इसे अतिसीमित स्थान दिया है। 'बरवे रामायण' के दो छन्दों में सखियों ने राम को लक्ष्य करके हास्य व्यंग्य किया है। (ब० 1.17-18)। कवितावली ही एक ऐसी कृति है जिसमें एक स्थल पर सीता ने राम से हुंसी मजाक किया है—

> बिंध्य के बासी उदासी तपी ब्रतधारी कहा बिनु नारि दुखारे।
> गौतम तीय तरी 'तुलसी', सो कथा सुनि में मुनिवृन्द सुखारे।।
> ह्वै हैं सिला सब चन्दमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्हीं भली रघुनायक जू। करुना करि कानन को पगु धारे।।
> (क० 2.28)

इस प्रसंग में यह भी रमणीय है कि तुलसी की सीता ने अन्यत्र कहीं भी, किसी भी पात्र से, हंसी मजाक नहीं किया है। तुलसी की अन्य कृतियों में नीरस पद मिल सकते हैं परन्तु कवितावली में कोई भी कवित्त सम्भवतः नहीं मिलेगा।

'विनयपत्रिका' की व्यवस्थित योजना से प्रभावित होकर कुछ आलोचकों ने उसे खण्ड काव्य माना है। उसमें मुक्तक हीं अधिक हैं, अतः उसे मुक्तक काव्य ही माना जाना चाहिए तथापि उसके प्रकरणों की अपनी विशिष्टता है, इसीलिए यह भक्ति काव्य भी बड़ा ही रमणीय बन पड़ा है। तुलसी के सम्मुख मुगल सम्राटों का आदर्श था। शाहंशाह के पास अर्जी पहुंचाने के लिए मुसाहिबों की सिफारिश की आवश्यकता थी। अपनी पत्रिका पर भगवान राम की सही कराने के लिए तुलसी ने इसी पद्धति के आधार पर 'विनयपत्रिका' का रूपक बाँधा है। राजा-महाराजाओं की सात ड्योढ़ियों की चर्चा प्रायः की जाती है। विनयपत्रिका में भी सात ड्योढ़ियां हैं। इन सातों परिसरों पर अधिकारी तैनात हैं—गणेश, सूर्य, शिव, दुर्गा, गंगा, यमुना और हनुमान (वि० 1, 2, 3-14, 15-16, 17-20, 21, 35-36)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि छठी ड्योढ़ी के अनन्तर दो वन हैं। एक का नाम आनन्दवन (काशी) और दूसरे का नाम चित्रवन या चित्रकूट है। इन वनों का भी यथा स्थान वर्णन किया गया है।[1] सात ड्योढ़ियों के पार भगवान राम का राजमहल है। वहां तीन विशिष्ट अंग रक्षक हैं लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—वाणी वितान, वाराणसी सं० 2015, पृ० 306

(वि० 37, 38, 39, 40) । 'राजचक्र को साधकर', गणेश से शत्रुघ्न तक सभी राम-सेवकों को स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करके, प्रार्थी तुलसीदास अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं। वे जगजननी जानकी से भी सिफारिश करने की प्रार्थना करते हैं । इन सभी स्तुत्य जनों के प्रति किए गए निवेदन के अन्त में वे अविरल राम-भक्ति का वरदान मांगते हैं। सब की कृपा से वे महाराज राम के सम्मुख उपस्थित होते हैं। बहुविध विनय के पश्चात् उनका साक्षात् निवेदन है—

> विनय पत्रिका दीन की बापु आपु ही बांचो ।
> हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूंछिये पांचो ।।
> (वि० 277.3)

अंततोगत्वा राम की स्वीकृति और हस्ताक्षर का क्रम भी बादशाही है—

> मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है ।
> कलिकालहु नाथ नाम सों परतीति प्रीति एक किंकर की निवही है ।।
> सकल सभा सुनि ले उठी जानी रीति रही है ।
> कृपा गरीब निवाज की देखत गरीव को साहब बांह गही है ।।
> बिहसि राम कह्यो सत्य है सुधि में हूं लही है ।
> मुदित माथ नावत वनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है ।।
> (वि० 279)

राम के ईश्वरीय स्वरूप और विनयपत्रिका के वर्ण्य विषय से स्पष्ट है कि यह पत्रिका भौतिक नहीं है, आध्यात्मिक है, व्यक्ति देश और काल की सीमा के परे है। विभिन्न पदों में तुलसी ने अपने जिस दैन्य एवं जिन कमजोरियों का वर्णन किया है, वे भवचक्र में पड़े हुए सभी देशों तथा सभी कालों के जीवमात्र की कमजोरियां हैं। तुलसी ही नहीं, सम्पूर्ण जगत कलिकाल से पीड़ित है। यहां लक्ष्मण द्वारा कलिकाल का अर्थ है—कलिकालीन अत्याचारी लोग । उन उत्पीड़कों के विरुद्ध फरियाद करने के लिए सार्वजनिक प्रतिनिधि के रूप में तुलसीदास प्रार्थना पत्र लेकर राजराजेश्वर नाम के दरबार में उपस्थित हुए हैं। अतएव विनयपत्रिका केवल तुलसी की व्यक्तिगत अनुभूति तक सीमित न होकर क्रांतदर्शी कवि द्वारा साक्षात्कृत लोकमानस की समष्टिपरक अभिव्यक्ति है ।

'गीतावली' का निष्पादन व्यवस्थापूर्वक योजनानुसार किया गया है। इसमें प्रकरण वक्रता के आयाम खूब निखरे हैं। उत्पाद्य लावण्य के लिए कवि ने अपनी कृति को सरस रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें लोक हृदय को अभिभूत कर देने की शक्ति है ।

(आ) विद्यमान का संशोधन

कुन्तक द्वारा प्रतिपादित उत्पाद्य लावण्य का द्वितीय रूप विद्यमान का संशोधन है। इसकी समता भोज के प्रबन्ध-दोष-हान में देखी जा सकती है। प्रबन्ध-दोष-हान में कवि मूल कथा के अनौचित्य का परिहार करता है। 'शृंगार-प्रकाश' के एकादश प्रकाश में भोज ने दोष-हान पर विचार किया है और उसके दो दोष बतलाए हैं—वाक्य विषयक और प्रबन्ध विषयक।[1] प्रबन्ध विषयक दोष-हान पर विचार करते हुए भोज ने बतलाया है कि वह भी दोष-हान होने पर गुणोपादन से और अलंकार संकट से प्रकाशित होता हुआ मनीषियों के अनौचित्य के परिहार द्वारा होता है। 'महावीर चरित' से उदाहरण देते हुए भोज ने बतलाया है कि यहां कवि ने कथा संस्कार कर दिया है कि राम माता-पिता से नहीं, बल्कि माता कैकेयी और दशरथ द्वारा निर्वासित हुए। 'वेणीसंहार' में भीमसेन ने नहीं, बल्कि रक्त प्रेमी राक्षस ने दुःशासन का रुधिर पान किया। 'हरिवंश' में काम के अवतार प्रद्युम्न की पत्नी रति मायावती है, गुरु पत्नी नहीं। इस प्रकार के और भी कई उदाहरण देकर भोज ने अपने प्रबन्ध विषयक दोष-हान की मीमांसा की है।[2] भोज द्वारा उल्लिखित प्रबन्ध विषयक दोष-हान ही कुन्तक का विद्यमान का संशोधन है। कदाचित् कुन्तक से ही प्रेरणा ग्रहण कर भोज ने अपनी यह उद्‌भावना दी है। विद्यमान का संशोधन स्पष्टतः अनौचित्य का परिहार है जिससे रस निषेद में सहायता मिलती है। इस प्रकार रस दृष्टि से कथा का संस्कार ही कुन्तक का 'विद्यमान का संशोधन' है।

तुलसी रससिद्ध कवि हैं। उनके काव्य में विद्यमान के संशोधन के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं। उनकी कल्पना में जहां नए-नए प्रसंगों की अवतारणा की है, वहां अपनी आवश्यकताओं के अनुसार पुराने प्रसंगों का भी संस्कार किया है।

यह सत्य है कि राम ने सीता का निर्वासन किया था। तुलसी अपने मानस में इस प्रसंग को कोई स्थान नहीं दे पाए हैं। सीता निर्वासन की कथा को व्यवस्था देने के लिए तुलसी ने पुराने प्रसंग में संस्कार किया है और अपने आराध्य के चरित्र की बुराई को दूर करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि राजा दशरथ की पुत्र शोक में असामयिक मृत्यु हुई थी और उनकी अवशिष्ट आयु का भोग श्रीराम को करना था। पत्नी के साथ रहते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम राम पिता की आयु का भोग कैसे कर सकते थे। इसलिए श्रीराम ने सीता का परित्याग किया—

1. तस्यापि योगो द्विधा—वाक्य विषय—प्रबन्ध विषयश्च। शृंगार प्रकाश एकादश प्रकाश, पृ० 461
2. वही, पृ० 461

संकट सुकृत को सचेत जाति जिय रघुराउ।
सहस द्वादस पंचसत कछुक है अब आउ।।
भोग पुनि पितु आयु को, सोउ किए बने बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहि और अनघ उपाउ।।
पालिबे असिधार-ब्रत, प्रिय प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भांति, नित सुविचारु, नहि चित चाऊ।।
(गी० 7.25.1-3)

इस कारणोक्ति से तुलसी ने राम के ऊपर आरोपित लांछन को हटाने का प्रयत्न किया है।

विश्वामित्र द्वारा राम की याचना के प्रसंग में तुलसी ने विद्यमान में संशोधन किया है। वाल्मीकि ने इस प्रसंग में यथार्थ दृष्टि से राजा दशरथ के वात्सल्य जनित मोह, उसके कारण दिए हुए वचन को निभाने में राजा दशरथ की असमर्थता और राम के स्थान पर स्वयं चलने का प्रस्ताव, किन्तु रावण प्रेरित राक्षसों से लड़ने की बात सुनते ही राजा के मन में भीति का उदय और अन्ततः अपनी असमर्थता का उल्लेख करते हुए वचन-पालन के प्रति राजा दशरथ की उपेक्षा से विश्वामित्र के मन में क्रोध का संचार दिखाया है। तुलसीदास ने रघुवंश का अनुसरण करते हुए राजा दशरथ की इस दुर्बलता का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए उन्होंने विश्वामित्र की प्रार्थना पर राजा दशरथ के वात्सल्य की प्रबलता के कारण राम को देने में उनकी असमर्थता का ही उल्लेख किया है, राजा दशरथ की भीति का नहीं—

चरन वन्दि, कर जोर निहोरत, 'कहिय कृपा करि काज।
मेरे कछु न अदेय राम बिनु देह-गेह सब राज।।'
(गी० 1.49.2)

डरपत हो सांचे सनेह-वस, सुत-प्रभाव बिनु जाने।
बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु, तुम मुनि परम सयाने।।
(गी० 1.50.2)

रांजा दशरथ की इस विवशता पर भी विश्वामित्र का रोष चित्रित नहीं किया गया है। उन्होंने राजा बशरथ के वात्सल्य जनित राम-प्रेम की भक्ति का रूप देते हुए उसके कारण विश्वामित्र का प्रसन्न होना ही दिखलाया है—अप्रसन्न होना नहीं। इस प्रसंग में तुलसी का दृष्टिकोण आध्यात्म रामायण के अधिक निकट है। इस संशोधन से राजा दशरथ के चरित्र गौरव की रक्षा हो गई है।

धनुष यज्ञ प्रसंग भी विद्यमान का संशोधन है। वाल्मीकि की रामायण में

राम द्वारा चापारोपण एक आकस्मिक घटना है। विश्वामित्र के साथ मिथिला गए हुए राम को वह शिव धनुष दिखलाया जाता है जिसे अतीत में सीता स्वयंवर के अवसर पर कोई नरेश चढ़ा नहीं पाया था। राम कौतूहल वश उसे चढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और उसी प्रयत्न में वह टूट जाता है। प्रसन्न राघवकार ने सीता राम के पूर्वानुराग की पृष्ठभूमि तैयार की है तथा हनुमन्नाटक के लेखक ने भरी सभा के मध्य चापारोपण का प्रसंग उपस्थित कर काम और आत्म प्रकाशन की मूल प्रवृत्तियों को चरितार्थ किया है। तुलसी ने राम और सीता के प्रेमावेग को शुद्ध मानसिक स्तर पर तीव्रतर करते हुए विभिन्न परिपार्श्वों से मानसिक तनाव की सृष्टि की है। एक ओर सीता तथा उनके पितृ पक्ष की राम के प्रति अनुरक्ति तथा दूसरी ओर शिव धनुष की कठोरता, एक ओर सीता, उनके माता और पिता की व्यग्रता तथा दूसरी ओर राम की आश्वस्तता, एक ओर राजाओं की कायरता मिश्रित ईर्ष्या, दूसरी ओर लक्ष्मण का दर्प—इन सबने बहुमुखी सरस मनोवैज्ञानिक आयामों की सृष्टि की है जो समस्त राम काव्य परम्परा में अपूर्व है—

1. कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि, बड़ै भाग आए इत ए, री।
   कुलिस कठोर कहां संकर-धनु, मृदु मूरति किसोर कित ए, री।।
   (गी० 1.78.3)
2. जनक-बचन छुए बिरवा लजारु के से, बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइके।
   तुलसी लखन भाषे, रोषे, राखे राम रुख, भाषे मृदु परुष सुभायन रिसाइके ।। (गी० 1.84.9)

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रसंग का उत्पाद्य लावण्य, विद्यमान के संशोधन के फलस्वरूप निखर उठा है।

तुलसी ने परशुराम का आगमन वाल्मीकि के समान बारात के लौटते समय मार्ग में न दिखलाकर सभा मध्य दिखलाया है। परशुराम राम की मोहिनी मूर्ति से प्रभावित है, पर स्वभाववश क्रोध दिखलाते हैं—

काल कराल नृपालन्ह के धनुभंग सुने फरसा लिएं धाए।
लक्खनु रामु बिलोकि सप्रेम महारिसतें फिरि आंखि दिखाए।।
धीर सिरोमनि बीर बड़े विनयी विजयी रघुनाथ सुहाए।
लायक है भगु नायकु, से धनु सायक सौंपि सुभायं सिधाए।।
(क० 1.22)

यहां पर परशुराम के पराभव का प्रकार द्रष्टव्य है। तुलसी लक्ष्मण का दर्प दिलाता हुआ भी बड़ा ही जागरुक रहा है। उसने व्यवहार में अन्तमूर्त चेतना को

बड़ी सावधानी से अपने काव्य में संजोया है। लक्ष्मण के दर्प के उपरान्त राम द्वारा उनका अनुशासन दिखलाकर तुलसीदास जी ने राम की गम्भीरता मिश्रित सक्रियता व्यंजित कर दी है।

रामकथा का जटिलतम प्रसंग राम का निर्वासन है। वाल्मीकि और तुलसीदास ने इस प्रसंग की अभिव्यंजना में असाधारण अन्तदृष्टि का परिचय दिया है तो रघुवंश और हनुमन्नाटक में इस प्रसंग की सर्वथा उपेक्षा की गई है। वाल्मीकि रामायण में राम का निर्वासन राजा दशरथ के विघटनोन्मुख परिवार की सहज परिणति के रूप में चित्रित किया है। कौशल्या का कैकेयी और भरत के प्रति अविश्वास, भरत पर राम का सन्देह, कैकेयी की यह भ्रांति कि कुछ समय तक राम द्वारा शासन किए जाने के बाद भरत शासक होंगे तथा सबसे अधिक यह तथ्य कि राजा दशरथ भरत के अयोध्या लौटने से पूर्व राम का अभिषेक कर देना चाहते थे—ये सब तथ्य राजा दशरथ के पारिवारिक विग्रह की ओर संकेत करते हैं। ऐसे अन्तर्कलहपूर्ण परिवार में वाल्मीकि की मंथरा अपनी सहज स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर कैकेयी के समक्ष वस्तु स्थिति स्पष्ट करती है। उसके स्वर में स्वामि भक्ति प्रेरित स्पष्टता और दृढ़ता है—चाटुकारिता और तटस्थता का ढोंग नहीं। तुलसीदास ने परिस्थिति एकदम बदल दी है। तुलसी की रामकथा में राजा दशरथ का परिवार सोभनस्यपूर्ण है, किन्तु दुर्भाग्य एक अप्रत्याशित कोने से उठकर कर सारे परिवार की शान्ति नष्ट कर देता है। मंथरा इस अकाण्ड की जनक है। वाल्मीकि की दृष्टि यथार्थ परक थी, इसलिए उन्होंने राम के निर्वासन जैसी घटना को शान्ति के साथ नहीं घट जाने दिया। धर्मप्रधान दृष्टिकोण के कारण राम इस आदेश को स्वीकार कर लेते हैं, अर्थ प्रधान दृष्टिकोण के कारण लक्ष्मण पूरी उग्रता के साथ उसका विरोध करते हैं। कौशल्या भी वात्सल्य के कारण राम को पितृआदेश के उल्लघन के लिए प्रेरित करती है। राम की दृढ़ता के कारण कोई विप्लव नहीं होता। तुलसी की कौशल्या मानस में वाल्मीकि की कौशल्या के विपरीत आचरण करती है और राम से वन जाने का अनुरोध करती है। गीतावली में परिस्थिति भिन्न है, वहां वह वाल्मीकि की भांति ही पिता की आज्ञा न मानने के लिए राम को प्रेरित करती है—

रहि चलिए सुंदर रघुनायक।
जो सुत ! तात-बचन-पालन-रत, जननि तात। मानिबे लायक।।
बेद-बिदित यह बानि तुम्हारी, रघुपति सदा सन्त-सुखदायक।।
(गी० 2.3.1-2)

राखहु निज भरजाद निगम की,
हौं बलि जाउं, धरहु धनुसायक।।

शूर्पणखा प्रसंग में भी तुलसी का अभिव्यंजना कौशल मानस मे द्रष्टव्य है। गीतावली और कबितावली में उन्होंने इस प्रसंग को स्थान नहीं दिया।

सीताहरण का प्रसंग भी बड़ा ही अभिव्यंजनापूर्ण है। वाल्मीकि के राम की सारी धृति वहां विलुप्त हो जाती है। वे जगत के विनाश पर उतारु हो जाते है। तुलसीदास ने इस विक्षोभ की दशा बदली है। वे लोक रक्षक राम के मन में जगत के विनाश की बात नहीं दिखला पाते। मानस में उनका आत्मविश्वास और नारी-पात्र के प्रति अविश्वास बनकर प्रकट हुआ है। गीतावली में राम की स्थिति बाल्मीकि के आधार पर विक्षिप्तता की तो नहीं है, पर करुणा की अवश्य है। उन्हें सम्पूर्ण चराचर जगत में शोक व्याप्त दिखलाई पड़ता हैं—

सरित-जल मलिन, सरनि सूखे नलिन,
अलि न गुंजत, कल कूजें न मराल।
कोलिनि-कोल-किरात जहां तहां बिलखात,
बन न बिलोकि जात खग-मृग-भाल॥
तरु जे जानकी लाए, ज्याये हरि-करि-कपि,
हेरें न हुंकरि, झरें भल न रसाल।
जे सुक-सारिका पाले, मातु ज्यों ललकि लाले,
तेऊ न पढ़त, न पढ़ावें मुनि बाल॥
समुझि सहमे सुठि प्रिया तो न आई उठि,
तुलसी बिखरत मरन-तृन-साल।
औरे सो सब समाजु, कुसुल न देखों आजु,
गहबर हिय कहें कौसल पाल॥ (गी० 4.9.2-4)

यहां राम की वेदना का सहज स्फुरण स्पष्ट है। वे आकुलता के साथ सीता की खोज करते हैं। वे व्यथित हैं, पर उनका आत्म विश्वास भी दृढ़ है।

इसी प्रसग में लक्ष्मण के प्रति सीता के कटु शब्दों का प्रसंग भो उल्लेखनीय है। राम के जैसे स्वर में आर्त पुकार सुनकर भी लक्ष्मण राम के पराक्रम के बिषय में आश्वस्त होने के कारण वहां से हटना नहीं चाहते—सीता की सुरक्षा के निमित्त वहीं रहना चाहते हैं। इस पर पति के विषय में चिन्तित सीता क्षुब्ध हो जाती है और लक्ष्मण की इस अवज्ञा में अपने प्रति उनके दुर्भाव की आशंका व्यक्त करती हुई कड़वी बातें कह जाती हैं। तुलसीदास ने अपनी आस्था के अनुरूप केवल इतना उल्लेख किया है कि सीता ने लक्ष्मण को कड़वे शब्द कहे। कड़वे शब्दों को परिभाषित नहीं किया गया है। गीतावली में केवल कुपित होकर हठपूर्वक भेजने की बात कही गई है—

सुनहु तात ! कोउ तुम्हहि पुकारत प्राननाथ की नांई।
कह्यो लषन, हत्यो हरिन, कोपि सिय हठि पठयो बरि आंई।।
(गी० 4.6.2)

सीता अपनी लक्ष्मण के प्रति व्यक्त भावना के लिए बाद में दुःखी रहती है—

कहत हित अपमान में कियो, होत हिय सोइ सालु।
रोष छमि सुधि करत कबहु ललित लछिमन लालु।।
(गी० 5.3.2)

सुग्रीव के साथ राम की मैत्री समदुखभोगियों की पारस्परिक सहानुभूति का परिणाम है। वाल्मीकि ने उसे इसी रूप में चित्रित किया है और राम के हित की तात्कालिकता को दृष्टि में रखकर लक्ष्मण के मुख से, राम के लिए सुग्रीव की शरण याचना करवाई है। तुलसीदास की राम विषयक भावना ने सुग्रीव और राम के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप बदल दिया है वहां सुग्रीव ने राम की शरण चाही है। दोनों का स्तर समान नहीं है। भले ही राम सुग्रीव के लिए मित्र या सखा शब्द का प्रयोग करें, किन्तु दोनों का सम्बन्ध स्वामि-सेवक भाव का रहा है, यह बात उनके परस्पर व्यवहार से स्पष्ट हो जाती है—

प्रभु कपि नायक-बोलि कह्यो है।
बरषा गई, सरद आई, अब लागि नहिं सिय-सोधु लह्यो है।।
जा कारन तजि लोकलाज, तनु राखि बियोग सह्यो है।
ताको तो कपिराज आज लगि कछु न काज निबह्यो है।।
सुनि सुग्रीव समीत नमित-मुख, उतरु न देन चह्यो है।
आइ गए हरि जूथ, देखि उर पूरि प्रमोद रह्यो है।।
(गी० 4.2.1-3)

हनुमान द्वारा सीता की खोज का प्रसंग भी वाल्मीकि से कुछ भिन्न है। वाल्मीकि ने लंका में हनुमान द्वारा सीता की खोज का चित्रण करते समय उन सभी सम्भावनाओं का समावेश किया है जो एक अपरिचित स्थान में अदृश्यपूर्ण व्यक्ति की खोज में हो सकती है। स्थान-स्थान पर उनकी खोज में भटकना, भ्रांति से मन्दोदरी को सीता समझ लेना बहुत स्वाभाविक है। तुलसी ने थोड़ा भटकाकर हनुमान को सीता के पास पहुंचा दिया है—

खोजत घर-घर, जनु दरिद्र-मनु फिरत लागि धन धायो।
तुलसी सिय बिलोकि पुलक्यों तनु, भूरिभाग, भयो भायो।।
(गी० 5.1.4)

उपरोक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि तुलसी जैसे प्रतिभाशाली कवि की मौलिकता पुरानी कथा उठाने पर भी छीजती नहीं। कविकर्म किसी भी स्थिति में अपनी राह ढूंढ़ लेता है। उन्होंने प्रकरणों को उत्पाद्य लावण्य का सौन्दर्य प्रदान करने के लिए विद्यमान का संशोधन भी किया है और अविद्यमान की कल्पना भी जिससे उनका ब्रजभाषा काव्य सहृदयों के लिए आनन्दायी हो गया है।

3. प्रकरणों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव

प्रबन्ध काव्यों में प्रकरणों का अस्तित्व विच्छिन्न रूप में रहता है। उनमें पारस्परिक अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव का सहवर्तित्व रहता है। कुन्तक के शब्दों में सन्निवेश कर्म से शोभित प्रबन्ध के अवयवों का प्रधान कार्य के सम्बन्ध के अनुसार अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव स्वभावत: सुन्दर प्रतिभा से प्रकाशित होकर वक्रता के चमत्कार से युक्त किसी विशेष कवि के काव्यादिकों में वक्रभाव के किसी अपूर्व सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।[1] प्रकरण सौन्दर्य साध्य नहीं होता। उसका लक्ष्य प्रबन्ध सौन्दर्य की अभिवृद्धि करना होता है। अतएव प्रकरणों में उपकार्य-उपकारक भाव नहीं रहने पर प्रकरण सौन्दर्य प्रबन्ध सौन्दर्य का नियामक नहीं बन पाता है। यदि प्रकरण सौन्दर्य प्रबन्ध सौन्दर्य में वृद्धि न कर सके तो यह बेमानी होता है। अतएव प्रबन्धकार कवि की प्रतिभा प्रकरणों की परस्पर सुसंश्लिष्टा से परिचित होती हैं और उसका उपर्युक्त विधान भी करती है।

कुन्तक ने अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव को भोज ने सुश्लिष्ट संधित्व का नाम दिया है। यह सुश्लिष्ट संधित्व प्रकरणों और सर्गो की परस्पर कार्यान्वित है। भोज ने लिखा है कि सुश्लिष्ट संधित्व से सर्गों की परस्पर एक वाक्यता के द्वारा महाकाव्यात्मक प्रबन्ध की उपकारिता दिखाई जाती है।[2] इस प्रकार सुश्लिष्ट संधित्व वह वज्रलेप है जिससे प्रबन्ध काव्यों में प्रकरणों की अन्विति गठित होती है।

अरस्तू ने इसे ही कार्यान्विति कहा है। प्रत्येक प्रौढ़ कवि अपनी आहार्य प्रतिभा अथवा निपुणता के बल पर इसकी उपलब्धि करता है। अरस्तू ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि : एक व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की असंख्य घटनाएं घटती हैं, जो एकान्वित्त नहीं की जा सकतीं। इसी तरह एक व्यक्ति के

---

1. प्रबन्धस्यैक देशानां फलबन्धानुबन्धवान।
   उपकार्योपकर्तृत्व परिस्पन्दः परिस्फुरन्॥
   असाभान्य समुल्लेख प्रतिभा प्रतिभासिनः।
   सूते नूतन वक्रत्व रहस्यं कस्यचित्कवेः॥
   हि० व० जी० 4.5.6

2. श्रृंगार प्रकाश, दूसरी जिल्द, एकादश प्रकाश, पृ० 471

अनेक कार्य व्यापार होते हैं जो एक ही कार्य में अन्विव नहीं किए जा सकते।[1] इस प्रकार घटनाओं की अन्विति में उपकार्योपकारक भाव का रहना आवश्यक है। जिस घटना में यह भाव जाग्रत करने की शक्ति नहीं है, कवि उस घटना को छोड़ देता है। व्यापार संशोधन के मूल में भी यही कार्यान्विति कार्य करती है। कवि जब भी कोई घटना उठाता है, उसका उद्देश्य आगामी घटनाओं को उससे अनुस्यूत करना होता है। यदि किसी घटना के आगामी घटनाएं अनुस्यूत नहीं की जा सकतीं, तो वह उन्हें छोड़ देता है। प्रकरण चयन के मूल में इसी अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव की प्रेरणा काम करती रहती है।

अरस्तू ने एकान्विति को कथानक का आधारभूत गुण माना है। कथानक के ऐक्य का अर्थ है कार्य का ऐक्य। उनका कहना है कि 'ऐसे कार्य-व्यापार को कथानक की धुरी बनाया है, जो मेरे मन्तव्य के अनुसार सही अर्थ में एक है। अतः जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओं में अनुकार्य वस्तु के एक होने पर अनुकृति भी एक होती है, इसी प्रकार कथानक को, जो कार्य व्यापार की अनुकृति होता है—एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें अंगों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अंग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाएगा। क्योंकि ऐसी वस्तु जिसके होने न होने से कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं पड़ता, किसी पूर्ण ईकाई का सहज अंग नहीं हो सकती।[2] तात्पर्य यह है कि समस्त घटनाएं मूल कार्य से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त परस्पर अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हों। एक भी अनावश्यक घटना नहीं रहनी चाहिए। भारतीय नाट्यशास्त्र में पंचसंधियों तथा पंच अवस्थाओं के विवेचन द्वारा उपर्युक्त एकान्विति का प्रतिपादन किया गया है। कथानक के ऐसे ही जैविक संगठन में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव की उपस्थिति रहा करती है।

तुलसी के काव्य में प्रकरण क्षेमक से नहीं लगते हैं और कथानक के जैविक गठन में इनका पूर्ण योग रहता है—

गीतावली के सभी प्रसंग—विश्वामित्र का आगमन, जनकपुर प्रवेश, पुष्प-वाटिका, रंगभूमि, विवाह की तैयारी आपस में पूर्णतः गुम्फित हैं। राज्याभिषेक की तैयारी के साथ ही कष्टों का संकेत प्राप्त होने लगता है। सीताहरण और रावण वध, दूर की घटनाएं होती हुई भी आपस में पूरी तरह जुड़ी हुई हैं। सुग्रीव और विभीषण की शरणागति और राम का उनके लिए सहाय्य भी द्रष्टव्य है। कवितावली में पहले छः काण्ड आपस में एक दूसरे से पूर्णतः जुड़े हैं। यद्यपि सभी घटनाओं-प्रसंगों का विस्तृत विवेचन यहां प्राप्त नहीं है। कुछ प्रसंगों को कवि

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० 24
2. वही, पृ० 25

सर्वथा छोड़ गया है, कुछ का संकेत मात्र दिया है। वस्तुतः कवि अपने हृदय को इन गीति काव्यों में उड़ेल देता है, अतः कथा निर्वाह यहां पर सम्यक् नहीं हो पाया है। उत्तरकाण्ड पूरे काव्य का आधे से भी अधिक भाग है। वस्तुतः उत्तरकाण्ड कथा न होकर भक्ति काव्य है। यहां पर कुछ प्रसंग जैसे गोपियों का अनन्य प्रेम आदि कथा से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखते। फिर भी रस निषेक की दृष्टि से कहना होगा कि कविताली अप्रतिम है। विनयपत्रिका भक्ति काव्य है। इसके पहले तिरसठ और अन्तिम तीन गीतों में ही क्रम माना जा सकता है। अन्य प्रकरणों में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव ढूंढने का कथानक की दृष्टि से कोई तर्क संगत आधार नहीं है। वैसे विनय के पदों में भी एक प्रकार का तारतम्य है। दोहावली और वैराग्य संदीपनी तो पूर्णतः मुक्तक हैं। उनमें भी प्रकरणों का वर्णन बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। कृष्ण गीतावली भी एक प्रकरण है जिसके पदों में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव ढूंढ़ लेना कठिन नहीं है।

परिणामतः घटनाओं की आभ्यांतरिक अन्विति इसी उपकार्योपकारक भाव से सिद्ध होती है।

(4) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना

एक ही वस्तु का बार-बार वर्णन होने पर भी कवि की प्रतिभा से उसकी इस प्रकार योजना की जाय कि उसमें कहीं पुनरुक्ति प्रतीत न हो, बल्कि हर जगह कुछ नूतन सौन्दर्य ही अनुभव में आवे, वह कुन्तक की चतुर्थ प्रकार की प्रकरण वक्रता है। उनके अनुसार प्रत्येक प्रकरण में कवि की प्रौढ़ प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित एक ही अर्थ बार-बार निबद्ध होता हुआ भी बिलकुल नए रस और अलंकारों से मनोहर प्रतीत होता हुआ विस्मयजनक वक्रता-शैली उत्पन्न करता है।[1] निश्चय ही प्रौढ़ प्रतिभा से निबद्ध होना, कुन्तक की पहली शर्त है। प्रौढ़ और अप्रौढ़ मानस का मुख्य अन्तर ही यह है कि अप्रौढ़ मानस पुनरुक्ति के दाह को नहीं झेल सकता है। बार-बार एक ही प्रसंग को उपनिबद्ध करने वाले कवि में पद-पद पर नए रस और नूतन अलंकारों के विधायन की क्षमता होनी चाहिए। इसके अभाव में प्रसंगों की आवृत्ति प्रबन्ध दोष होकर रह जाएगी।

कुन्तक ने स्वयं यह शंका उठाई है कि ऐसे तो एक ही अर्थ के बार-बार वर्णन करने पर वह पुनरुक्ति दोष का पात्र हो जाएगा। शंका के निवारण के लिए वे

---

1. प्रति प्रकरणं प्रौढ़ प्रतिभाभोग योजितः।
एकएवाभिधेयात्मा वध्यमानः पुनः पुनः॥
अन्यून नूतनोल्लेख रसालङ्करणोज्ज्वलः।
बध्नाति वक्रतोद्भेद भङ्गीमुत्पादिताद्भुताम्॥ हि० व० जी० 4.7-8

कहते हैं—अभिनव प्रतीत होने वाले रस तथा अलंकार आदि से उज्ज्वल अर्थात् पूर्णतया नवीन रूप में उल्लसित श्रृंगार आदि और रूपक आदि के व्यापार से प्रकाशमान वह बार-बार वर्णित होना चाहिए। पूर्व पक्ष को उठाते हुए वे कहते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है कि एक ही पदार्थ का वर्णन हर जगह नया सा प्रतीत हो। इसका समाधान वे यह देते हैं कि वह महाकवि की प्रौढ़ प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित होता है अर्थात् अत्यन्त प्रगल्भ प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित होता है। ऐसा प्रयोग क्षण-क्षण नव्यता को प्राप्त होकर रस-संचार का कारण हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी प्रकरण की अतिरंजना चित्त की अनुकूल प्रतिक्रिया के कारण होती है। दुखोत्पादक क्रिया की आवृत्ति से हम बचना चाहते हैं। अतएव अतिरंजना के मूल में सुखवाद का सिद्धान्त निहित है। विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना कवि की प्रगाढ़ राग-शक्ति का प्रमाण है। राग जब एक बिन्दु पर उमगने-उमड़ने लगता है तब कवि प्रकरणों की अतिरंजना में प्रवृत्त होता है। कोई प्रसंग होता है, जो कवि के मन में रम जाता है। कोई भाव होता है, जो उसे बार-बार उद्वेलित करता रहता है। अतएव रागदीप्त कवि उस प्रसंग को बार-बार निबद्ध करता है, सविस्तार उल्लेख करता है और तब भी ऊसका मन ऊबता नहीं है।

तुलसी की गीतावली विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। तुलसी अपने आराध्य राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ अघाता नहीं है। वह राम के सौन्दर्य का वर्णन विभिन्न उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं के विनियोजन द्वारा सरस ढंग से करता है। विभिन्न रसों का सहज उद्रेक, इस प्रकार एक ही वस्तु की बार-बार अभिव्यक्ति से, प्रौढ़ प्रतिभा के सुष्ठु योगदान के कारण सम्भव हो सका है। 'दुलार' शीर्षक के अन्तर्गत बालक राम के सौन्दर्य का माता के वात्सल्य का, बाल सुलभ चपलताओं का वर्णन करने के लिए तुलसी ने बाल काण्ड में पद 7 से लेकर पद 46 तक पुनः पुनः एक ही वस्तु का उल्लेख किया है, पर हर पद तुलसी की प्रौढ़ प्रतिभा के बल से नयापन लिए है, क्योंकि विभिन्न अलंकारों—उपमा उत्प्रेक्षा आदि—के प्रयोग के कारण नवत्व आ गया है और यहीं लावण्य का कारण है। देखिए—

1. सुभग सेज सोभित कौसिल्या रुचिर राम-सिसु गोद लिए।
   बार-बार बिधु वदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किए॥
   (गी० 1.7.1)
2. राम-सिसु गोद महाभोद भरे दशरथ कौसिलाहु ललकि लषनलाल लये हैं।

भरत सुमित्रा लये कैकयी के सभुसमन, तन प्रेम-पुलक मगन मन भये हैं ।। (गी० 1.1।.1)

3. जद्यपि बुधि, बय, रूप, सील, गुन समें चारु चार्यो भाई।
तदपि लोक-लोचन-चकोर-ससि राम भगत सुखदाई ।।
(गी० 1.16.2)

4. पौढिये लालन, पालने हौं झुलावौं।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन-भवंर भुलावों ।।
(गी० 1.18.1)

5. मदन, मोर के चन्द की झलकनि, निदरति तनु-जोति।
नील कमल, मनि, जलद की उपमा कहै लघुमति होति ।।
मातु-सुकृत फल राम लला ।। (गी० 1.22.3)

तुलसी का मन राम के बाल रूप का वर्णन करने में अत्यधिक रमा है। तुलसी का वस्तु वर्णन वही होने पर भी नये भावी और अलंकारों के सुन्दर प्रयोग से सहृदय कहीं भी डूबने की अपेक्षा उल्लसित और प्रसन्न अनुभव करता है।

राम के सौन्दर्य का वनगमन के समय मार्ग में विभिन्न स्त्री पुरुषों के मुख से किया गया वर्णन तुलसी साहित्य में बेजोड़ है। गीतावली में अयोध्याकाण्ड के पद 13 से लेकर 42 तक सभी राम सीता के सौन्दर्य से आप्लाविब हैं। वस्तुतः सौंदर्य इन पदों के शब्दों से छलकता सा प्रतीत होता है। पद-पद में यह सौंदर्य नवत्व को प्राप्त करके रस का उद्रेक करता है—

1. फिरि फिरि राम सीथ तनु हेरत।
तृषित जानि लेन लषन गए, भुज उठाइ ऊंचे चढ़ि टेरत ।।
अवनि कुरंग, बिहंग दुम-डारन रूप निहारत पलकन फेरत।
मगन न डरति निरखि कर-कमलनि सुभग सरासन सायक झेरत ।।
अवलोकत मग-लोग-चहू दिसि, मनहु चकोर चन्द्रमहि घेरत।
ते जन भूरिभाग भूतल पर तुलसी राम-पथिक पद जे रत ।।
(गी० 2.14.1-3)

इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि तुलसी ने एक हीं वस्तु का वर्णन पूर्ण नवत्व एवं सौन्दर्य के साथ किया है।

विशिष्ट प्रकरणों की अतिरजना कवितावली में भी प्राप्य है। बाल लीला के वर्णन में तुलसी यहां भी पद के बाद लिखता चला गया है। वन के मार्ग में जिस प्रसंग की तुलसी ने अतिरंजना की है, वह मनोहारी है और अभूतपूर्व है इन पदों में राम और सीता के सौन्दर्य वर्णन अप्रतिम हैं—

ठाढ़े हैं नवद्रुम डार गहैं, धनु कांधे धरें, कर सायकु ले।
विकटी भृकुटी, बडरी अंखियां, अनमोल कपोलन की छवि है।।
तुलसी अस मूरति आन हिएं, जड़ डारु धौं प्रान निछावरि के।
श्रम सीकर सांवरि देह लसे, मनो रासि महातम तारक में।।
(क० 2.13)

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसी ने रस-निषेक के लिए एक ही वस्तु को बार-बार नयी उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं और रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। तुलसी-सी प्रौढ़ प्रतिभा का कवि ही सहृदय के लिए वस्तु को नीरस बनाये बिना, यह सब करने में समर्थ हो सकता है। पाठक भावाभिभूत होकर पुनः पुनः इन पदों को पढ़ता है।

विनयपत्रिका भक्तिकाव्य है। वहां भी तुलसी ने कुछ प्रसंगों को बार-बार उठाया है, पर सर्वत्र उनकी अभिव्यंजना बड़ी ही मनोहारी है—

1. राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा। (वि० 65.1)
2. राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे।। (वि० 66.1)
3. राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे।
कृति न विराग, जोग जाग तम त्याग रे।। (वि० 67.1)

इस प्रकार एक ही वस्तु के बार-बार वर्णन द्वारा कवि ने विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है। रागदीप्त कवि उसी वस्तु का बार-बार विस्तारपूर्वक वर्णन करता है तब भी उसका मन ऊबता नहीं है। वह अपनी प्रगल्भ प्रतिभा के प्रभाव से वस्तु को प्रतिक्षण नव्यता प्रदान करके रमणीय बना देता है।

(5) रोचक प्रसंगों की अवतारणा

प्रकरण वक्रता का पांचवां नियामक प्रासंगिक अथवा प्रस्तुतोचित सूर्योदय, सूर्यास्त प्रभृति ऐसे प्रसंगों की अवतारणा है जो प्रबन्ध के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं। कुन्तक ने बतलाया है कि सर्गबन्धादि के कथा-वैचित्र्य का सम्पादक जो जल क्रीड़ा आदि अंग काव्य सौन्दर्य के खिए वर्णित किया जाता है, वह भी उस प्रकरण वक्रता को प्राप्त करता है।[1] इसका सारांश यह हुआ कि प्रबन्ध काव्यों में जल क्रीड़ा कुसुभावचय, इत्यादि प्रसंग प्रकृत कथा के अनुरूप वर्णित होकर सौंदर्य सम्पत्ति के कोष बन जाते हैं।

प्रबन्ध काव्य का लक्ष्य जीवन के समग्र विस्तार को समेटता रहता है। इस

1. कथा वैचित्र्यं पात्रं तद् वक्रिमाणं प्रपद्यते।
यदङ्गं सर्ग बन्धादेः सौन्दर्याय निगद्यते।। हि० व० जी०, 4.9

कारण कभी-कभी घटना प्रवाह से ऊबा हुआ कवि सामाजिक के आनन्द के लिए सरस और रोचक प्रसंगों की अवतारणा किया करता है। ये सभी सरस प्रसंग उत्पाद्य लावण्य से मण्डित होते हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्र में तो ऐसे प्रकरण महाकाव्य के लक्षणों में ही समविष्ट कर दिए गए हैं। दण्डी के अनुसार महाकाव्यों में नगर का, समुद्र का, पर्व का, ऋतुओं का, चन्द्रोदय-सूर्योदय एवं चन्द्रास्त-सूर्यास्त, उद्यान-विहार का, जलक्रीड़ा का, मधुसेवन तथा संभोग का वर्णन होना चाहिए।[1] भोज ने इसे ही प्रबन्धगत अर्थालंकार कहा है। उनके अनुसार नगर, आश्रम, शैल, सैन्य-संचालन, समुद्र आदि का वर्णन, ऋतु, रात-दिन, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि का वर्णन, मन्त्र, दूत, प्रयाण, संग्राम अभ्युदय आदि का वर्णन, वन-विहार, जलक्रीड़ा मधुपान, मानापमान, रतोत्सव आदि का वर्णन—ये काव्यगत अलंकार हैं।[2] विश्वनाथ ने बतलाया है कि महाकाव्य के अन्तर्गत सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन-उपवन, समुद्र, सम्भोग, विप्रयोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, साभादि उपाय-चतुष्टय, पुत्र जन्म आदि का यथा सम्भव वर्णन किया जाता है।[3] तात्पर्य यह है कि कवि अपने प्रस्तुत के अनुरूप, जीवन के समग्र विस्तार से सरस प्रसंगों को चुनकर, उनका रसावह वर्णन करता है। ऐसे रोचक प्रसंगों को चार प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—समय और ऋतु विषयक, विलास-क्रीड़ा विषयक, स्थान विषयक और कार्य विषयक। समय और ऋतु विषयक प्रसंगों के अन्तर्गत प्रत्यूष, ऊषा, मध्यान्ह, सूर्यास्त, प्रदोष, अन्धकार, चांदनी-चन्द्रोदय, सूर्योदय, रात-दिन और ऋतुएं आदि आती हैं। विलास विषयक के अन्तर्गत कुसुमावचय, उद्यान-विहार, जलक्रीड़ा मधु-सेवन, मान और संभोग आते हैं। स्थान विषयक के अन्तर्गत आश्रम, नगर, शैल, नदियां और समुद्र कार्य विषयक के अन्तर्गत मंत्र-पाठ, दूत-प्रेषण, मृगया, पुत्र-जन्म, अभ्युदय और संग्राम आदि के वर्णन आते हैं। लेकिन यह तालिका भी उपलक्षण मात्र है। कवि ऐसे अनेक नवीन प्रसंगों की अवतारणा कर सकता है, किया करता है।

(अ) समय और ऋतु विषयक घटनाएं समय की कुक्षि में घटित होती हैं। घटनाओं में मानसिक घटनाएं भी समाविष्ट हैं। अतएव घटनाओं एवं मनःस्थितियों का काल से कोई आभ्यांतरिक सम्बन्ध है। कवि कथाकाव्यों में घटनाओं और मनःस्थितियों के सन्दर्भ में प्रत्यूष, प्रदोष, रजनी, चन्द्रोदय आदि का रोचक

---

1. हिन्दी काव्यदर्श : 1.16
2. शृंगार प्रकाश, द्वितीय जिल्द, पृ० 471
3. हिन्दी साहित्य दर्पण—डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० 551

वर्णन करता है। तुलसी के काव्य में समय और ऋतु विषयक घटनाओं का अनेक स्थानों पर वर्णन हुआ है—

1. भोर भयो जागहु, रघुनन्दन। गत व्यलीक भगतनि उर-चंदन॥
   ससिकरहीन, छीन दुति तारे। तमचुर मुखर, सुनहु मेरे प्यारे॥
   विकसित कंज, कुमुद बिलखाने लै पराग रस मधुप उड़ाने॥
   (गी० 1.36.1-3)

तुलसी ने प्रातःकाल का सुन्दर वर्णन सांगोपांग किया है। वसन्तु ऋतु का वर्णन भी दृष्टव्य है—

ऋतुपति आए भलो बन्यो बन समाज।
मानो भए हैं मदन महाराज आज।
मनो प्रथम फागु मिस करि अनीति।
होरी मिस अरिपुर जारि जीति।
मारुत मिस पत्र-प्रजा उजारि।
नयनगर बसाए विपिन झारि॥
सिंहासन सैल-सिला सुरंग। कानन-छवि रति, परिजन कुरंग॥
सित छम सुमन, बल्ली बितान।
चामर समीर निरझर निसान॥
मनो मधु-माधव दोउ अनिप धीर।
वर बिपुल बिटप बानेत बीर।
मधुकर-सेक-कोकिल बन्दि-बृन्द।
बरनहिं बिसुद्ध जस बिधिबध छन्द॥ (गी० 2.49.1-4)

प्रबन्ध रचनाओं में प्रकृति वर्णन कथा विधान में ऐसी संगति प्राप्त करके सार्थक हो जाता है। तुलसी का प्रकृति चित्रण मानवीकृत है। उसमें यथार्थ का गहरा पुट है।

(आ) **विलास क्रीड़ा विषयक**—विलास सुख भोग का चरम रूप है। कवि जब कभी जीवन में अनुकूल वेदनीय का निदर्वन अपने पात्रों में देखता है, तब वह विलास के वर्णन की ओर स्वतः मुड़ जाता है। कुमुमावचय, विहार, जल-क्रीड़ा, मधुपान, मान और संभोग आदि विलास के रूप हैं। तुलसी का काव्य मर्यादित है और वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम का वर्णन करते हैं तो स्पष्ट ही यह वर्णन निश्चित सीमाओं में ही होगा। तुलसी ने अपने काव्य में श्रृंगार रति, विलास आदि को उचित स्थान देकर श्लाध्य कवि-कर्म का सम्यक् निर्वाह किया है। तुलसी काव्य में विलास क्रीड़ा विषयक प्रकरण अवलोकनीय हैं—

सखिन सहित तेहि ओसर बिधि के संजोग,
गिरिजा जू पूजिबे कों जानकी जू आई हैं।
निरखि लषन-राम जाने ऋतु पति-काम,
मोहि मानो मदन मोहनी मूड़ नाई हैं॥
राधो जू श्री जानकी-लोचन मिलिबै को मोद,
कहिबे को जोगु न, में बातें-सी बनाई हैं।
स्वामी, सीय, सखिन्ह लखन तुलसी को तैसो,
तैसो मन भयो जाकी जैसियै सगाई हैं॥ (गी० 1.71.1-4)

जनक की फुलवारी में उनके प्रथम साक्षात्कार के लिए जिस पवित्र वातावरण का निर्माण और जिस सुन्दरता से आदर्श-मर्यादा का निर्वाह किया है, वह अनुपम है। आदर्श प्रेम वही है जो दोनों ओर से हो। कोई भी प्रेमी अपने प्रेम पात्र को दृष्टिपथ से ओझल नहीं होने देना चाहता। धनुभंग में विलंब होने के कारण संयोग-सुख भी विरह वेदना से मिश्रित हो गया है। मनोरथ के सफल होने पर विवाह-मंडप में—

राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
या तें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥
(क० 1.17)

राम वनगमन के दृश्यों में राम सौंता का सौन्दर्य तो वर्णित हुआ ही है, उनके पारस्परिक प्रेमाकर्षण को भी कवि ने अभिव्यक्ति दी है—

1. प्रेम सों पीछें तिरीछें प्रियाहि चिते चितु दे चले लै चितु चोरें।
(क० 2.26)
2. फिरि फिरि राम सीय तनु हेरत॥ (क० 2.14.1)

उपरोक्त पद सीमित संयोग श्रृंगार के अप्रतिम उदाहरण हैं। तुलसी जल-विहार और जल-स्नान के पश्चात् दृश्यों का भी वर्णन किया है—

मज्जन करि सरजु तीर ठाढ़े रघुबस वीर,
सेवत पदकमल धीर निरमल चित लाई।
ब्रह्म मंडली-मुनींद्र बृन्द-मध्ल इन्दु बदन,
राजत सुखसदन लोक लोचन-सुखदाई॥ (गी० 7.3.2)

पत्नी के प्रेम में डूबे राम का मर्यादित वर्णन यहां द्रष्टव्य है—

भोर जानकी जीवन जागे।
सूत-मागध-प्रवीन, बेनु-बीना-धुनि द्वारे, गायक सरस राग रागे॥

स्यामल सलोने गात, आलस बस जंभात प्रिया प्रेम रस पागे ।
उनींदे लोचन चारु, मुख-सुखमा-सिंगार हेरि हारे भार भूरि भागे ।।
सहज सुहाई छवि, उपमा न लहैं कबि, मुदित विलोकन लागे ।
तुलसीदास निसि बासर अनूप रूप रहत प्रेम-अनुरागे ।।
(गी० 7.2.1-3)

बिलास का शीर्ष बिन्दु है संभोग। संभोग नर-नारी का ऐच्छिक चरम साक्षात्कार है। तुलसी ने अपने ब्रज भाषा काव्य में मर्यादित वर्णन किया है।

(इ) स्थान विषयक—घटनाएं देश और काल में घटित होती हैं। इसमें समय और ऋतु विषयक रोचक प्रसंग काल से सम्बन्धित हैं। स्थान विषयक रोचक प्रसंगों में आश्रम, नगर, शैल, नदियां और समुद्र का वर्णन आता है। गीतावली में चित्रकूट का मनोहारी वर्णन हुआ है—

चित्रकूट अति विचित्र, सुन्दर बन, महि पवित्र,
पावनि पय-सरित सकल मल-निखंदिनी ।
सानुज जहं बसत राम, लोक-लोचनाभिराम,
बाम अंग बामाबर बिस्व-बंदिनी ।।
रिषिवर तहं छंद वास, गावत कलकंठ हास,
कीर्तन उनमाय काय क्रोध कंदिनी ।
बर बिधान करत करत गान बारत धन-मान-प्रान,
झरना झरत झिग झिंग झिंग जल तरंगिनी ।।
(गी० 2.43.1-2)

चित्रकूट के परिवेश का यह मनोहारी चित्रण सहृदय को आह्लादित करता है। अयोध्या की रमणीयता का तुलसी ने बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है—

कोशल पुरी सुहावनी सरि सरयू के तीर ।
भूपावली-मुकुट मीन नृपति जहां रघुबीर ।।
पुर-नर-नारि चतुर अति, धर्म निपुन, रत नीति ।
सहज सुभाय सकल उर श्री रघुबर-पद-प्रीति ।।
सरल बिसाल बिरा जहीं बिद्रुम-खम्भ सुजोर ।
चारु पाटि पटी मुरट की झरकत मरकत भौंर ।
मरकत भंवर डांड़ी कनक मनि-जटित दुति जगमगि रही ।
पटुली मनहु बिधि निपुनता निज प्रगट करि राखी सही ।।
बहुरंग लसत बितान मुकुतादाम-सहित मनोहरा ।
नव-सुमन-भाल-सुगंध लोभे मंजु गुंजत मधुकरा ।।
(गी० 7.19.1-3)

तुलसी को प्रकृति चित्रण में वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी कि मानवीय सौन्दर्य चित्रण में मिली। हिन्दी साहित्य की प्राचीन परम्परा संश्लिष्ट वर्णन से विमुख थी। प्रकृति चित्रण के नाम पर विभिन्न वस्तुओं की परिगणना मात्र होती थी। कवितावली में अशोक वन का सुन्दर चित्र तुलसी ने खीचा है—

बासव-बरुन-बिधि-बन तें सुहावनो,
दसानन को काननु बसन्त को सिंगारु सो।
समय पुराने पात परत, डरत बाहु,
पालत लालत रति-मार को बिहारु सो॥
देखें बर बापिका तड़ाग बाग को बनाउ,
राग बस भो बिरागी पवन कुमार सो।
सीय की दसा बिलोकि बिटप अशोक तर,
'तुलसी' बिलोक्यो सो तिलक-सोक-सारु सो॥ (क० 5.1)

सीता वट-वर्णन भी दृष्टव्य है—

देवधुनि पास, मुनि बासु, श्री निवासु जहां,
प्राकृत हूं बट-बूट बसत पुरारि हैं।
जोग-जप-जाग को, विराग को पुनीत पीठु,
रागिन पै सीठ डीठि बाहरी निहारिहैं॥
'आयसु', 'आदेस', 'बाबू' भलो-भलो भाव सिद्ध,
तुलसी बिचारि जोगी कहत पुकारि हैं।
रामभगतन को तो कामतरु तें अधिक,
सिय बटु सेयें करतल फल चारि हैं॥ (क० 7.140)

तुलसीदास के स्थान विषयक वर्णन अति सुन्दर हैं। ब्रजभाषा काव्य में ये वर्णन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।

(4) कार्य विषयक

रोचक प्रकरणों की अवतारणा के अन्तर्गत अन्तिम रोचक उद्भावनाएं कार्य विषयक होती हैं। प्रबन्ध रचनाओं में कथा के विकास के लिए कार्य आवश्यक होता है, किन्तु प्रत्येक कार्य रोचक नहीं होता है। कार्य विषयक रोचक प्रसंगों में यज्ञ, यात्रा, मृगया, पुत्र जन्म, अभ्युदय और संग्राम वर्णन आते हैं। तुलसी के काव्य में इन सभी प्रकरणों की सुन्दर अवतारणा द्रष्टव्य है। पुत्र जन्म के अवसर पर अयोध्या का रूप किस प्रकार निखर आया है। अयोध्या वासी कैसे प्रसन्न हैं, द्रष्टव्य है—

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप-सील-गुन-धाम राम नृप भवन प्रगट भए आई।।
अति पुनीत मधुमास, लगन-ग्रह-बार-जोग समुदाई।
हरषवन्त चर-अचर, भूमिसुर तनरुट पुलक जनाई।।
बरषहिं बिबुध-निकर कुसुमावलि, नभ-दुंदुभि बजाई।
कौसल्यादि मातु मन हरषित, यह सुख बरनि न जाई।।

आनन्द की तन्मयता इतनी अधिक है कि अयोध्यावासी स्त्री पुरुष देह दशा को विस्मृत करके आनन्दोत्सव मना रहे हैं। नामकरण संस्कार के अवसर पर अभिव्यक्त तुलसी का कवि कौशल भी द्रष्टव्य है—

बाजत अवध गहागहे अनन्द-बधाए।
नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए।।
पाय रजायसु राय को ऋषिराज बोलाए।
सिष्य-सचिव-सेवक-सखा सादर सिर नाए।।
साधु सुभति समरथ सबै सानन्द सिखाए।
जल, दल, फल, मनि-मूलिका, कुलि-कागज लिखाए।।
गनप-गोरि-हर पूजिकै गोवृन्द दुहाए।
घर-घर मुद मंगल महा गुन-गान सुहाए।। (गी० 1.6-1-4)

यात्रा का प्रसंग तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में अभूतपूर्व बन पड़ा है। वन मार्ग में राम सीता और लक्ष्मण का सौन्दर्य वर्णन करने के लिए तुलसी ने कुछ उठा नहीं रखा है. ग्राम वनिताओं के माध्यम से तुलसी ने अपने हृदय की बातों को उंडेल कर रख दिया है—

कहो सो विपिन हैं धों कैतिक दूरि।
जहां गवन किए, कुंवर कौसलपति, वूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि।
प्रान नाथ परदेस पया देहि चले सुख सकल तजे तृन तूरि।
करौं बयादि, बिलंबिय बिटपतर, झारों हों चरन-सरोरुह धूरि।।
तुलसीदास प्रभु प्रिया बचन सुनि नीरज नयन नीर आए पूरि।
कानन कहाँ आवहिं सुनु सुंदरि, रघुपति फिरि चितए हित भूरि।।
(गी० 2.13.1-3)

राम वन गमन के वर्णन भव्य हैं। तुलसी की प्रौढ़ प्रतिभा ने अपने ब्रजभाषा काव्य में ऐसे अनेक सुंदर प्रकरणों की अवतारणा की है। मृगया विहार के दृश्य भी तुलसी काव्य में दृष्टव्य हैं—

सर चारिक चारु बनाइ कसें कटि, पानि सरासनु सायकु लै ।
बन खेलत रामु फिरें मृगया, 'तुलसी' छबि सो बरने किमि के ।।
अवलोकि अलौकिक रूपु मृगीं मृग चौंकि चकें चितवें चितु दे ।
न डगें, न मगें जियं जानि सिलीमुख पंच धरें रतिनांयकु है ।।
(क० 2.27)

भगवान राम के वन विहार के रोचक दृश्य का वर्णन भी तुलसी ने किया है—

देखे राम पथिक नाचत मुदित मोर ।
मानत मनहु सतड़ित ललित धन, धनु सुरधनु, गरजनि टंकोर ।।
कंपै कलाप बर बरहि फिरावत, गावत कल कोजिल-किसोर ।
जहं जहं प्रभु बिचरत, तहं तहं सुख, दण्डक बन कौतुक न थोर ।।
सघन छांह-तम रुचिर रजनि भ्रम, बदन चन्द चितकत चकोर ।
तुलसी मुनि खग-मृगनि सराहत, भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ।।
(गी० 2.3)

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में युद्ध का वर्णन भी बड़े कौशल के साथ हुआ है—

गहि मन्दर बन्दर-भालु चले, सो मनो उनये घन सावन के ।
'तुलसी' उत झुंड प्रचंड झुके, जपटें भट जे सुर दावन के ।।
बिरुझे बिरुदेत जे खेत अरे, न टरे हठि बेरू बढ़ावन के ।
रनमारि मची उपरी-उपरा भलें बीर रघुप्पति रावन कै ।।
(क० 6.34)

तुलसी का युद्ध-वर्णन उनकी विलक्षण अभिव्यंजना कला का परिचायक है । उसका सादृश्य हिन्दी काव्य में मिलना लगभग असम्भव है । तुलसी ने युद्ध की संकुलता और गहनता को पुरुष वर्णो की योजना के द्वारा साकार कर दिया है । गीतावली में तुलसीदास युद्ध वर्णन को बचा गए हैं ।

कार्य विषयक रोचक प्रसंगों की अवतारणा के अन्तर्गत राम और कृष्ण की बाल क्रीड़ा के विवेचन के बिना यह प्रकरण अधूरा ही रह जाएगा । तुलसी ने बाल क्रीड़ा के अति सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं—

1. पदकंजनि मंजु बनीं पनहीं, धनुहीं सर पंकज-पानि लिएं ।
लरिका संग खेलत डोलत हैं सरजू-तट चौहट हाट हिएं ।।
तुलसी अस बालक सो नहि नेहु कहा जप जोग समाधि किएं ।
नर वे खर सूकर स्वान समान कहो जग में फलु कौन जिएं ।।
(क० 1.6)

2. ठुमकु ठुमकु पग धरनि, नटनि, नरखरनि सुहाई।
भजनि, मिलनि, रूठनि, तूठनि, किलकनि,
अवलोकनि, बोलनि बरनि न जाई ।। (गी० 1.30.3)

इस प्रसंग का यहां जिक्र और भी आवश्यक जान पड़ता है। जिस समय धनुर्भंग होता है, उस समय सम्पूर्ण चराचरा जगत में कैसी खलबली मचती है, इसका भी सुन्दर वर्णन तुलसीदास ने किया है—

डिगति उर्वी अति गुर्वि, सर्व पव्वे समुद्र-सर।
व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर ।।
दिग्गयंद लरखरत परत दसकंधु मुदख भर।
सुर-बिमान हिम भानु भानु संघटत परसपर ।।
चौंकै विरंचि संकर सहित, कोलु कमठु अहि कलमल्यो।
ब्रह्मण्ड खण्ड कियो चण्ड धुनि जबहिं राम सिव धनु दल्यो ।।
(क० 1.11)

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में रोचक प्रकरणों की अवतारणा के अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं। उन प्रसंगों को तुलसी ने अपने काव्य कौशल से अति समृद्ध रूप में सहृदयाह्लाद के लिए प्रस्तुत किया है।

(6) अंगिरस निष्यन्न निकष

अंगिरस निष्यन्दनिकष प्रकरण वक्रता का छठा नियामक है। कुन्तक के अनुसार जहां पूर्व तथ उत्तर (अन्य सब अंगों या प्रकरणों) के असम्पाद्य प्रधान रस के प्रवाह की परीक्षा की कोई अपूर्व कसौटी पायी जाती है, वह अंग आदि की कुछ अलौकिक वक्रता कहलाती है।[1] वह वास्तव में अंगी रस की काष्ठा प्राप्ति की ही अपर संज्ञा है। यह प्रबन्ध-रस के प्रवाह का जीवित ही है। कुन्तक की इस वक्रता का आदृश्य भोज के 'रसभाव निरन्तरत्त्व' नामक प्रबन्ध के अर्थगुण से है। इसमें प्रबन्ध में एक ही रस के योग से आए वरस्य का सहज परिहार हो जाता है। पृथक् भावग्रहण से रसभावों के परस्पर कार्य कारणभाव कहते हुए रसों से भाव और भावों से रस—इस प्रकार के नैरन्तर्य का रसभाव बोध हो जाता हैं। इस प्रकार यह प्रकरण रस काव्य में अनन्य साधारण चमत्कार का विधायक बन जाता है।

गीतावली भावना प्रधान प्रबन्ध मुक्तक काव्य है। अतः तुलसी ने इष्ट राम

1. यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते।
पूर्वोत्तर रस सम्पाद्यः साङ्गादेः कापिवक्रता ।। हि० व० जी० 4.10

के सौन्दर्य शील और शक्ति सम्बन्धी मार्मिक झाँकियां गीतावली में प्रस्तुत की हैं। बालक राम, वन में जाते राम. मृगया करते राम, सुग्रीव के मित्र राम, युद्धभूमि में राम—सभी व्यक्तित्वों के प्रति तुलसी ने अपनी भक्ति को प्रदर्शित की है, साथ ही ग्राम बनिताओं और अन्य पात्रों के द्वारा भी भक्ति प्रदर्शन कराया है। यद्यपि गीतावली में सभी प्रधान रसों का सम्यक् परिपाक हुआ है, पर भक्ति रस सर्वाधिक है। भक्ति भावना की पीठिका पर गीतावली से भक्ति रस के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। विभीषण का मनोराज्य रामभावना में प्रेरित होकर कितना श्लाघ्य बन गया है। उन्हें कुछ भी चाह नही है। उतरे हुए वस्त्र और झूठन खाकर भी चरण-शरण में पड़े रहना चाहते हैं। सुख-स्वार्थों को छोड़कर भक्त जैसा जीवन यापन करने से लोक-धर्म की तुष्टि तो होती ही है, साथ ही आत्म कल्याण भी। देखिए—

महाराज राम पहुं जाऊंगी।
सुख-स्वारथ परिहरि करिही सोइ, ज्यों साहिबहि सुहाउंगी।।
राम गरीब निवाज निवाजिहें, जानि हैं, ठाकुर-ठाउं-गो।
राम धरिहैं नाथ हाथ माथे, ऐहितें केहि लाभ अघाऊंगो?
सपनो सो अपनो न कछू लखि, लघु लालच न लोभाऊंगो।
तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहों, उबरि जूठनि खाऊंगो।।

(गी० 5.30)

भगवान के सम्मुख भक्त के लिए एक ही विशेषता की आवश्यकता है, वह है अपने लघुत्व की भावना। विभीषण राम के प्रति समर्पित है। वह उनकी शरणागत है। गीतावली में राम की भक्त बतसलता और शरणागत की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। विभिन्न अवसरों पर भक्ति रस का प्रतिपादन हुआ है। भक्ति रस का निष्यन्द निकष इन पंक्तियों में प्राप्य है—

तुलसीदास जिय जानि सुअवसर भगति दान तब मांगि लियो।।

(गी० 7.38.11)

यही अंगरिस की चरम काष्ठा है। तुलसी ने भावाभिव्यंजना का सुन्दर प्रतिमान प्रस्तुत किया है।

कवितावली में भी भाव सौन्दर्य प्रचुर मात्रा में प्राप्य है। इसके अंगरिस-भक्तिरस—का निकष निम्न पद में प्राप्य है—

बारि तिहारो निहारि मुहारि भएं परसें पद पापु लहोंगो।
ईसु ह्वै सीस धरों पै डरों, प्रभु की समता बड़े दोष दहोंगो।।
बरु बारहि बार सरीर धरौं, रघुबीर को ह्वै तब तीर रहोंगो।
भागीरथी! बिनवौ कर जोरि, बहोरि न खोरि न लगे सो कहोंगो।।

भगवान राम के दासत्त्व की याचना यहां भी भक्त ने की है।

विनयपत्रिका तो आदि से अन्त तक भक्ति काव्य है। तुलसी के काव्यों में भक्ति रस का जैसा उत्कर्ष विनयपत्रिका में हुआ है, वैसा अन्य किसी काव्य में नहीं। राम के प्रति अनन्य अनुराग और उसकी कृपाकांक्षा की कामना या याचना आदि से अन्त तक पदों में पिरोई हुई मिलेगी। तुलसी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भिक 70 पदों में देवी, देवताओं, तीर्थ स्थानों पवित्र नदियों, (गंगा और यमुना), राम के पार्षदों, श्री विनुमाधव आदि की स्तुतियों और वन्दनाए की हैं। अनन्तर अन्तिम पद तक उन्होंने अपनी विनय भावना राम के चरणों तक पहुंचाने की चेष्टा की है। तुलसी ने अपने आराध्य के स्वरूप को लोकजीवन में व्याप्त देखा है। जीवनोपयोगी आदर्शों से युक्त होने के कारण उनकी लीलाओं ने उन्हें मुग्ध कर लिया है। इस प्रकार राम का स्वरूप और व्यक्तित्व स्वयं ही रंजन का साधन बन गया है। इसी एकमात्र भावना के कारण वह राम के चरणों में केवल अपना अनुराग चाहते है, अन्य किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं—

> चहों न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि, बिपुल बड़ाई।
> हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़े अनुचित अधिकाई ।।

उपर्युक्त भावना में भक्ति का उत्तम आदर्श भरा है जिसकी तुलसी अभिलाषा कर अपने को कृतार्थ करना चाहते हैं। यही भक्ति रस की चरम काष्ठा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में कुन्तक के आधार पर अंगिरस निष्यन्द निकष का अनुसंधान भी असम्भव नहीं है। तुलसी का कर्म कौशल यहाँ पर भी अपने उत्कृष्ट रूप में परिलक्षित होता है।

(7) अवान्तर वस्तु योजना

कुन्तक के अनुसार जिसमें प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अप्रधान वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रतीत होती है, वह भी इसकी ऊपर प्रकार की वक्रता होती है।[1] यह वस्तुतः वस्त्वन्तर वैचित्र्य योजना है। यानी इस प्रकरण वक्रता में वस्त्वन्तर विचित्रता के कारण काव्य अथवा नाटक का आख्यान और भी सुन्दर और सरस बन जाया करता है। यह वस्तुतः प्रासंगिक कथा के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। आधिकारिक कथा के साथ-साथ कुछ ऐसी गौण कथाएं भी आती हैं जो प्रासंगिक कथा कहलाती हैं। ये गौण कथाएं विशेष प्रसंगों में अधिकारिक कथा की सहायता करती हैं। प्रासंगिक कथा वस्तु के लिए नाट्यशास्त्र में आनुषंगिक

---

1. प्रधान वस्तु निष्पत्त्यै वस्त्वन्तर विचित्रता।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सा पराऽप्यस्य वक्रता ।। हि० व० जी० 4.11

कथावस्तु का अभिधान प्रयुक्त किया गया है। दशरूपककार ने इसी बात को दूसरे ढंग से लिखा है कि जो कथा आधिकारिक प्रयोजन के लिए होती है, किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं का फल भी सिद्ध होता है, वह प्रासंगिक कथा है।[1] विश्वनाथ ने भी कहा है कि जो प्रासंगिक इतिवृत्त कहा गया है, वह ऐसा इतिवृत्त हुआ करता है, जो आधिकारिक इतिवृत्त का सहायक हुआ करता है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि प्रासंगिक या आनुषंगिक कथा प्रधान वस्तु की पोषिका और सहायिका होती है। प्रासंगिक कथावस्तु की सार्थकता इसमें है कि वह आधिकारिक वस्तु का अपरिहार्य अंश बन सके। कुन्तक ने अपनी कारिका में वस्त्वन्तर विचित्रता को प्रधान वस्तु की निष्पत्ति से जोड़ दिया है।

कुन्तक ने इस उद्‌भावना को 'पताका प्रकयांदिकल्पनम्' और 'कथान्तरानुषज्जनम्' नाम के दो शीर्षकों के अन्तर्गत पल्लवित किया है। ये प्रबन्ध के दो उभयालंकार माने गए हैं। भोज ने अपने 'श्रृंगार प्रकाश' के एकादश प्रकाश में लिखा है कि बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य परिकल्पन से जहां पांचों की अर्थ प्रकृति का बोध होता है तथा ये जहां वासना रूप में पाए जाते हैं, उसे बीज कहते हैं।[3] उसी प्रकार कथा में कथा का आ जाना कथां तरानुषज्जन कहलाता है। शर्त यह है कि वह कथा का विरोधी न हो।[4] इस इस प्रकार कुन्तक की वस्त्वन्तर विचित्रता को ही किसी ने 'आनुषंगिक कथा', किसी ने 'प्रासंगिक कथा' और किसी ने 'कथान्तरानुषंजन' कहा है। कथा निर्माण के क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय उद्‌भावना है। इसका प्रथम श्रेय भरत को है। भरत की रससिद्ध दृष्टि ने इनका प्रथम साक्षात्कार किया था। कवि का कार्य एक महान कार्य का विकास दिखलाना होता है। और तो और, उस कार्य में आए हुए विघ्न को भी उस कार्य का पोषक ही बनकर आना पड़ेगा। यदि कवि दो कार्यों पर समान शक्ति से काम करेगा, तब उससे काव्य अथवा नाटक की अन्विति नष्ट हो जाएगी। तब यह एक काव्य या नाटक न होकर दो हो जाएगा। यदि कई कार्य आते हैं तो उन्हें एक महत कार्य की निष्पत्ति में सहायक बनना ही पड़ेगा। वह वस्त्वन्तर विचित्रता का वास्तविक स्वरूप है।

गीतावली की कथा सीधी तथा सरल है—(1) राम जन्म की बधाई, लाड़-प्यार, विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण का गमन, अहल्या का उद्धार, जनकपुर में पदार्पण, फुलवारी में सीता-राम का परस्पर दर्शन, धनुर्भंग, विवाह, बारात की

---

1. प्रासंगिक पदार्थस्य स्वार्थोयस्य प्रसंगतः। दशरूपक 1.13
2. हिन्दी साहित्य दर्पण, 6.44
3. श्रृंगार प्रकाश, द्वितीय भाग पृ० 477
4. वही, पृ० 478

वापसी, (2) अभिषेक की तैयारी, राम वन गमन, पन्थ कथा, चित्रकूट वर्णन, कौशल्या की विरह व्यथा, दशरथ-मरण, भरत का आगमन, चित्रकूट को प्रस्थान, भरत-राम-मिलन, राम-विधुरा अयोध्या, (3) राम का वन-विहार, मारीच-वध, सीताहरण, जटायु-रावण युद्ध, राम की वियोग-वेदना, जटायु मिलन, शबरी से भेंट, (4) सीता की खोज के लिए वानरों का प्रस्थान, (5) अशोक वाटिका में हनुमान, रावण से भेंट, सीता से विदा, राम के पास प्रत्यागमन, लंका पर चढ़ाई, रावण की मन्त्रणा, विभीषण शरणागति, सीता-त्रिजटा-संवाद, (7) मन्दोदरी द्वारा रावण को उपदेश, अंगद का दूत कर्म, लक्ष्मण मूर्च्छा, विजयी राम, अयोध्या में राम का आगमन, राज्याभिषेक, (7) राम राज्य, राम की रूप माधुरी, हिंडोला, अयोध्या की शोभा, दीपमालिका, वसन्त विहार, आनन्दोत्सव, राम की न्याय निष्ठता, सीता-निर्वासन, लवकुश जन्म, कथासार संग्रह।

गीतावली की मुख्य कथा है राम, वनवास, सीताहरण, राम-रावण युद्ध, राम की विजय और अयोध्या में वापसी तथा राज्याभिषेक। यही मुख्य कथा भी है। इसी को आधिकारिक कथा के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रासंगिक, अवान्तर, हेतु तथा अन्तः कथाएं भी इस मुख्य कथा में अनुस्यूत हैं और जैसी कि कुन्तक की मान्यता है कि जहां प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अप्रधान वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रतीत होती है, वहां काव्य सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। यह वस्त्वन्तर वैचित्र्य वक्रता 'जटायु-प्रसंग' से निखर उठी है। दशरूपककार ने कहा है कि जो कथा आधिकारिक प्रयोजन के लिए होती है तथा जिसमें स्वयं का भी फल सिद्ध होता है, वह प्रासंगिक कथा है। यहां जटायु-प्रसंग आधिकारिक कथा में योगदान के साथ स्वयं का भी फल प्राप्त करता है। जटायु को भगवान राम की गोद में सद्गति प्राप्त होती है।

विनयपत्रिका तुलसीदास की भक्ति भावना की परम परिणति है। काव्य रसिक समालोचक के सौन्दर्य परक साहित्यिक मानदण्ड से भी यह कालजयी ग्रन्थ है। आत्म निवेदन की दृष्टि से यह अभूतपूर्व है। इसमें विभिन्न कथाएं अनुस्यूत हैं जो इसकी शोभा में वृद्धि करती हैं। कोई व्यवस्थित आधिकारिक कथा न होने के कारण गौण कथाओं का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। फिर भी ये कथायें विनय-पत्रिका की जो आत्मनिवेदन की मूल कथा है, उसकी पोषिका ही हैं। कलिवर्णन को हम प्रासंगिक कथा का सुन्दर उदाहरण मान सकते हैं।

कवितावली की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—1. बाल रूप की झांकी, बाल लीला, धनुभंग, परशुराम लक्ष्मण सम्वाद, 2. वन गमन, गुह का पाद प्रक्षालन, वन के मार्ग में, वन में, 3. मारीचानुधावन, 4. समुद्रोल्लंघन, 5. अशोक वन, लंकादहन, सीताजी से बिदाई, भगवान राम की उदारता, 6. राक्षसों की चिन्ता,

त्रिजटा का आश्वासन, समुद्रोत्तरण, अंगद जी का दूतत्व, रावण और मन्दोदरी, राक्षस वानर संग्राम, लक्ष्मण मूर्च्छा, युद्ध का अन्त, 7. राम की कृपालुता, केवल राम ही से मांगो, उद्बोधन, विनय, राम प्रेम ही सार है, नाम-विश्वास, कलि-वर्णन, राम नाम महिमा, राम गुणगान, रामप्रेम की प्रधानता, रामभक्ति की याचना, प्रभु की महत्ता और दयालुता, गोपियों का अनन्य प्रेम, विनय, सीता वट वर्णन, चित्रकूट वर्णन, तीर्थराज सुषमा, श्री गंगा माहात्म्य, अन्नपूर्णा माहात्म्य, शंकर स्तवन, काशी में महामारी और विविध। इस कथासार में राक्षसों की चिंता और रावण मन्दोदरी प्रसंग अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। ये राम की महानता और भक्त वत्सलता को प्रदर्शित करते हैं। साथ ही सहृदय की सहानुभूति उन राक्षसों पात्रों को भी मिलती है जो राम में भक्ति प्रदर्शित करते हैं। मूल कथा का उद्देश्य राम में भक्ति भाव की स्थापना है। ये कथायें इस उद्देश्य में सहायक हैं। उत्तरकाण्ड में विषयों की विविधता है। कुछ ऐसे पद संकलित हैं जिनका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। भक्तिभाव की स्थापना में अर्थात् काव्य के मूल उद्देश्य में वे भी सहायक हैं। कवितावली में कथा प्रवाह हमें अवचेतन मन में विद्यमान राम की धारणा के कारण मिलता है अन्यथा इसकी कथा व्यवस्थित नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में अवान्तर वस्तु योजना भी अपने उत्कृष्ट रूप में प्राप्य है। तुलसी का ब्रजभाषा काव्य हर दृष्टि से समृद्ध है। उसको आलोचना-पद्धति के किसी भी निकष पर हम कसें, वह सर्वत्र ही खरा निकलता है।

8. प्रकरणान्तर की योजना

कुन्तक के अनुसार सामाजिकों के मनोरंजन में निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक का रूप धारण कर अन्य नटों को नट बनाकर, कहीं एक नाटक के भीतर जो दूसरा नाटक प्रयुक्त किया जाता है, वह समस्त प्रसंगों की सर्वस्वभूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट करता है।[1] यही प्रकरण में प्रकरणान्तर की योजना है। रूपक प्रबन्ध के किसी अंक में विन्यस्त गर्भांक के प्रदर्शन में रूपक के मुख्य नट तो सामाजिक की भूमिका ग्रहण कर लेते हैं और शेष नट अभिनय करते हैं। इस योजना का आकर्षण वस्तुतः मनुष्त के मनोविज्ञान में प्रच्छन्न है। भोज ने इसी का

---

1. सामाजिक जनाह्लाद निर्माण निपुणैर्नटैः।
तद्भूमिकां समस्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्॥
क्वचित् प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्।
सर्वप्रबन्ध सर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम्॥ हि० व० जी०, 4.12-13

विवेचन प्रबन्ध के उभयालंकार के गर्भांक विधान के रूप में किया है। भोज के अनुसार नाटकों में अंकों के बीच में आने वाला वह अंक जो कि बीजार्थ से युक्त होता है, उसे गर्भांक कहते हैं और वहीं अंकावतार भी कहा जाता है।[1] भोज और कुन्तक दोनों ने राजशेखर के बालरामायण का 'सीता स्वयंबर' वाला ही दृष्टान्त दिया है। गर्भांक की ऐसी योजना उन प्रबन्धों में ही सम्भव है जिनमें कथा विस्तार पर्याप्त हो। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य गीति प्रधान काव्य हैं। इनमें गर्भांकों का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

संधि विनिवेश

प्रबन्ध काव्यों में नाटकीय तत्वों का समावेश एक कलात्मक विवशता है। इसक अभाव में प्रवन्ध काव्य प्रभावशाली नहीं होते। नाटकों की रचना में पंच-संधियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्याचार्यों ने प्रबन्ध काव्यों में भी सर्वे नाटक संधयः'[2] का विधान किया है। संधियों का समावेश अर्थ प्रकृतियों को संयोजित करने के लिए किया जाता है। अतः नाटकों और प्रबन्ध काव्यों में पूर्वापर अन्वित क्रम की समुचित स्थापना के लिए संधियों का विधान आवश्यक है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य—ये पांच अर्थ प्रकृतियां जब क्रमशः आरम्भ यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम अवस्थाओं से मिलती हैं, तब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण संधियों का आविर्भाव होता है।[3] स्पष्ट ही है कि नाटक और प्रबन्ध काव्य की प्रकृति तथा अवस्थाओं के सम्मिश्रण से सन्धियों का आविर्भाव होता है। कुन्तक कहते हैं कि मुख, प्रतिमुख, सन्धि आदि के यथोचित सन्निवेश भी प्रकरण वक्रता का एक अन्तिम प्रकार है।[4] अभिप्राय यह है कि प्रबन्ध में आगे के प्रकरण उत्तरवर्ती प्रकरणों के साथ सरलापूर्वक सन्धि सम्बन्ध के प्राप्त होने से, कथा निर्माण में सौन्दर्य का समावेश कर कवि की प्रतिभा की प्रौढ़ता से उद्भावित वक्रता को पुष्ट करते हैं। यह वस्तुतः कथा का सुसंघटन ही है। कुन्तक

---

1. शृंगार प्रकाश, जिल्द 2, पृ० 477
2. हिन्दी साहित्य दर्पण (डा० सत्यव्रत सिंह), 6.317
3. अर्थ प्रकृतयः पंच पंचावस्था समन्विताः।
   यथासंख्येन जायते मुखाद्या पंचसंधयः।। हिन्दी दशरूपक 1.22
4. मुखाभिसंधिसन्ध्यादिसंविधानकबन्धुरम्।
   पूर्वोत्तरादिसङ्गत्या अङ्गनां सन्निवेशनम्।
   न त्व मार्गं ग्रहग्रस्त ग्रहकाण्ड कदर्थितम्।।
   वक्रतोल्लेख लावण्यमुल्लासति नूतनम्।। हि० व० जी० 4.14-15

के शब्द खण्ड 'संविधानक बन्धुरम्' के समतोल में भोज ने 'सम्यक् लक्षण योगेन संविधान सूत्रता'[1] पदोच्चय दिया और इस प्रकार वक्रता के समान ही भोज ने 'बीज बिनु श्लाका प्रहरी कार्योपकल्पनम्' की महिमा पर प्रकाश डाला है। भोज के प्रबन्ध के शब्द गुण सुसंश्लिष्ट संधित्व में भी इसका सादृश्य ढूंढा जा सकता है।

तुलसी के व्रजभाषा काव्य में सन्धि विनिवेश के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्य हैं। गीतावली में सभी सन्धियों का समुचित नियोजन खोजा जा सकता है। धनंजय के अनुसार मुख संधि नाटक के वृक्ष का वह स्थल है, जहां से विविध उपकथाओं, रसों और वस्तुओं की उद्भावना होती है। अभिनवगुप्त ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मुख सन्धि से अभिप्राय रस और भाव प्रधान रस अर्थ राशि से है, जिससे किसी रूपक का उपक्रम किया जाता है। मुख सन्धि का नाटक में वही स्थान होता है, जो नैयायिकों के यहां प्रतिज्ञा का होता है। गीतावली के बाल-काण्ड में जब दशरथ विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण को भेजना स्वीकार कर लेते हैं, तब वहीं मुख सन्धि का उपयुक्त स्थल उपस्थित होता है। यहां प्रारम्भ कार्यावस्था की अर्थ प्रकृति बीज से मुख-सन्धि का स्वरूप उपस्थित हुआ है। दशरथ के इसी निर्णय से आगामी घटना का सूत्रपात होता है। दुष्टों के नाश और साधुओं के त्राण के प्रति औत्सुक्य यहां पर स्पष्ट है। धनुर्यज्ञ तक की घटनायें इसी के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे काण्ड में प्रतिमुख सन्धि है। प्रतिमुख संधि का वह अंश होता है, जहां बीज थोड़ा लक्ष्य और थोड़ा अलक्ष्य हुआ करता है। इसी से प्रयत्न कार्यावस्था का बिन्दु अर्थ प्रकृति से नियोजन होता है। इस दृश्य में एक ओर राम का मोह है और दूसरी ओर बचन बद्धता। अन्य जन भी राम को वन न जाने की सलाह देते हैं। वन गमन, चित्रकूट, वन-विहार आदि प्रसंग इसी के अन्तर्गत आते हैं। यहां पर कार्य प्रयत्न की ओर उन्मुख हैं। तीसरे काण्ड में गर्भ सन्धि है। गर्भ संधि वह स्थल है जहां प्रतिमुख संधि में किंचित प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। यह सन्धि कार्यावस्था की प्राप्त्याशा स्थिति की है। पताका अर्थ प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करती है। इस काण्ड में मारीच, वध सीता हरण, जटायुवध, शबरी से भेंट आदि पताका कथायें हैं। सीताहरण की घटना से कथांश आगे बढ़ता है और प्राप्त्याशा का जन्म होता है। इसके बाद से लेकर सुग्रीव मैत्री, राम की युद्ध यात्रा, सेतु बन्धन, विभीषण मैत्री, लक्ष्मण मूर्च्छा और चेतना आदि सभी घटनाएं विमर्श संधि के अन्तर्गत आती हैं। विमर्श सन्धि में बीज का अधिक विस्तार होकर उसमें फलोन्मुखता आ गई है। किन्तु यह फलोन्मुखता लक्ष्मण मूर्च्छा आदि से बाधित रहती है।

---

1. शृंगार प्रकाश, जिल्द 2, एकादश प्रकाश, पृ० 461

प्रकरी अर्थ प्रकृति से यह सन्धि संयोजित है। इसके बाद राम की विजय और अन्त तक राम चरित के उल्लेख तक निर्वहण सन्धि है। यहीं पर फलागम होता है। रामराज्य की स्थापना होती है। विभीषणादि को भी मनोवांछित मिलता है। तुलसी को भी भक्ति दान की प्राप्ति होती है। यहीं कार्य की सिद्धि पूरी तरह हो जाती है। इस प्रकार गीतावली में किसी सीमा तक सभी नाट्य संधियों का नियोजन होता है। कवितावली और विनयपत्रिका में भी ये सन्धियां खोजी जा सकती हैं, पर वहां इनका इतना सुन्दर प्रयोग नहीं है, जितना कि यहां पर है।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में प्रकरणों के सौन्दर्य खूब निखरा है। प्रकरण सौन्दर्य से प्रवन्ध सौष्ठव भी आह्लादकारी बन सका है। प्रबन्धों के सागर में प्रकरणों का सौन्दर्य तरंगमालिका की भांति प्रसारित और समाहित रहता है। तुलसी एक भाव प्रवण कवि हैं। उनका जीवनानुभव व्यापक है। वे प्रत्येक स्थिति में अपने आपको ढाल कर सहृदय-संवेद्य रचना करने में तथा भावानुकूल रचना करने में सिद्धहस्त हैं। अनुभवों की प्रामाणिकता और कल्पना का योगदान उनके ब्रजभाषा काव्य को सहृदयाह्लादकारी वना देते हैं। आचार्य कुन्तक द्वारा निर्धारित प्रकरण-वक्रता के सभी प्रकार सामान्यत: तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में उपलब्ध हैं। मार्मिक प्रसंगों की पहचान, उनकी अभिव्यंजना तथा विभिन्न अलंकारों के प्रयोग से विषय वस्तु की अतिरंजना में, वे अद्वितीय हैं। उनके ब्रजभाषा काव्य में कुछ विषयों का बार-बार वर्णन होने पर भी उनमें पुनरुक्ति दोष नहीं आ सका है। उनकी रससिद्ध दृष्टि ओर अलंकारों के रमणीय प्रयोग के कारण प्रत्येक पद में नवता आ गई है और इसीलिए वे सहृदयाह्लादकारी हैं तुलसी प्रकरण योजना में अप्रतिम हैं।

9

प्रबन्ध-वक्रता

समस्त प्रबन्ध कौशल का ही दूसरा नाम प्रबन्ध वक्रता है। यह कवि अथवा नाटककार की निर्माण कुशलता और प्रतिभा का परिचायक है। प्रबन्ध निर्माण का कौशल पद, पदांश और वाक्यादि के कौशल से कहीं ऊपर है। बड़ी क्षमता वाले कवि ही प्रवन्ध निर्माण में समर्थ होते हैं। कुन्तक ने प्रबन्ध वक्रता के जिन छह उपभेदों की चर्चा की है, उन्हीं के प्रकरण में हम तुलसी के ब्रजभाषा प्रबन्ध-काव्यों में एतद्विषयक सौंदर्य पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं।

प्रबन्ध-रस-परिवर्तन-वक्रता

आचार्य कुन्तक ने प्रबन्ध-रस--परिवर्तन वक्रता को प्रबन्ध वक्रता का पहला भेद माना है। रस प्रबन्ध काव्य का सबसे मूल्यवान उपकरण है। समग्र कथा का विधान प्रबन्धकार कवि रस-निषेक के लिए ही किया करता है। कवि को चर्वित चर्वण से संतोष नहीं होता और वह अपने इस्ट रस के सम्पादन में प्रस्तुत कथा में ही परिवर्तन उपस्थित कर देता है। नव्य निर्माण की आकांक्षा से कवि प्राचीन कथा में परिवर्तन करता है। कुन्तक के अनुसार जहां इतिहास में अन्य प्रकार से निरूपण किए हुए रस की उपेक्षा करके अन्य रस से कथा की समाप्ति के लिए कथा विधान में आमूल परिवर्तन किया जाय, वहां प्रबन्ध वक्रता होती है। कुन्तक ने इस प्रसंग में उत्तररामचरित तथा वेणीसंहार को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उत्तररामचरित और वेणीसंहार के आधार ग्रन्थ क्रमशः रामायण और महा-भारत हैं। रामायण और महाभारत का अंगीरस शान्त है, किन्तु उत्तररामचरित तथा वेणीसंहार' का अंगीरस क्रमशः करुण और वीर है। इस प्रकार इन दोनों काव्यों में प्रबन्ध रस परिवर्तन वक्रता के उदाहरण मिलते हैं।

प्रबन्ध-रस-परिवर्तन वक्रता की दृष्टि से तुलसी ब्रजभाषा काव्य-गीतावली, कवितावली और विनयपत्रिका अन्यतम हैं। प्रबन्ध काव्य में, विशेष करके महाकाव्य

में अनेक रसों की निबन्धना की जाती है और घनीभूत प्रभाव के लिए किसी रस को अंगीरस या मुख्य रस के रूप में निबद्ध करने पर बल दिया जाता है। मुख्यतः श्रृंगार वीर या शान्त या करुण रस की अंगीरस के रूप में योजना की जाती है। तुलसी ने अपने काव्यों में भक्ति रस की अंगीरस के रूप में योजना की है। तुलसी ने अन्य रसों का सर्वथा निरस्कार किए बिना ही भक्ति रस की मुख्यता प्रतिपादित की है। उन्होंने इस सिद्धान्त को व्यवहार में उतारा है। अंगीरस के रूप में भक्ति रस का सफल विधान करके उन्होंने काव्यशास्त्र की रूढ़ मान्यता के विरुद्ध एक नया मापदण्ड स्थि किया। तुलसी के सम्पूर्ण काव्य का अंगीरस भक्ति रस है। श्रृंगार आदि रसों का निरूपण अंगरूप में ही हुआ हैं। किसी भी रचना में और किसी भी स्थल पर कवि के मानस से स्थायी भगवद्रति तिरोहित नहीं हुई है।

तुलसी की रामकथा के मुख्य स्रोत-ग्रन्थ अध्यात्म रामायण और बाल्मीकि रामायण है। इनका मूल रस शान्त है। तुलसी ने अपने राम काव्यों में, गीतावली, कवितावली और विनयपत्रिका सभी में भक्तिरस की अजस्र धारा प्रवाहित करके प्रबन्ध-रस-परिवर्तन वक्रता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। तुलसी की मौलिकता इसी में है कि रसपरिवर्तन करके अपनी कृति को इतना मनोभाव बना देते हैं कि लगता ही नहीं कि उस कथानक को किसीं और तरह भी पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। तुलसी प्रौढ़ प्रतिभा के द्वारा प्रबन्ध रस परिवर्तन के कारण समस्त ब्रजभाषा काव्य आस्वाद्य बन पड़ा है।

2. समापन वक्रता

समापन सौंदर्य प्रबन्ध वक्रता का दूसरा नियामक है। कोई महाकवि किसी इतिहास प्रसिद्ध सम्पूर्ण कथा को प्रारम्भ करके भी सारे संसार को विस्मय में डालने वाले नायक के अनुपम यश को प्रदर्शित करने वाले किसी एक देश से ही निरसता के परिहार के हेतु यदि कथा को समाप्त कर देता है, तो यह समापन वक्रता होती है। वस्तुतः समापन वक्रता का सम्बन्ध कवि की जीवन दृष्टि और रस दृष्टि से होता है। कवि प्रसिद्ध कथा को आधार बनाकर अपनी बात को प्रस्तुत करता है। वह उन अंशों को छोड़ देता है जिनसे उसकी सिद्धि न होती हो। इसी प्रकार रसदृष्टि भी कथा संस्कार में एक आवश्यक तत्त्व है। नीरस अंशों को अपनीं रचना में स्थान न देने की भावना से ही वह कभी-कभी अपनी रचना को पूरी कथा की समाप्ति से पहले ही समाप्त कर देता है। तुलसी ने रामचरित मानस में सीता परित्याग की कथा से पहले ही अपनी रामायणी कथा का समापन कर दिया है। कवि ने जीवन दृष्टि और रस दृष्टि के अनुकूल एक उपयुक्त प्रसंग ढूंढकर कथा को समाप्त कर दिया है। समापन वक्रता कीं दृष्टि से तुलसी के ब्रजभाषा काव्य का अपना विशेष महत्त्व है।

कवितावली में भी तुलसीदास सीता वनवास के प्रसंग को बचा गए हैं। यह समापन वक्रता का सुन्दर उदाहरण है। यहां पर इतिहास के एक देश से ही कथा की परिसमाप्ति बड़ी कलात्मक बन पड़ी है। कवितावली की कथा का अन्त तो स्पष्टत: युद्ध के अन्त के साथ ही हो जाता है पर उधर काण्ड में वर्णित विषयों की भी अपनी महत्ता है। उत्तर काण्ड का समापन भी तुलसी ने बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया है। यहां पर कलि का प्रभाव, शिवजी का कोप और भयभीतों की रक्षा करने वाले राम की करुणा का वर्णन करके समापन में एक विशेष सौंदर्य को भर दिया है। यह समापन कला का एक उत्कृष्ट रूप है।

गीतावली की कथा का क्षेत्र व्यापक है। वहां भी कथा को समाप्त करते समय तुलसी ने 'तुलसीदास जिय जानि सुअवसर भगति दान तब मांगि लियो' लिखा है। यह वस्तुत: भक्ति के माहात्म्य की स्थापना है जिसने कथा के समापन को विशेष सौंदर्य से आपूरित कर दिया है। इस काव्य में तुलसी ने सीता-वनवास जैसे कष्टदायक प्रसंग को स्थान दिया है। पर पिता की आयु के भोग का समाधान प्रस्तुत करके तुलसी ने इस अंश को भी मर्यादा प्रदान कर दी है।

विनयपत्रिका तुलसी का एक अनूठा काव्य है। इसका प्रारम्भ गणेश बन्दना से होता है और समापन पुनः राम भक्ति से। 'मुदित माथ नाथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है।' इस ग्रन्थ की यह अन्तिम पंक्ति तुलसी की राम के प्रति पूर्णत: समर्पण की भावना को अति सुन्दर रूप से चित्रित करती है। यही है समापन का सौन्दर्य जिससे तुलसी ने अपने काव्य में उभारा है। इससे रस-निषेक और भी सरल हो जाता है।

श्रीकृष्ण गीतावली एक लघु ग्रन्थ है। इसमें कवि ने कृष्ण को अपना इष्ट माना है और कृष्णलीला का वर्णन करना ही कवि का मूल प्रतिपाद्य है, पर यहां भी कवि अपने प्रमुख उद्देश्य को भूले नहीं हैं। भगद्विषयक रति यहां पर भी स्थापित है। कृष्ण कथा के प्रमुख प्रसंगों का वर्णन करने के पश्चात् तुलसी ने इसके समापन में भी एक अपूर्व सौंदर्य को भर दिया है—

जुग जुग जग साके केसव के,
समन कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति,
कृष्न कृपालु भगति पथ राजी॥ (कृ० 61.5)

तुलसी ने कहा है कि कृपालु भगवान श्रीकृष्ण की कीर्ति सुनकर प्रत्येक उनके भक्ति के पथ पर प्रसन्नता से चल पड़ेगा। तुलसी का यही प्रतिपाद्य है। समापन का प्रभाव विशेष होता है। इस अंश पर कथा की समाप्ति करके तुलसी ने काव्य कोअपूर्व विच्छित्ति प्रदान की है। तुलसी की परिसमाप्ति की कला में एक विशिष्ट

आभा विद्यमान है। कथा की समाप्ति का प्रभाव सहृदय के ऊपर स्थायी होता है। तुलसीदास इस कला में सिद्धहस्त हैं। उनके सभी ब्रजभाषा कथा काव्यों में समापन-वक्रता का सौंदर्य विद्यमान है।

3. कथा विच्छेद वक्रता

कथा विच्छेद भी काव्य में सौंदर्य का विधायक होता है। इसके द्वारा प्रबन्ध काव्य में एक विशेष सौंदर्य आ जाता है। जो सौंदर्य पूर्वोत्तर कथा के पूर्ण निर्वाह से भी नहीं आ पाता, वह कथा विच्छेद के द्वारा आ जाया करता हैं। कथा विच्छेद से प्रवन्ध सौंदर्य वहां बढ़ता है जहां नायक अपने व्यक्तित्व के अनुरूप अपने मुख्य उद्देश्य के स्थान पर किसी ऐसे आनुषंगिक उद्देश्य की ओर उन्मुख वर्णित किया जाता है, जिससे अन्ततः मुख्य उद्देश्य की सिद्धि व्यंजित हो जाती है। कुन्तक के अनुसार 'प्रधान वस्तु के सम्बन्ध को तिरोहित कर देने वाले किसी अन्य कार्य के व्यवधान से विच्छिन्न हो जाने से विरस हुई कथा वहां ही उस (प्रधान कार्य) की मानों सिद्धि हो जाने से अबाध रस से उज्ज्वल प्रबन्ध की किसी अनिर्वचनीय वक्रता को उत्पन्न करती है।[1] इसका सारांश यह हुआ कि जो मुख्य कथा अपने बाधक से प्रतीत होने वाले अन्य कार्य के व्यवधान से तुरन्त टूट जाने के कारण साधारणतः समाप्त प्राय (अलब्धावकाश) होने पर भी (वास्तव में स्वयं ही) आगे बढ़ जाती है। वह इस प्रकार के अप्रस्तुत कार्य से वस्तुतः विच्छिन्न न होकर उसके प्रकृत कार्यँ में सहायक होने से प्रस्तुत कार्य की पूर्णता के कारण कमल के उज्ज्वल रस से भरी हुई सी रमणीयता से मनोहर काव्य (प्रबन्ध) की वक्रता को उत्पन्न करती है।[2]

कथा विच्छेद का सोंदर्य मनोवैज्ञानिक है। यह स्वयं प्रबन्ध रस से अनुप्राणित होता है और प्रबन्ध रस के चमत्कार का परिपोषण भी करता है। मनुष्य का मन आकस्मिकता से उद्दीप्त होता है। नाटकीयता के मूल में भी यही प्रवृत्ति काम करती है। नाटकीयता वहीं होती है जहां आकस्मिकता और झटके होते हैं। डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि 'आकस्मिकता विस्मय को उद्‌बुद्ध करती है, एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित होता है उत्तरवर्ती घटनाओं का त्याग कल्पना को उत्तेजित करता है और ये तीनों गुण मिलकर कथा के प्रति पाठक के अनुराग की परिवृद्धि करते हैं।

---

1. प्रधान वस्तु संबन्धतिरोधान विधायिना।
   कार्यान्तरान्तरायेणविच्छिन्न विरसा कथा ॥
   तत्रैव तस्य निष्पत्तैः निर्निबन्ध रसोज्ज्वलाम्।
   प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम् ॥ हि० क० 4.20-21
2. हि० व० जी० 534-35

यही इन वक्रताओं का मूल रहस्य है।[1]

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में इस प्रकार की कथा विच्छेद वक्रता के सुन्दर उदाहरण प्राप्य नहीं हैं। श्रीकृष्ण गीतावली एक छोटा सा ग्रन्थ है। इसके आधार ग्रन्थ भागवत पुराण और महाभारत हैं। महाभारत के आधार पर इस ग्रन्थ के कलेवर को बहुत बड़ा किया जा सकता था पर कवि ने कृष्ण की बाललीला, गोपी उपालम्भ, वंशीवादन तथा शोभा वर्णन आदि प्रसंगों के पश्चात् गोपी-विरह की अभिव्यंजना करके भक्त-मर्यादा-रक्षण प्रसंग का वर्णन करने के साथ ही साथ कथा को समाप्त कर दिया है। श्रीकृष्ण की विमल कीर्ति का वर्णन इस प्रसंग में हुआ है। यहां पर आकस्मिक घटनाओं का वर्णन विस्मय को उद्‌बुद्ध करता है और एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित होता है। उत्तरवर्ती घटनाओं का परित्याग कल्पना को उत्तेजित करता है। कथा के प्रति पाठक का अनुराग बढ़ जाता है।

कवितावली में राम कथा के अनुपेक्षणीय अंश, राम का प्रत्यागमन, सिंहासनारोहण, रामराज्य स्थापना आदि का आख्यान कवि ने नहीं किया है। वस्तुतः राम का चरित्र युद्ध में रावण के वध के पश्चात् उस ऊंचाई पर पहुंच जाता है कि आगे कथा के विस्तार की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। यह कथा विच्छेद वक्रता का एक सुन्दर उदाहरण है। गीतावली एक विस्तृत काव्य है। उसमें लगभग सभी घटनाओं का समावेश हो गया है। रामकथा का पूर्ण एवं विशद वर्णन वहां पर उपलब्ध है। उसमें कथा विच्छेद वक्रता नहीं है।

तुलसीदास कथा विच्छेद वक्रता के सौंदर्य से पूर्णतः परिचित हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण गीतावली ओर कवितावली के माध्यम से वे सहृदय को काव्य के प्रति अनुरक्त करने में सफल हुए हैं। विस्मय, एकाग्रता और कल्पना के सुन्दर सामंजस्य से उनका ब्रजभाषा काव्य रमणीक बन पड़ा है। कथा विच्छेद वक्रता की दृष्टि से भी ब्रजभाषा काव्य की रचना में वे सफल हुए हैं।

4. आनुषंगिक फल-वक्रता

आनुषंगिक फल योजना द्वारा प्रबन्ध में सौंदर्य का आधान आनुषंगिक फल वक्रता कहा जाता है। कुन्तक के अनुसार एक ही फल की प्राप्ति के लिए समुद्यत नायक उसी के समान आदर योग्य अनन्त फलों में अपने प्रभाव के चमत्कार से प्राप्त होने वाले अशेष यश का भाजन होकर इस आनुषंगिक फल वक्रता का कारण बनता है।[2] कवि अपने नायक को किसी एक फल की ओर प्रयत्नशील चित्रित

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 285
2. यत्रैक फल सम्पत्ति समुद्युक्तोऽपि नायकः।
फलन्तिरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषुः॥

करता हैं, परन्तु उसे अयाचित रूप से अनेक फलों की प्राप्ति हो जाती है। इस फल वक्रता के कारण सम्पूर्ण प्रबन्ध चमत्कृत हो जाता है। रस निषेक के लिए यह आवश्यक उपादान है। नायक को जो अनन्त फलों को उपलब्धि होती है, यह वस्तुत: आधिकारिक फल के समान ही स्पृहणीय होती है।

तुलसी का काव्य फलक बहुत ही व्यापक है इसमें नायक को अनेक आनुषंगिक फलों की प्राप्ति होती है। गीतावली में राम लक्ष्मण को विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए जाते हैं, पर जाते समय मार्ग में अहल्योद्धार उनके यज्ञ को बढ़ाता है और जनकपुर आगमन, धनुभंग तथा फलस्वरूप सीता को पत्नी रूप में प्राप्ति आनुषंगिक फल वक्रता का सुन्दर उदाहरण है वन में सीताहरण होने के पश्चात् राम का नायक रूप में प्रमुख उद्देश्य सीता को प्राप्त करना है, पर साथ ही बालिवध और सुग्रीव को राज्य देना, रावण का वध और विषीषण को राज्य देना आदि कृत्य दुष्टों के संहार तथा सज्जनों के परित्राण के रूप में आनुषंगिक फल वक्रता के सुन्दर उदाहरण हैं।

इसी प्रकार कवितावली में भी राम को मुख्य उद्देश्य की ओर उन्मुख होते हुए भी मार्ग में अनेक फलों की प्राप्ति होती चलती है।

विनयपत्रिका में भक्त तुलसीदास का इष्ट राम चरणों में भक्ति है पर उसे धर्म अर्थ काम मोक्षादि पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति की ओर उन्मुख देखा जा सकता है।

राम का व्यक्तित्व अनेक फलों की प्राप्ति से अत्यन्त गरिमामय रूप में उपस्थित होता है इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने अपने ब्रजभाषा काव्य में आनुषंगिक फल-वक्रता की योजना करके काव्यशोभा में अपूर्व वृद्धि की है।

5. नामकरण वक्रता

प्रबन्ध-विधान का आभ्यातरिक तत्व नहीं है, किन्तु नामकरण के सौष्ठव से प्रबन्ध के प्रतिपाद्य का स्वरूप बहुत कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है। सही अभिधान का अनुसंधान केवल वही रचनाकार कर सकता है, जिसे अपने प्रतिपाद्य पर पूर्ण अधिकार हो। अभिधान के निर्धारण में वह इस बात पर ध्यान देता है कि नामकरण से ही मुख्य प्रतिपाद्य का अधिकाधिक बोध हो जाए। कृति के प्रतिपाद्य को प्रेरित करने वाली किसी घटना की सूक्ष्म रूप-रेखा, अभिधान में आभासित हुआ करती है। कृति के अभिधान में उनकी आत्मा का पर्याप्त ध्वनन होता है, उसे कोरा नामकरण मान लेना ठीक न होगा। कवि अपने काव्य जगत का प्रजापति

धते निमित्ततां स्फारयशः सम्भारभाजनम्।
स्वमाहात्म्य चमत्कारात् सापराचास्य वक्रता ॥ हि० व० 4.22-23

होता है। सम्पूर्ण सृष्टि रच लेने के उपरान्त ही वह उसके लिए उपयुक्त नाम चुनता है। वह जिस नाम का चयन करता है, कृति को उसकी समीक्षा का सूत्र माना जा सकता है। काव्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की व्यंजना वह इसी सूत्र में प्रदान करने की आकांक्षा रखता है। वह न केवल अपने अभिप्राय को इसमें समेट कर भर देता है, वरन वह समीक्षकों के लिए अध्ययन दिशा का संकेत भी कर देता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि कवि की आंख का स्वभाव प्रमुखतः इसी सूत्र में होता है। अतएव शीर्षक के अभिप्राय पर विचार न करना कवि के एक महत्त्वपूर्ण संकेत को छोड़ देना होगा।[1]

अतः नामकरण का व्यंजक और सार्थक होना अत्यन्त आवश्यक है। 'यदि उसमें घटनाओं का पूर्ण समाहार नहीं होता, तो सिद्ध है कि काव्य के क्षीरघट में पानी पड़ रहा है।[2] अतएव नामकरण की वक्रता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कुन्तक के अनुसार वस्तुओं के वैचित्र्य की बात जाने दो, कथा के चिह्न-रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौंदर्य उत्पन्न कर देता है। कुन्तक ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मुद्राराक्षस' आदि नामकरण का उदाहरण दिया है। दुष्यन्त को चिह्न-स्वरूप अंगूठी से दर्शन से शकुन्तला का अभिज्ञान होता है। अतः इसे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कहा गया। शकुन्तला नाटक की प्राणभूत यही घटना है। इसी प्रकार मुद्राराक्षस शब्द का अर्थ 'मुद्रया परिगृहीतो यत्र' है। तात्पर्य यह है कि इसमें अपनी मुद्राअर्थात् अंगूठी के द्वारा राक्षस पकड़ा गया है। अतएव ये दोनों अभिधान सम्पूर्ण कथा वस्तु को व्यंजित करने के कारण नामकरण वक्रता के उदाहरण हैं।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में यह नामकरण का चत्कार लगभग अप्राप्य है— श्रीकृष्ण गीतावली, गीतावली, कवितावली और दोहावली आदि नामों में कोई भी सौंदर्य परिलक्षित नहीं होता 'वैराग्य संदीपनी' नाम अवश्य संपूर्ण प्रतिपाद्य का संकेत करता है 'विनयपत्रिका' को नामकरण वक्रता का सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। भक्त तुलसीदास अपनी विनय की पत्रिका को भगवान राम तक पहुंचाना चाहता है। उनके राम सम्राटों के भी सम्राट हैं। अतएव उनके दरबार में अर्जी पेश करने का तरीका भी उनकी लोकोत्तर गरिमा के अनुरूप होना चाहिए। तुलसी के सामने मुगल सम्राटों का आदर्श था। शाहंशाह के पास अर्जी पहुंचा देना और उस पर अनुकूल सही करा लेना साधारण काम नहीं था। गैर सिफारिशी अर्जियां प्रायः दाखिल दफ्तर हो जाती थीं। सफलता के लिए मुसाहिबों की सिफारिश आवश्यक थी जो महलसरा (अन्तःपुर) तक अपनी कौशिक कर लेता था

---

1. भगीरथ दीक्षित—कामायनी विमर्श, पृ० 19
2. हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी (प्र० सं०) पृ० 48

उसकी लक्ष्य सिद्धि निश्चित थी। अपने युग की इस पद्धति के आधार पर तुलसी ने यह 'विनयपत्रिका' रची है। वे गणेश, सूर्य, शिव, दुर्गा, गंगा, यमुना और हनुमान तथा लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और जानकी आदि सभी स्तुत्य जनों के प्रति निवेदन करने के पश्चात् महाराज राम के सम्मुख उपस्थित होते हैं। बहुविध विनय के पश्चात् उनका साक्षात् निवेदन है—

विनयपत्रिका दीन की बायु आयु ही बांचो।
हिय हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूंदिय पांचो ॥
(वि० 277.3)

अंततोगत्वा राम की स्वीकृति और हस्ताक्षर का क्रम भी बादशाही है—

मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन रही है।
कलिकालहु नाथ नाम सों परतीति प्रीति एक किंकर की निबही हैं ॥
सकल सभा सुनि ले उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को साहब बांह गही है ॥
बिहंसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूं लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है ॥
(वि० 279)

विनयपत्रिका के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य को इसके नाम से जाना जा सकता है। यह नामकरण वक्रता का सौंदर्य सम्पूर्ण काव्य को अपूर्व विच्छिति प्रदान करता है।

तुलसीदास विनयपत्रिका के नामकरण में अपनी प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय देते हैं।

6. तुल्य कथा वक्रता

कुन्तक ने कथा साम्य में भी वक्रत्व का अनुसंधान किया है। एक ही कथा को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न कवि प्रबन्ध रचना में नूतन कौशल और नयी सिद्धि का चमत्कार दिखला देते है। कुन्तक का कहना है कि एक ही कथा में महाकवियों द्वारा आबद्ध काव्य-वन्ध एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण किसी अमूल्य वक्रता का पोषण करते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ही कथा के आधार पर रचे गए विभिन्न काव्य नाटक आदि ग्रन्थ किसी भी प्रकार की समानता न होते हुए भी कवि कर्म कौशल प्रसूत सौंदर्य से परिपूरित होकर सहृदयों को आह्लादित किया करते हैं। समर्थ कवि एक नयी जीवन दृष्टि और रस बोध लेकर आता है। इससे

---

1. अप्येककक्षया बद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः।
पुष्णन्त्यनर्घामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम् ॥ हि० व० 4.25

उसके प्रबन्ध का अन्य संस्कार हो जाता है। कथा उसके लिए प्रस्वान बिन्दु मात्र होती है। कवि की शक्ति ही मुख्य होती है जिसके द्वारा वह अनन्त रस की सृष्टि करता है।

रचयिता की मौलिकता कोई निःसंग वस्तु नहीं है। कवि शून्य में अपनी रचना नहीं करता है। वह जाली बुनने वाला मकड़ा नहीं; प्रत्युत आत्मा का शिल्पी होता है। अतएव रचना का प्रस्थान बिन्दु वह अपनी परम्परा से उठाता है, किन्तु उसकी मौलिकता उसकी रचना में होती है। कोई भी रचना हूबहू अनुकरण नहीं हो सकती। प्रत्येक कविता, कविता की धारणा में किंचित संशोधन अवश्य उपस्थित करती है। रचयिता की तुलना विधाता से की जा सकती है। जैसा उसे अच्छा लगता है, वैसा ही वह अपने संसार को रच लेता है। कुन्तक यह बात पहले भी कह चुके हैं। कुन्तक ने तुल्य कथा के प्रसंग में भी अन्तर श्लोक में ठीक ही लिखा है कि कथा भाग के समान होने पर भी शरीर में एक जैसे प्राणियों के सदृश अपने-अपने गुणों से काव्य-नाटक आदि प्रबन्ध अलग-अलग प्रतीत होते हैं।[1] इस महत्त्वपूर्ण सौंदर्य शास्त्रीय उद्भावना को कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन से ही ग्रहण किया है। आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्ध-ध्वनि के प्रसंग में यह लिखा हैं कि कवि को इतिवृत्ति-निर्वणा मात्र से आत्म पद लाभ नहीं होता है। काव्य का प्राण तो वह ध्वन्यार्थ है, जिसके माध्यम रूप में कवि के मनोदेश की यात्रा प्रारम्भ होती है। कवि अपने मनोदेश की यात्रा के वस्तुगत प्रतिरूप के रूप में कथा का चयन करता है, पर उसका कथ्य कुछ और ही होता है। यही आनन्दवर्द्धन की प्रवन्ध ध्वनि है। कुन्तक के वस्तुगत विश्लेषण से यही चीज प्रबन्ध कौशल के एक तत्त्व के रूप में उभरी है।

तुलसीदास की प्रबन्ध रचना की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है कि उसने कथा निर्माण की अत्यन्त मौलिक शक्ति का परिचय दिया है। राम की कथा का आधार बड़ा पुराना है। तुलसी से पहले भी इस कथा के आधार पर अनेक ग्रन्थ-काव्य नाटकादि लिखे गए हैं, पर उनके राम काव्य की जो अनुभूति है, वह कवि की अपनी है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्यों में मानसेतर घटना-क्रमों को भी स्थान मिला है। कवि को अपने उद्देश्य और काव्यरूप की दृष्टि से इस प्रकार का परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता है। उन्होंने अपनी व्यापक दृष्टि, व्यापक जीवनानुभव और व्यापक अध्ययन के आधार पर, कथा बन्ध की आत्मा का परिष्कार किया है। उनके ब्रजभाषा काव्य तुल्यकथा वक्रता के सुन्दर उदाहरण हैं। विनयपत्रिका

---

1. कथोन्मेष समानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः।
   प्रबन्धा प्राणिनः इव प्रभासत्ते पृथक्-पृथक्॥

   हि० व० अन्तरश्लोक पृ० 539

के वर्ण्य विषय से स्पष्ट है कि यह पत्रिका भौतिक नहीं है, आध्यात्मिक है, व्यक्ति देश और काल की सीमा के परे है। विभिन्न पदों में तुलसी ने अपने जिस दैन्य एव जिन कमजोरियों का वर्णन किया है। वे भवचक्र में पड़े हुए सभी देशों तथा सभी कालों के जीवमात्र की कमजोरियां हैं। अत: तुलसी की यह कृति व्यक्तिगत अनुभूति तक सीमित न होकर क्रांतदर्शी कवि द्वारा साक्षात्कृत लोकमानस की समष्टि परक अभिव्यक्ति है। थह कथा तुलसी की अपनी मौलिक योजना है। इसका आधार अवश्य बादशाही दरबार में अरजी पेश करने का तौर-तरीका है, पर अनुभूतियां तुलसी की हैं। इस प्रकार की योजना तुलसी की अपनी भव्य गरिमा को प्रदर्शित करती हैं। गीतावली में वर्णित राम कथा का परिधि अन्य राम-कथाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है। शुक-सारिका-संवाद, सीता-मुद्रिका संवाद, माता, भाई कुबेर और शिव की अनुमति से विभीषण का राम की शरण में जाना, सीता-वनवास और लवकुश चरित आदि ऐसे प्रसंग हैं जो तुलसी की अन्य राम-कथाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इस तरह यह तुल्य कथा वक्रता सुन्दर उदाहरण बन पड़ी है। कवितावली में भी कुछ प्रसंगों की नवीन योजना की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामकथा का आधार पूर्णतः ऐतिहासिक एवं पारंपरिक होते हुए भी तुलसी ने अपनी विभिन्न रचनाओं में परिवर्तन करके उन्हें सहृदयाह्लादकारी बना दिया है। उन्होंने तुल्य कथा वक्रता का अपने प्रबन्ध विधान में सम्यक् प्रयोग किया है।

प्रबन्ध शिल्प की अछूती दिशाएं

यह ध्यातव्य है कि तुलसी के साहित्य में प्रबन्धात्मक शिल्प की सर्वथा नयी परम्परा की स्थापना दिखाई देती है, न कि किसी पुरानी परम्परा का प्रसार। तुलसी की सभी रचनाओं को कुन्तक या मम्मट के आधार पर रेखांकित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक रचनात्मक आन्दोलन का अपना सत्व होता है, वही उसे परम्परा से पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करता है। तुलसी के समय में धार्मिक समस्याओं की विषमताओं में पढ़कर जनता पिस रही थी। स्वयं तुलसी दुःखी थे। ऐसी परिस्थिति में अभिव्यक्ति केवल अपनी न रहकर समष्टि की हो गई। तुलसी की वैयक्तिक भावना को समष्टि की अवस्था से समन्वय करना पड़ा। मन जीव इत्यादि को संकेत कर जितने पद कहे गये हैं, वे सब इसी मनोवृत्ति के द्योतक हैं। वहां आलम्बन केवल तुलसी का मन नहीं सारे समाज का प्रतिनिधि मन है। मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर बाह्य जगत् उतना महत्त्वपूर्ण नही होता, जितना अन्तः जगत। कवि अपने पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर लेता है। तुलसी की विनयपत्रिका का कलेवर भले ही बाह्य जगत् का हो, पर उसका सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार तुलसी के अन्त: जगत को उद्घाटित करता है। तुलसी ने यहां पर सूक्ष्म

धड़कनों को पकड़ने का सफल प्रयास किया है। कथा बन्ध का स्थान भी भावबंध ने ले लिया है। सभी पद भावात्मक हैं। घटनाएं जब मानसिक बन जाती हैं तो उनमें शक्ति का एक अजस्र स्रोत फूट पड़ता है। भारतीय कविता ने तुलसी की विनयपत्रिका में एक नई विभा का स्पर्श किया है। तुलसी का मन विक्षुब्ध है, वह इधर-उधर भाग रहा है। दूर उसे राम रूपी मणिदीप प्रकाश दिखलाने के लिए चमक रहा है। वहां तक पहुंचना भी एक दुष्कर कार्य है। उसमें अदम्य उत्साह है और धैर्य है। एक के बाद एक पड़ाव पार, करता हुआ वह वहां तक पहुंचने में, राम के द्वारा अपनाए जाने में सफल हो जाता है। यह सम्पूर्ण क्रिया व्यापार मनोविज्ञान की सुदृढ़ भित्ति पर आधृत है। प्रबन्ध कौशल की एक नई दिशा है। घटनाएं मन में घटित होती हैं, पर कवि का वर्णन चातुर्य ऐसा है कि लगता है जैसे घटना प्रत्यक्ष घटित हो रही है। तुलसी के वर्णन इतने सक्षम हैं कि सहृदयों को उन घटनाओं का मानसिक प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। विनयपत्रिका में शिव के चित्र सहृदय की आंखों के सम्मुख प्रत्यक्षमाण हो उठते हैं।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ काव्य हैं। इनके प्रबन्ध शिल्प की रचना मम्मट भट्ट या बिश्वनाथ महापात्र के लक्षणों के आधार पर नहीं हुई है। प्रतिभा की कोई भी निर्मिति अनुकरण के आधार पर नहीं होती है। प्रतिभा भी नियमों के अनुशासित होती है, पर उसके नियम स्वयं से उपजे हुए होते हैं। वे बाहर से आयातित नहीं होते। वे अपने प्रतिमान स्वयं होते हैं। सुन्दर रचना रीतिमुक्त प्रतिभा से निःसृत होती है। जो आलोचक अनुशासन को ही एक-माण प्रमास मानकर चलता है, वह इस मुक्तता का आस्वाद नहीं ले पाता है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य से बढ़कर इस बात का और कोई प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ और महान कविता का कोई राज मार्ग नहीं होता है। जो भी कवि इस शिखर तक पहुंचना चाहेगा, उसे रास्ता स्वयं बनाना पड़ेगा। तुलसी का काव्य एक ऐसा काव्य है जिसमें निर्माण सम्बन्धी जितनी नयी दिशाएं मिलती हैं, उतनी हिन्दी के किसी भी काव्य में नहीं। तुलसी ने रामकथा के निर्माण में जिस विलक्षणता का परिचय दिया है वह उसें भारतीय कविता के इतिहास में बहुत ऊंची प्रतिष्ठा का अधिकारी बना देता है।

तुलसी के ब्रजभाषा काव्य का कवित्व महत्त्वपूर्ण है। इन रचनाओं में संवेगों और अन्विति की एकतानता है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्यों की प्रबन्धशिल्प की सार्थकता और महत्ता स्वतः ही प्रमाणित है।

उपसंहार

तुलसीदास मध्ययुग के कीर्ति पुरुष हैं। वे निसर्ग प्रतिभा वाले क्रान्तिदर्शी कवि हैं। वे काव्य स्रष्टा एवं जीवन दृष्टा हैं। उनके गौरव ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के महाई रत्न हैं। उनके काव्य में सौन्दर्य और मंगल का, प्रेय और श्रेय का कवित्व और दर्शन का असाधारण सामंजस्य प्राप्य है। उन्होंने अपने काव्य का विषय उदात्त राम भक्ति चुना। राम हमारे जीवन जगत के कण-कण में व्याप्त हैं। इस उदात्त विषय का उदात्त एवं प्रभावोत्पादक वर्णन करने की क्षमता तुलसी में ही है। वह अपने युग का प्रवर्तक कवि है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य के अनेक लक्षणों का विवेचन हुआ है। किसी भी दृष्टि से देखें, उनका काव्य अनुपम है पाश्चात्य आलोचना के निकष पर भी उनका काव्य खरा उतरता है। रस की दृष्टि से, अलकार की दृष्टि से, वक्रोक्ति की दृष्टि से, उदात्त तत्त्व की दृष्टि से, अभिव्यंजना की दृष्टि से उनका काव्य सर्वोपरि है। इसका कारण है तुलसी की मेघावी प्रतिभा, व्यापक जीवनानुभव, सही वस्तु को चुनने के लिए उनके प्रातिभ-नयन तथा प्राचीन काव्यों-दर्शनों का गहन अध्ययन। वे काव्यकर्त्ता युग कवि हैं। उवकी कविता देशकाल के परिच्छेद से युक्त है। वे विश्व कवि हैं। विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं में उनके काव्य का अनुवाद और उस पर अनुसंधान, इसका स्पष्ट प्रमाण है।

इस शोध-प्रबन्ध में तुलसीदास के वक्रोक्ति विषयक अध्ययन को ब्रजभाषा काव्य तक ही सीमित रखा गया है। यह तुलसी की विलक्षणता है कि उन्हें अवधी भाषा और ब्रजभाषा दोनों पर ही समान अधिकार है और प्रसिद्ध रामचरित मानस की रचना अवधी में हुई है तो भारतीय काव्य परम्परा के गौरव ग्रन्थों—विनयपत्रिका, गीतावली तथा कवितावली की रचना ब्रजभाषा में। उनका ब्रज-भाषा काव्य, भाषा शास्त्रीय तथा काव्य शास्त्रीय दृष्टियों से हिन्दी साहित्य का समृद्धतम काव्य है।

इस शोध-प्रबन्ध में वक्रोक्ति के स्वरूप और विकास तथा वक्रोक्ति के परि-प्रेक्ष्य में विभिन्न काव्यांगों, तथा विभिन्न भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों

का तुलनात्मक विवेचन, तुलसी के ब्रजभाषा-काव्य-सौंदर्य के अध्ययन की आधार-भूमि है। यह कितनी विलक्षण बात है कि मेघावी कवि किसी शास्त्र विशेष के आधार पर रचना नही करता, पर जब आलोचक किसी विशिष्ट पद्धति पर उसके काव्य का अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त होता है तो वह उसे वहां पर अपनी आलोचना पद्धति के अनुसार भी समृद्धतम पाता है। यही बात तुलसी के विषय में भी कही जा सकती है। तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में वक्रोक्ति के सभी उपजीव्य तत्त्व प्राप्य हैं। उनकी कृतियों में भी काव्यशास्त्रीय विचार उपलब्ध हैं। उन्होंने कवि-कौशल का मूलाधार भावपक्ष और शिल्प सौंदर्य का समवेत संयोजन माना है। वक्रोक्ति तो कवि-कौशल को सर्वोपरि मानती ही है। शब्द और अर्थ की उपयोगिता का सुष्ठु विवेचन-वर्णानामर्थसंधानां रसनां छन्द-समाधि में प्राप्य है। यहां अर्थसंधाना से स्पष्ट है कि अर्थ केवल वाच्यार्थ के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता, अपितु लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी इसकी परिधि में आते हैं। तुलसी के काव्य में वक्रोक्ति के लिए 'अवरेब' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह इस बात का परिचायक है कि वक्रोक्ति की महिमा से अनभिज्ञ नहीं हैं। इस प्रसिद्ध पंक्ति—'घुनि, अवरेब, कवित्त, गुन जाती। मीन मनोहर से बहु भांती में वक्रोक्ति को मीन कहकर उसे कविता के भीतर आन्तरिक स्थान दिया गया है। मीन की यह भी व्यंजना है कि जैसे मछली तालाब में गति पैदा करती है, तालाब के जल के अनेक दोषों कों दूर करती है, उसी तरह वक्रोक्ति कविता में गति पैदा करती है तथा इतिवृत्तात्मकता उपदेश-प्रधानता, नीरसता, कवि व्यक्तित्व शून्यता आदि दोषों को दूर करती है। तुलसी के काव्य में काव्य शास्त्र के सभी विरल तत्व यत्र-त्रत्र बिखरे पड़े हैं।

तुलसीदास के ब्रजभाषा काव्य में वक्रता का सौंदर्य अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में विद्यमान है। वर्ण-विन्यास की मनोहारी छटा द्रष्टव्य है। यह सुन्दर 'वर्ण-प्रयोग' चाक्षुष सौंदर्य तो प्रदान करता ही है, संगीत की सृष्टि भी करता है। वर्णों का अनुरणनात्मक प्रयोग नादसौंदर्य की सृष्टि करके सहृदय की चित्तवृत्तियों को द्रवीभूत करने की क्षमता रखता है। पद पूर्वार्ध और पद परार्ध के वक्र प्रयोग तुलसी के ब्रजभाषा काव्य में सर्वत्र विद्यमान हैं। यह निश्चित है कि विवक्षित अर्थ का बोध किसी एक ही शब्द से होता है अतः भाव-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए सही पदों का चयन, कवि की प्रतिभा द्योतक होना है। तुलसी इस कौशल के धनी हैं। उन्होंने सर्वत्र सही शब्द का ही प्रयोग किया है। पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध के कुन्तक निरूपित सभीं भेदों प्रभेदों का तुलसी में प्रयौग मिलता है। इन पदों के वक्र प्रयोग से तुलसी का काव्य सौंदर्य छलका-छलका सा पड़ता है। व्याकरणिक कोटियां मेघावी कवि के कुशक प्रयोग के द्वारा काव्य में काव्यात्मक कोटियां बन जाया करती हैं। इस बात की सत्यता के लिए तुलसी के ब्रजभाषा काव्य को प्रमाण रूप में रखा जा सकता है।

वस्तु-वक्रता का जितना सुन्दर प्रयोग तुलसीं के ब्रजभाषा काव्य में मिलती है, उतना हिन्दी के किसी भीं काव्य में मिलना दुर्लभ है। तुलसी के काव्य में स्वाभावोक्ति के रमणीय उदाहरण तो मिलते ही हैं, अलंकारों की दृष्टि से भी यह काव्य अति समृद्ध है। भावाभिव्यंजना और रसोद्रेक की दृष्टि से तुलसी का ब्रज भाषा काव्य अप्रतिम है। उन्हें जीवन का व्यापक अनुभव था, इसीलिए वे अपने काव्य में विभिन्न भावों, परिस्थितियों तथा पात्रों का चित्रण सफलतापूर्वक कर सके हैं। देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी और प्रकृति के रम्य प्रयोग उनके ब्रजभाषा काव्य में विद्यमान हैं। प्रकृति के आलम्बन रूप—तथा मानवीकृत रूप वर्णन हिन्दी साहित्य की धरोहर हैं। आचार्य कुन्तक वस्तु-वक्रता के सम्बन्ध में जो उद्भावनाए करते हैं, वे सब यहां प्राप्य हैं। कवि वस्तु का विभिन्न प्रकार से बर्णन करता है। काव्य बन्ध एक होते हुए भी वह अपने अनुसार उस कथा को ढाल कर अपनी बात कह लेता है, यह बात तुलसी के विषय में सर्वथा सत्य है। तुलसी के प्रकरण और प्रबन्ध से सम्बन्धित वक्र प्रयोग भी अनुपम है।

कहना न होगा कि तुलसी का काव्य वक्रोक्ति की दृष्टि से भी समृद्धतम काव्य है। तुलसीदास निर्विवाद रूप से विश्व कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं।

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-तालिका

(क) संस्कृत

1. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग : सं० तथा अनु० रामलाल वर्मा शास्त्री, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली, 1959 ई०
2. अथर्ववेद-संहित : श्रीमती परोपकारिणी सभा प्रकाशित, अजमेर सप्तमावृत्ति.
3. अमरुशतक : व्याख्याकार डॉ० विद्यानिवास मिश्र, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, प्र० सं० 1965 ई०
4. अलंकार-विमर्शिनी : रुय्यक्, टीकाकार जयरथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1939 ई०
5. अलंकार सर्वस्व : रुय्यक, सं० कु० एस० एस० जानकी मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली-6 1965 ई०
6. अष्टाध्यायी प्रकाशिका : पाणिनि, व्याख्याकार आ० श्री ब्रह्मदत्त, सं० युधिष्ठिर मीमांसक, देवप्रकाश पातंजल शास्त्री-1, जवाहर नगर, दिल्ली, सं० 2012 वि०
7. ऋग्वेद : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1932 ई०
8. औचित्यविचार चर्चा : आ० क्षेमेन्द्र, अनु० चौधरी श्री नारायण सिंह, हरिहर प्रकाशन, राष्ट्रभाषा विद्यालय, रामनगर, वाराणसी सं० 2017 वि०
9. कठोपनिषद् : (सानुवाद शंकर भाष्य सहित)—गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वि० सं० सं० 1992 वि०

10. काठक संकलनम् : संकलयिता डॉ० सूर्यकान्त , मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत बुक डिपो, लाहौर इण्डिया, सन् 1943 ई०
11. कादम्बरी (पूर्वभाग) : बाणट्ट, टी० रामतेज शास्त्री पंडित, पुस्तकालय काशी, सन् 1959 ई०
12. काव्यप्रकाश : मम्मट, व्या० आ० विश्वेश्वर, ज्ञानमंडल, वाराणसी, 1960 ई०
13. काव्य मीमांसा : राजशेखर, सं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, प्र० स० सं० 2011 वि०
14. काव्यानुशासन : हेमेन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, वम्बई, सन् 1934 ई०
15. काव्यालंकार : भामह, भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1962 ई०
16. काव्यालंकार : रुद्रट, व्याख्याकार रामदेव शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण, संवत् 2013 वि०
17. काव्यालंकार : रुद्रट, व्याख्याकार डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, 1965 ई०
18. काव्यालंकार : सार संग्रह एवं लघु-वृत्ति की व्याख्या-उद्भट व्याख्याकार डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण सन् 1966 ई०
19. काव्यालंकार सूत्राणि : व्याख्याकार डॉ० बेचन झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण, संवत् 2028 वि०
20. कुमारसम्भव : सं० पंडित कान्तानाथ शास्त्री तेलंग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी चतुर्थ संस्करण
21. चन्द्रलोक : जयदेव, व्याख्याकार जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, सं० 2007 वि०
22. नाट्यशास्त्र : भरत, टीकाकार अभिनवगुप्त, सं० वी० भट्टाचार्य, षोडशो अध्याय, गायकवाड़ ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1934 ई०
23. बृहत्जातक सटीक : टीकाकार रामरतन अवस्थी, धन्नालाल भार्गव, तेजकुमार प्रेस, बुकडिपो लखनऊ, सन् 1852 ई०
24. महाभारत (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड) : अनुवादक पं. रामनारायणदत्त शास्त्री पांडेय गीताप्रेस, गोरखपुर

25. मेघदूत : संपादक डॉ० संसारचन्द्र तथा मोहनदेव पंत शास्त्री, मोतीलाल बनारसीरास, बंगलो रोड, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण, सन् 1962 ई०

26. रसगंगाधर : व्याख्याकार पं० बद्रीनाथ झा एवं पं० श्री मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, चौक बनारस, द्वितीय संस्करण, सं० 2020 वि०

27. राजनिघण्टु संहितौ धन्वतरीय निघण्टु : संपादक विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रय मुद्रणालये, वामसाक्षरेर्मुद्रयित्वा प्रकाशितम्, द्वि० सं० 1925 ई०

28. रामायण (अयोध्याकाण्ड) : बाल्मीकि, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, संवत् 2017 वि०

29. वर्णबीज प्रकाश : लेखक श्री सरयू प्रसाद शर्मा, क्षेमराज, श्रीकृष्णदास श्रेष्टिना, मुम्बय्यां, खेतावाड़ी, श्री वेंकटेश्वर स्टीम, संवत् 1968 ई०

30. वासवदत्ता : सुवन्धु, टीकाकार श्री शंकरदेव शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1954 ई०

31. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी : भट्टोजी दीक्षित विरचित, बाल मनोरमा टीका, मोतीलाल बनारसीदास 1941 ई.

32. श्वेताश्वतरोपनिषद् : सं० भीमसेन शर्मा, ब्रह्मा प्रेस इटावा, द्वि० सं० सन् 1916 ई०

33. शतपथ ब्राह्मण : वैदिक मंत्रालय, अजमेर, संवत् 1959 वि०

34. शृंगार प्रकाश : सं० जी० आर० जोशयर, प्रथम भाग, संस्कृत ग्रन्थ प्रकटन, विश्वसंस्थाया अध्यक्षेण गामठं रामानुज ज्योतिषिकेण, सन् 1955 ई०

35. सरस्वती कण्ठाभरण : भोज, सं० पं० केदारनाथ शर्मा और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् 1934 ई०

36. सर्वतंत्रपदार्थ सिद्धांतपदार्थ लक्षण संग्रह : संग्रहकर्त्ता भिक्षु गौरीशंकर, 'भार्गवभूषण' मुद्राणालये मुद्रापयित्वा प्रकाशिता, षष्ठ सं०, सं० 2006 वि०

37. हिन्दी काव्यप्रकाश : मम्मट हिन्दी व्याख्याकार आ० विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल, वाराणसी 1960 ई०

38. हिन्दी काव्यप्रकाश : मम्मट: व्याख्याकार सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्या भवन, बनारस, 1955 ई०
39. हिन्दी काव्यदर्श : दण्डी, अनु० आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या-भवन, बाराणसी 1958 ई०
40. हिन्दी काव्यमीमांसा : राजशेखर, व्याख्याकार गंगासागर राय चौखंबा विद्याभवन, वाराणणी-1, प्रथम संस्करण, संवत् 2021 वि०
41. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र : आचार्य वामन, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1954 ई०
42. हिन्दी ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1952 ई०
43. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित : राजानक कुन्तक, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्लीं संवत् 2012 वि०
44. हिन्दी व्यक्तिविवेक : महिम भट्ट, भाष्यकार पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा, वाराणसी, सन् 1964 ई०
45. हिन्दी साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963-64 ई०
46. हिन्दी हर्षचरित : बाणभट्ट, व्याख्याकार श्री जगन्नाथ पाटक, चौखम्बा वाराणसी, सन् 1972

हिन्दी

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनु० नगेन्द्र, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं० 2023
2. अलंकार रीति और वक्रोक्ति, सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, 1973
3. काव्य प्रदीप, रामविहरी शुक्ल, हिन्दी भवन जालन्धर, और इलाहाबाद 1964
4. काव्य में अप्रस्तुत योजना : रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय पटना, सं० 2005
5. काव्य में अभिव्यंजनावाद : लक्ष्मी नारायण सुधांशु, ज्ञानपीठ प्रा० लि० सं० 2016
6. काव्य में उदात्त तत्त्व : लोंगिनुस, अनु० नगेन्द्र, नेमिचन्द्र जैन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1058

7. गीतावली विमर्श : रमेशचन्द्र मिश्र, नवनीत प्रकाशन, दिल्ली
8. गोस्वामी तुलसीदास, रामदत्त भारद्वाज, भारती साहित्य मन्दिर, फब्बारा, दिल्ली, 1962
9. टिलियर्ड का वक्रोक्ति सिद्धान्त : मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ, पुस्तक संस्थान नेहरूनगर, कानपुर, 1975
10. तुलसीदास का प्रगीत काव्य : विनयकुमार, ओरियन्टल बुक डिपो, दिल्ली
11. तुलसी काव्यमीमांसा : उदयभानु सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1966
12. तुलसी की काव्यकला : भगवती सिंह, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, सं० 2001
13. तुलसी की भाषा : जनार्दन सिंह, साहित्य संस्थान कानपुर, 1976
14. तुलसी की भाषा : देवकीनन्दन श्रीवास्तव, लखनऊ वि० विद्यालय
15. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत : वचनदेव कुमार, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली
16. तुलसी साहित्य में बिम्बयोजना, सुशीला शर्मा, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली, 1972
17. तुलसीदास और उनके काव्य : रामदत्त भारद्वाज, सूर्यप्रकाशन, दिल्ली
18. पल्लव-सुमित्रानंदन पंत : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, षष्ठ संस्करण
19. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा : सावित्री सिंहा, दिल्ली, विश्वविद्यालय दिल्ली
20. पाश्चात्य काव्य शास्त्र का इतिहास : तारकनाथ वाली, मैकमिलन कम्पनी, 1974
21. प्लेटो के काव्य सिद्धान्त-निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1965
22. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
23. भारतीय काव्यांग : सत्यदेव चौधरी, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, 1959
24. भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1978
25. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति : मदन मोहन गुप्त, नेशपब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968

26. मानस की रामकथा : परशुराम चतुर्वेदी—किताब महल, इलाहाबाद
27. रामकाव्य की भूमिका : जगदीश प्रसाद शर्मा, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर 1967
28. रीतिकाल की भूमिका : नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो, दिल्ली, 1962
29. रसमीमांसा : सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2017
30. वक्रोक्ति सिद्धान्त और छायावाद : विजेन्द्र नारायण सिंह परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
31. सौंदर्यशास्त्र : हरद्वारीलाल शर्मा : साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद 1953
32. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर : रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2014
33. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति : संसारचन्द्र, राजकमल प्रकाशन, 1960
34. हिन्दी पदपरम्परा और तुलसीदास : रामचन्द्र मिश्र, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1962
35. हिन्दी व्याकरण : कामताप्रसाद गुरु, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2027
36. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा : ज० म० दीपिशि, राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, दिल्ली, 1966
37. हिन्दी साहित्यकोश भाग-1, ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी, सं० 2020

तुलसी-साहित्य

1. कवितावली हिन्दी अनुवाद सहित, अनु० इन्द्रदेव नारायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2038
2. कवितावली, सम्पादक सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973
3. गीतावली : गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2023
4. जानकीमंगल : गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2036
5. दोहावली : अनुवाद हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2038
6. बरवै रामायण : अनुवाद श्री सुदर्शन सिंह, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2032

7. रामाज्ञा प्रश्न : अनुवाद श्री सुदर्शन सिंह, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2037
8. विनयपत्रिका : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2037
9. विनयपत्रिका, वियोगी हरि, साहित्य सेवा सदन वाराणसी
10. वैराग्यसंदीपनी : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2032
11. हनुमान बाहुक : टीकाकार महवीरप्रसाद मालवीय, गीताप्रेस, गोरखपुर संवत् 2039
12. श्रीकृष्ण गीतावली : अनुवाद हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2033
13 श्रीरामचरितमानस : टीकाकार हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2036